सहजानंद शास्त्रमाला

नियमसार प्रवचन

प्रथम भाग

(जीव अधिकार)

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर,इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक **'नियमसार प्रवचन प्रथम भाग'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यावहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें गाथा 1 से गाथा 19 तक के प्रवचन प्रस्तुत हैं ।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे । इसी ग्रन्थ की PDF फाइल http://is.gd/varniji पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री **सुरेशजी पांड्या**, इन्दौर के हस्ते गुप्तदान रु. 2100/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती प्रीति जैन, इन्दौर** एवं प्रूफिंग करने हेतु **श्री सुरेशजी पांड्या, तिलकनगर, इन्दौर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा
53, मल्हारगंज मेनरोड़
इन्दौर (म०प्र०)
Phone-0731-2410880, 9753414796
Email-vikasnd@gmail.com
www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी‘‘सहजानन्द’’ महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।
मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।
सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।
होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, ’सहजानन्द’ रहूँ अभिराम।।
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।
हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०।।१।।
हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।२।।
आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।३।।

Contents

प्रकाशकीय 2

गाथा 1 5

गाथा 2 21

गाथा 3 26

गाथा 4 33

गाथा 5 35

गाथा 6 38

गाथा 7 57

गाथा 8 62

गाथा 9 71

गाथा 10 85

गाथा 11 - 12 89

गाथा 13 113

गाथा 14 116

गाथा 15 125

गाथा 16-17 131

गाथा 18 141

गाथा 19 147

नियमसार प्रवचन प्रथम भाग

[प्रवक्ता:—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री 105 क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज]

गाथा 1

णमिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाणदंसणसहावं।
वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलीभणिदं।।1।।

अनन्त उत्तम ज्ञानदर्शन स्वभाव वाले वीर जिनेन्द्र को नमस्कार करके केवली और श्रुतकेवली के द्वारा कहे इस नियमसार का वर्णन करूँगा।

नियमसार का संक्षिप्त परिचय—यह नियमसार नामक एक ग्रन्थ है, अब इसका प्रारम्भ हो रहा है। नियमसार ग्रन्थ में पहिले पढ़े गए परमात्मप्रकाश के विषय की भांति एक सहजस्वभाव का वर्णन किया गया है। इसमें चरणानुयोग का भी निश्चयदृष्टि से वर्णन करते हुए उसी ज्ञायकस्वभाव के आलम्बन पर बल दिया गया है। इसमें मोक्षमार्ग का वर्णन है। अनादिकाल से भटकते हुए चले आए इन प्राणियों को कैसे मोक्षमार्ग मिले ? उसका मौलिक अमोघ उपाय इस ग्रन्थ में बताया गया है।

वीर जिनेन्द्रदेव को प्रणमन—इस ग्रन्थ के आदि में इसके रचयिता श्री कुन्दकुन्ददेव मंगलाचरण में जिनेन्द्र वीर को नमस्कार कर रहे हैं। आज के समय जिनेन्द्र वीर का शासन चल रहा है और जब तक भी यह धर्मपरम्परा रहेगी, वीर प्रभु का शासन कहा जाएगा। जैसे ऋषभदेव के निर्वाण के बाद अजितनाथ स्वामी के तीर्थंकर बनने के पहिले जितना समय था, वह ऋषभदेव का शासन कहलाता था। इसी प्रकार सब तीर्थंकरों का समय है। पार्श्वनाथ भगवान् के तीर्थंकर होने के बाद जब तक वीरप्रभु तीर्थंकर नहीं हुए, तब तक पार्श्वनाथ के शासन का समय था। अब जिनेन्द्रवीर के शासन के बाद जितने समय तक धर्मपरम्परा रहेगी (समझ लीजिए पंचमकाल तक) तब तक वीरप्रभु का शासनकाल कहलायेगा। इसी कारण वीरप्रभु की विरदवृत्ति से प्रभावित होकर कुन्दकुन्ददेव ने जिनेन्द्रवीर को नमस्कार किया है।

वीर शब्द का अर्थ—वीर शब्द का अर्थ है–वि ईर, इसमें तीन शब्द हैं। वि का अर्थ है विशिष्ट, ई का अर्थ है लक्ष्मी और र का अर्थ है देने वाला। विशिष्टां ईं राति ददाति इति वीर:। जो विशिष्ट ज्ञान लक्ष्मी को देवे, उसे वीर कहते हैं। लक्ष्मी का नाम है ज्ञानदर्शनस्वभाव का, पर लोकव्यवहार में लोगों ने हजरों लाखों करोड़ों की सम्पदा का लक्ष्मी नाम रख दिया है। चार हाथों से रुपये बरसाती हुई, जिसके दोनों ओर हाथी माला लिए हों या कलशों से भी अभिषेक सा करते हुए ऐसा रुपक भी बनाया, किन्तु लक्ष्मी शब्द में जो अर्थ भरा है, उस अर्थ से भाव निकलता है ज्ञान दर्शन स्वभाव। उसे लक्ष्मी कहो या लक्ष्म कहो, एक ही शब्द है। लक्ष्म शब्द नपुंसक शब्द है, लक्ष्मी शब्द स्त्रीलिंग शब्द है, पर शब्द वही है। लक्ष्म का अर्थ है लक्षण, चिह्न। अपने आपका जो चिह्न है, आत्मा का स्वरूप है प्रतिभास चैतन्यज्ञानदर्शन। इसी प्रकाश का

नाम है लक्ष्मी। ऐसी विशिष्ट लक्ष्मी को जो दे सकते हैं, उसे वीर कहते हैं।

मूलभाव और रूढि—भैया ! पहिले जितने धर्म के पर्व मनाये जाते थे, उन सब पर्वों में कल्याण की पुट रहती थी, किन्तु जैसे-जैसे समय गुजरता गया कि उसका रुपक बिलकुल विलक्षण हो गया है। एक दीवाली त्यौहार को ही लें। दीवाली दो बार मनायी जाती है–सुबह और शाम। अमावस्या के सबेरे व शाम। अमावस्या के सुबह तो वीरप्रभु के निर्वाण होने की दीवाली है और शाम के समय वीरप्रभु के मुख्य गणधर इन्द्रभूति अथवा गौतम उनके केवलज्ञान की दीवाली है। सुबह वीरप्रभु मोक्ष गए और शाम को गौतम गणधर को केवलज्ञान हुआ। कभी-कभी अमावस्या के दिन सुबह 8-9 बजे तक ही अमावस्या रह जाती है और चौदस के दिन दोपहर के बाद या शाम के बाद अमावस्या शुरू हो जाए तो चौदस को रात्रि को लोग दीवाली मना लेते हैं। वे चौदस के भाव से दीवाली नहीं मानते। मानते हैं अमावस के भाव से, किन्तु सन्ध्या को अमावस्या पहिले पड़ गई।

दीवाली का मूलविरुद्ध रुपक—यह दीवाली है ज्ञानलक्ष्मी की दीवाली। अब धीरे-धीरे देखो, आज क्या रुपक बन गया ? उस ज्ञान को तो भूल बैठे और मात्र धन, पैसा, रोकड़ बही, तराजू, बांट, घोड़ा–ये ही सब सजाए जाते हैं और इनको ही पूजा जाता है। बजाज लोग होंगे तो गजों को पूजेंगे, पंसारी पसरट वाले होंगे तो तराजू बांट पूजेंगे। कोई लेखक या मुनीम होंगे तो अपनी कलम दवात पूजेंगे और सेठ साहब अपनी रोकड़ पूजेंगे। क्या से क्या रूपक बन गया ? त्यों–त्यों समय गुजरता गया, उसका असली प्रयोजन भूलते गए और अपने स्वार्थ या मंशा के अनुकूल तत्त्व आने लगे।

रक्षाबन्धन का मूल भाव—रक्षाबन्धन का त्यौहार ले लो। मूल में क्या रूप था ? अकम्पनाचार्य आदि मुनिराजों को उस दिन श्री विष्णु ऋषिराज ने उपद्रव से बचाया था। जब दूसरे दिन लोगों ने उनके आहार के लिए उनके अनुकूल पथ्य भोजन बनाया। उस नगर में बड़ी खुशी छाई थी। जहाँ सात सौ मुनियों का संघ जलाया जा रहा हो और किसी समर्थ महापुरुष के द्वारा उपसर्ग बचा लिया गया हो, उस समय नगरवासियों के हर्ष का क्या ठिकाना है ? हर्ष के मारे सारा नगर उछल रहा था। मुनिराज आये तो उनको भोजन मुख्यता से क्या दिया गया ? जो गले में जल्दी गिल जाय सेवई अथवा पतली खीर।

रक्षाबन्धन का उत्तरकाल में निर्वाह—वह साल तो गुजर गया। अब आया दूसरा साल। तो दूसरे वर्ष उन मुनियों का उपसर्ग हुआ और आहार दें, ऐसा-ऐसा तो न हुआ। वह तो एक दफा हो गया। जब दूसरा वर्ष आया तो उपसर्ग का और उस खुशी का ध्यान तो रहा कुछ, पर उस कार्य को कैसे निभायें ? सो कुछ स्मरण के लिए सूचक कोई बात बनाई। अब और साल गुजरा, रक्षा का तो ध्यान रहा कि रक्षा होनी चाहिए। रक्षा की थी विष्णुकुमार मुनि ने, सो सबकी रक्षा करना अपना भी कर्तव्य है। बड़े महापुरुषों ने यदि बड़ी रक्षा की थी तो अपन छोटी-छोटी रक्षा कर लें। सो जो साधर्मीजन हुए उस समय उनकी रक्षा का सूत्रपात हुआ। फिर और समय गुजरा तो उन व्रती, त्यागी, साधर्मी आदि लोगों का भी ख्याल भूल गए और सोचा कि अपने ही घर में तो बुवा है, बहिनें हैं, गरीब हैं, विधवा हैं, दु:खी हैं इनका ही रक्षण करें। सो उनके रक्षण पर दृष्टि हुई।

रक्षाबन्धन का रूढिरूप—फिर कैसा क्या हुआ, हम इतिहास के जानने वाले तो नहीं है, पर अंदाज से

बात बतला रहे हैं। धीरे-धीरे असली बातों का लोप हुआ और अपने मन माफिक बातें आईं। खैर कुछ दिन यों ही चला। फिर यह हुआ कि चलो बहिन, बुआ, विधवायें कोई बाँधे, उन्हें पैसा दें उनकी कुछ मिठाई खावें। वे मिठाई देने लगीं तो लोग उन्हें पैसे देने लगे। फिर चलते-चलते जितनी मिठाई दें उसके अनुपात से लोग पैसे देने लगे। अगर छटांक भर मिठाई धर दी तो उसको मिल जायेगी अठन्नी और अगर 2.50 सेर धर दी तो उसको मिल जायेंगे बीस रुपये। क्या से क्या रूप बिगड़ता चला जाता है ? जो हित की और असली बात है वह तो छिपती चली जाती है। लक्ष्मी शब्द का अर्थ भी यों वैभव हो गया। यह सब समय का काम है।

वीर की विशेषता—प्रभु वर्द्धमान स्वामी का वीर भी नाम है। इस वीर शब्द का अर्थ है जो विशिष्ट ज्ञानलक्ष्मी को देवे। संस्कृत भाषा जानने वाले इसका स्पष्ट अर्थ जानेंगे। वि ईर ऐसे तीन शब्दों से मिलकर वीर बना है। ऐसे वीरप्रभु का इस ग्रन्थ के आदि में स्मरण किया तो विशेषण क्या दिया है कि जो अनन्त उत्तम ज्ञानदर्शन स्वभाव वाला है, जो स्वयं ज्ञान का भण्डार हो उस ही का तो ऐसा निमित्त है कि उससे दूसरे को भी ज्ञान प्राप्त हो। तो प्रभु वीर अनादि अनंत स्वभाव वाला है।

प्रभुस्वरूप का अनुमान—इसके अंदाज के लिये जरा कुछ देर बाहरी विकल्पों को त्यागकर अपने आपके अन्तर की स्वभाव की परख करें–मैं किस रूप हूँ, किसके द्वारा रचा गया हूँ, मेरा क्या आकार प्रकार है। इस ओर दृष्टि दें तो क्या मिलेगा ? अपने आपमें अपनी पकड़ करने के लिए एक ज्ञानदर्शनात्मक चैतन्यस्वभाव है। इसमें स्पर्श है नहीं जो छूकर समझें कि यह मैं आत्मा हूँ। रस है नहीं जो चखकर जाना जाय कि यह आत्मा तो मीठा है और यह आत्मा खट्टा है। कहते तो हैं लोकव्यवहार में ऐसा कि इससे मत भिड़ना, नहीं तो खट्टा खावोगे। यह बड़ा कड़ुआ पुरुष है, यह बहुत मीठे मिजाज का है, पर ये सब रूपक कहे हैं अलंकार में। आत्मा में रस नहीं है जो चखकर जान लिया जाय कि आत्मा कैसा है ? आत्मा में गंध नहीं जो सूँघ लिया जाय कि कैसा गंध है, इसमें रूप नहीं जो नेत्रों से जान लिया जाय कि कैसा रूप है ?

ज्ञान का व्यक्तरूप आनन्द—भैया ! कोई लोग कहते हैं कि जब बड़े ध्यान में बैठते हैं तो भीतर में सफेद उजेले का झक्काटा दीखता है। पर है क्या सफेद ? है क्या सफेद रंग का उजाला जैसा कि बिजली की रोशनी में सूर्य चांद की रोशनी में सफेद उजाला है ? नहीं है। पर जब यह ज्ञान की स्वच्छता जानने के लिए उद्यम करते हैं तब इसे पूर्व स्वच्छता के दिख जाने के नाते कुछ उजाला महसूस करते हैं किन्तु जब ज्ञानस्वरूप अनुभव में आता है तब वहाँ उजाला, झक्काटा नहीं होता, किन्तु अनन्त उत्तम सहज स्वाधीन आनन्द का अनुभव करते हैं। ज्ञान का यदि कुछ रूप माने तो आनन्दरूप तो हो सकता है मगर उजाला, झक्काटा, सफेद आदि रूप यह नहीं हो सकता।

ज्ञानविकास की आनन्दसहभाविता—भैया ! आनन्द उपजाता हुआ यह ज्ञान प्रकट होता है। जैसे एक जगदीशी टीका है वेदांत में, उसमें एक दृष्टांत दिया है कि कोई नई बहू थी। उसके प्रथम बार गर्भ रह गया। बहू बोली सास से कि सासूजी, जब हमारे बच्चा पैदा हो तो हमें जगा देना, ऐसा न हो कि सोते हुए में हो जाय। तो सास उत्तर देती है, कि बेटी घबड़ाओ मत जब बच्चा पैदा होगा तो तुम्हें जगाता हुआ

ही पैदा होगा। तो यह ज्ञान जब प्रकट होता है तो आनन्द को विकसितकर प्रकट होता है। ऐसा वास्तविक ज्ञान कहीं न होगा जो ज्ञान की वृत्ति भी चल रही हो और क्लेश का अनुभव भी कर रहा हो। जहाँ क्लेश है, दु:ख है, शल्य है, चिंता है, विकल्प है वहाँ ज्ञान का विलास नहीं है, वहाँ अज्ञान का विलास है। जहाँ ज्ञान अपने शुद्ध ज्ञान में प्रकट हो रहा है वहाँ शुद्ध आनन्द है।

कुन्दकुन्दाचार्य का परिचय—भगवान् वीर जिनेन्द्र अनन्त श्रेष्ठ ज्ञान दर्शन स्वभाव वाला है, विकास वाला है, ऐसे जिनेन्द्र वीर को नमस्कार करके कुन्दकुन्दाचार्य देव नियमसार ग्रन्थ को कहने का संकल्प करते हैं। ये कुन्दकुन्दाचार्य 12, 13 वर्ष की अवस्था में मुनि हो गए थे, और फिर 10-15 वर्ष के ही बाद उनके समय के समस्त मुनिसंघ ने उन्हें आचार्यपद दिया। पुत्र को बचपन से माता कैसा बना लेती है ? इसका उदाहरण कुन्दकुन्ददेव हैं। जब कुन्दकुन्ददेव बच्चे थे, उनकी माँ पालने में झुलाती थी तो झुलाती हुई माँ क्या गीत गाया करती थी, वह गीत ज्ञान से भरा था–

शुद्धो बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि, संसारमायापरिवर्जितोऽसि।
संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां श्रीकुन्दकुन्दं जननीदमूचे।।

कुन्दकुन्द की माँ कुन्दकुन्द से कह रही है कि हे बालक ! तू शुद्ध है, बुद्ध है, निरञ्जन है, संसार की माया से रहित है, तू संसारस्वप्न को मोह नींद को छोड़।

बाल्य में शुद्धदर्शन—वैसे भी बचपन बड़ा शुद्ध होता है, ज्यों-ज्यों उमर बढ़ती जाती है और विभाव अपना घर बसाते हैं तब यह टेढ़ा बनता है, कुटिल बनता है। किन्तु बालक तो अपने बचपन में सरल और शुद्ध होते हैं लेकिन कुन्दकुन्द की माँ का उस बचपन पर ध्यान नहीं है, किन्तु उसकी आत्मा का ध्यान है। बचपन में मनुष्य के पुण्य ज्यादा होता है क्योंकि पूर्वभव की तपस्या करके नया-नया पुण्य यहाँ आया है। जैसे-जैसे उसकी उमर बढ़ती है उसका पुण्य खराब होता जाता है। मोह बढ़ा, राग बढ़ा, छल-कपट करने लगा, धोखा देने लगा फिर धीरे-धीरे पुण्य खत्म हो जाता है। यहाँ तो कुन्दकुन्द की माँ उनके आत्मस्वरूप को देखकर बोल रही है कि तू शुद्ध है।

बालक की सरलता—एक बाबू साहब एक सेठ के कर्जदार थे। सो बाबूजी ने देखा की सेठ जी आ रहे हैं, हमसे रुपये मांगेंगे। सो अपने लड़के से कह दिया कि तुम चबूतरे पर खेलो–सेठ आयेगा, पूछेगा कि तुम्हारे बाबू कहाँ हैं, तो तुम कह देना कि बाबू साहब बाहर गए हैं। अब वह खेलता रहा चबूतरे पर। सेठजी ने आकर पूछा कि तुम्हारे बाबू घर हैं ना? तो बोला कि बाबू जी बाहर गए। फिर पूछा कि कितने दिनों में आयेंगे ? तो बोला कि ठहरो बाबू जी से पूछकर अभी बतायेंगे। देखो ना, बच्चे की सरलता।

ज्ञानी माता पिता की बालक पर हितदृष्टि—कुन्दकुन्ददेव की माँ पालने में झूलते हुए बच्चे से कह रही है कि तू शुद्ध है, ज्ञायकस्वरूप है, रागद्वेष मोह आदिक से रहित है, ज्ञानस्वरूप है, निरञ्जन हे, तू कर्ममल अंजन से परे है, विभाव तुझसे परे है। तू संसार के स्वप्न को, मोह की नींद को तोड़। हितकारिणी माँ थीं वह। नहीं तो माँ यों कहती कि तू बड़ा हो, राजा हो, विवाह कर, ऐसे गीत गाती। पर यह तो बड़े पुरुषों की अलौकिक बात है। उनको जब बालक पर प्रेम उमड़ेगा तो यों उमड़ेगा कि यह सम्यग्ज्ञानी बने, सम्यग्दृष्टि हो, अपने आपका कल्याण करे। ऐसी उत्तम भावना होती है। पिता रक्षक का नाम है। पाति इति

पिता, जो रक्षा करे उसे पिता कहते हैं। जीव की रक्षा ज्ञान से है। धन कितना ही जोड़कर रख जाओ, मगर वह अज्ञान में है तो अधीर रहेगा, विह्वल रहेगा और संकट घिर जायेंगे। इस कारण वास्तव में वही पिता का नाता निभाता है जो अपने बालक को मोक्षमार्ग की विद्या सिखाने में लगाता है।

कुन्दकुन्दाचार्य का संकल्प—ऐसे कुन्दकुन्ददेव कुमार अवस्था में साधु हुए। शास्त्रों का उन्होंने अध्ययन किया। गुरुपरम्परा से गुरुचरणों में रहकर अध्यात्मविद्या का मर्म जाना। बड़ी युक्तियों में वे बड़े कुशल थे। ऐसे योगी कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि केवली भगवान् और श्रुतकेवली भगवान् ने जो कहा है ऐसे मोक्ष और मोक्षमार्गरूप इस नियमसार को मैं कहूँगा।

आगमोपदेश की परम्परा—इस नियमसार ग्रन्थ में जो कुछ तत्त्व बताया जायेगा वह केवली भगवान् और श्रुतकेवली के द्वारा प्रणीत है। इसका मूलकर्ता तो केवली भगवान् है अर्थात् वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी अरहंत भगवान् की जो दिव्यध्वनि खिरती है वह दिव्यध्वनि समस्त आगमों का मूल कारण है। उस दिव्यध्वनि को सुनकर गणधरदेव द्वादशांग अंग बाह्यरूप आगम की रचना करते हैं। फिर उन श्रुतदेवता की परम्परा से आचार्य उसका व्याख्यान करते हैं। इन आचार्यों के व्याख्यान की परम्परा से आज जो कुछ आगम हमारे आपके सामने है वह उस मूल परम्परा से है।

दूषित वचनों की अप्रतिष्ठा—यद्यपि बीच में कुछ लोगों ने कुछ संस्कृत श्लोक भी रचकर या फिर थोड़ा मिला जुलाकर रचना भी कर दी है किन्तु सांचे रत्नों में जैसे खोटे रत्न कब तक चल सकेंगे ? प्रथम ही वह पारखी उन खोटे रत्नों को अलग बता देगा। मान लो एक पारखी न कर सका तो दूसरा पारखी उसे अलगकर दिखायेगा। रह नहीं सकता है खोटा रत्न असली में मिलकर, असली बनकर। इसी प्रकार जो रागपूर्ण वचन हैं, तत्त्वविरुद्ध वचन हैं वे किन्हीं पुरुषों के द्वारा आगम में मिला भी दिये जायें तो भी टिक नहीं सकते हैं। पारखीजन उन्हें पहिचानते हैं और विनाशीक जानकर उन्हें अलग कर देते हैं।

प्रयोजनभूतविषय में सदोष व निर्दोष वचन के परिचय की सुगमता—प्रयोजनभूत तत्त्व के सम्बन्ध में सदोष और निर्दोष वचन का जानना बहुत कठिन नहीं है। जिन वचनों से स्वभाव पर दृष्टि जाय, रागद्वेष मोह दूर करने की शिक्षा मिले वे वचन प्रमाणीक हैं और जो रागद्वेष मोह को धर्म बतायें, कुपथ पर ले जाने की प्रेरणा करें वे वचन एकदम मालूम ही पड़ जाते हैं कि ये सदोष हैं। सदोष वचन आगम में कब तक टिक सकेंगे ? उन्हें पारखी अलग कर देते हैं। यह निर्दोष व्याख्यानपरम्परा केवली और श्रुतकेवली से चली आयी है। आचार्यदेव यहाँ कह रहे हैं कि हम कपोलकल्पित बात नहीं कर रह हैं, किन्तु जिस बात को केवली की दिव्यध्वनि में बताया गया, श्रुतकेवली के भाषण में बताया है वही तत्त्व बताया जायेगा। कपोलकल्पित बात कदाचित् सत्य भी हो तो भी सुनने वाले को केवल कहने मात्र से प्रमाणिकता नहीं आती। इस कारण आचार्यदेव ने स्वयं ही मंगलाचरण की गाथा में यह कह दिया कि केवली और श्रुतकेवली द्वारा कहे हुए तत्त्व को मैं कहूँगा।

जिनशासन में मार्ग व मार्गफल के कथन की मुख्यता—भैया ! इस नियमसार में मार्ग और मार्गफल बताया जायेगा। जिनशासन में मार्ग और मार्गफल ये दो प्रकार के तत्त्व बताये गए हैं। कौन-सा तो मार्ग चलने योग्य है और उस मार्ग से चलने का क्या उपाय है ? यह जिनेन्द्रशासन में बताया गया है। दूसरी

बात मार्ग का फल बताया है–मार्ग तो है मोक्ष का उपाय। इस अनादि बन्धनबद्ध वैभवदूषित इस आत्मा का संकटों से कैसे छुटकारा हो ? उस उपाय को मार्ग कहते हैं और वह मार्ग मिल जाय तो उस मार्ग से चलने का जो फल रहता है वह है मोक्ष। तो मोक्ष और मोक्ष का उपाय ये दो बातें जिनशासन में बतायी गई है।

मार्ग शब्द का भाव—इस मार्ग शब्द का अर्थ है इष्ट स्थान खोजा जाता है जिसके द्वारा उसे मार्ग कहते हैं। जीव का सर्व अभीष्ट सिद्धजीवन है। यह जीव चिरकाल तक या तो निगोद में रहता है या सिद्ध अवस्था में तो निगोद की कोई सीमा नहीं होती है। चिरकाल तक जीव निगोद में रहता है और चिरकाल तक ही यह जीव मोक्ष में रहता है। मोक्ष की सीमा नहीं है। मोक्ष होने के बाद फिर कभी संसार में भटकना नहीं होगा। निगोद से तो निकलना हो जाता है। निगोद और संसार–इन दो दशाओं को छोड़कर जीव अन्य पद में बहुत काल तक नहीं रहता। उसका पशु-पक्षी जैसा जीवन सदा नहीं रहता। जैसे हम आप मनुष्य हुए वैसा ही वह जीवन सदा न रहेगा।

जीवन का गुजरना—जैसे पर्वत से गिरने वाली नदी का वेग जो बह गया वह वापिस नहीं होता, इसी तरह इस जीवन का समय जितना गुजर गया वह गुजर गया, फिर उसका कुछ भी समय वापिस नहीं आ सकता है। जैसे जिसकी अवस्था 60-65 वर्ष की हो गयी, शरीर में शिथिलता आने लगी, बड़ा धनी है, बड़ा गणी है, बड़ा उसका यश है, खूब प्रतिष्ठा है, समाज में मान्यता भी है, पर वह चाहे कि मेरी उम्र 8 वर्ष के बच्चे की जैसी हो जाय तो नहीं हो सकती। एक साल क्या, एक दिन भी पीछे नहीं हो सकता है। जो समय गुजरा वह गुजर गया। यदि इसी समय में कोई कर्तव्य न कर पाया तो बतलाओ फिर क्या हाथ रहेगा ? कुछ भी हाथ न लगेगा, व्यर्थ ही जीवन खो दिया।

जीवनसमय का दुरुपयोग व सदुपयोग—जीवन व्यर्थ खोने का अर्थ है जीवन को विषयों में, पापों में ही लगा देना। ज्ञान में समय गुजरे, प्रभु के स्मरण में समय गुजरे, अपने आत्मा के एकत्व की ओर उन्मुख हो, इस तरह से समय गुजरे तो वह है जीवन का सदुपयोग। और विषयों के सुख में समय गुजारा–खूब खाते हैं मौज से, बड़ा स्वाद आता है, आनन्द लेते हैं, जो चाहे दृश्य देखते हैं, जो मन में आया उसी रूप को देखते हैं, विषयभोगों के साधन भी सुलभ बना लिए गए हैं, मनमाना विषयों में सुख लूटते हैं, ऐसे अज्ञानी जीव भले ही समझें की हम बड़ी चतुराई का काम करते हैं किन्तु जो इस प्रभु की दशा हो रही है वह दयनीय हो रही है, वे समय का दुरुपयोग कर रहे हैं। यह मनुष्यजीवन बड़ा दुर्लभ है। उसकी दुर्लभता का वर्णन करने में किसी के हजारों जीभ भी हों तो भी वह समर्थ नहीं है।

नरजीवन के श्रेष्ठता का अङ्कन—सारे लोक में दृष्टि पसारकर देख लो, मच्छर फिरते हैं, मेढक मछलियाँ हैं, पशु-पक्षी हैं, चूहा-बिल्ली हैं, कुत्ता-सूकर हैं, कीड़े-मकोड़े हैं, इनकी जिन्दगी निहार लो क्या ऐसा बनना चाहते हो ? मन तो नहीं चाहता होगा। बड़ी तुच्छ दशा है। इन जगत के जीवों की हालत को देखकर अपने आपके जीवन का मूल्य तो समझलो। क्या यह जीवन मोही जीवों के हाथ बेचना है ? जिनमें मोह और राग बढ़ाया है ऐसे घर के लोगों का ही क्या जाप करते रहना है ? धन सम्पदा, वैभव इज्जत क्या ये सदा रह सकते हैं ? इन असार बातों में कुछ भी सार न पाओगे।

विवेक—यह मन केवल दो ही ठिकाने लगाने योग्य है। एक तो वीतराग सर्वज्ञ प्रभु के स्वरूप में और दूसरे अपने आत्मा के स्वभाव में। तीसरी जगह मन नहीं बेचना है। इन दो बातों की सिद्धि के लिए कुछ बोलते हैं, रहते हैं, व्यवहार करते हैं पर समर्पण तो उस चैतन्यस्वरूप को ही मन हो। जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग अवश्य होगा। यह चंद दिनों का समागम है। यह सदा न रहेगा, और जितने दिन रहेगा उतने दिन बेहोश बेवकूफ मोही पापमय बनने का तो कारण होगा, पर पार करने का कारण न होगा। ज्ञानीपुरुष इस संतापपूर्ण जगत के अन्दर भी अपनी सावधानी बनाए रहते हैं।

निरन्तर विशेष सावधानी—किसी के यहाँ मशीन या इंजिनियरिंग का काम हो रहा हो, आप आटा पीसने वाली चक्की के ही पास क्यों न हों ? कैसा संभलकर खड़े होते हैं। थोड़ा किसी ओर झुकाव न हो जाय अन्यथा पट्टे में लिपटकर मृत्यु हो जायेगी। किसी बड़े कारखाने के बीच जहाँ पेंच, पुर्जे अधिक चल रहे हों, कैसी सावधानी आप वहाँ वर्तते हैं, कहीं खत्म न हो जायें। जगह-जगह लिखा है–खतरा। इस लौकिक खतरे से इतनी सावधानी होती है और यह इस प्रभुस्वरूप पर जो बड़ा खतरा हो रहा है, बाह्यपदार्थ रुच जायें, चिंता, विशाद, शल्य, आकांक्षा, निदान घर कर जाय, इतना बड़ा जो उपसर्ग है जिससे दुर्गति होती है, जन्ममरण की परम्परा बढ़ती है, इस खतरे से सावधानी न चाहिए क्या ? क्या ये ही बाह्य जड़ अथवा चेतन परिकर तुम्हारे लिए सब कुछ हैं ? हाँ ठीक है, यदि यह मदद कर सकें तो ठीक है किन्तु ऐसा किसी के नहीं है।

खाली हाथ—भैया ! बहुत अतीत की बात नहीं है। जब सिकन्दर मरने लगा, इतिहास में लिखा है, उसके देश में बड़ा साम्राज्य था। इस परिचित दुनिया में इसका एकछत्र राज्य था। बहुत-बहुत सुख के साधन थे, पर मरने से बचने के लिए उसके पास कोई उपाय न था। उसके अन्तर में यह एक हाय भी थी कि कितना श्रम करके इतना वैभव जोड़ा और आज एकदम छूटा जा रहा है, अब विवेक भी काम कर रहा है, कुछ चिंतन भी काम कर रहा है। उस समय वह लोगों से कहता है कि मेरे मरने के बाद अर्थी निकाली जाय तो मेरे हाथ पसार दिये जायें ताकि लोग देखें कि मरने के बाद यह खाली हाथ जा रहा है।

सर्वदा शून्य—भैया ! मरने पर ही क्या ? जब यह जीवित है तब भी खाली हाथ है। लाखों और करोड़ों की सम्पत्तियों के बीच भी हो और लोक व्यवस्था में लाखों करोड़ों रुपये बैंक में जमा हों, दस्तखतों से निकाले जायें लोकव्यवस्था में बड़ा अधिकार भी हो तो भी वह पुरुष खाली हाथ है। केवल अपना स्वरूप लिए हुए है, जैसे कि अपने स्वरूप के भाव भी बनाये हों वैसे भावों को लिए हुए है। भावों के अतिरिक्त इसके पास और कुछ नहीं है। अपने आपकी चर्चा है यह। दूसरे पर कहीं दृष्टि नहीं दना है।

गुप्त में गुप्त गुप्ति का यत्न—बुद्धिमान् पुरुष वह है जो चुपचाप अपने आपमें अपने आपकी ही बात सोचकर अपने हित के लिए अपना निर्णय बनाकर अपने आपके कल्याण का यत्न करते हैं। किसी को दिखाने से क्या तत्त्व मिलेगा ? क्या दिखाना है, किन्हें दिखाना है ? तुम जिनको दिखाना चाहते हो, सम्भव है कि वे तुमसे भी अधिक मलिन हों। किसी को दिखाने से तुम्हें कोई सिद्धि होगी क्या ? किसके लिए क्या करना है, कोई यहाँ पूछने वाला नहीं है। सब जीव अपनी-अपनी धुन के हैं। स्वरूप ही ऐसा है। प्रत्येक जीव अपने स्वरूप चतुष्टय से सम्पन्न है। दूसरे की कोई दूसरा परवाह कर ही नहीं सकता। सब अपने-अपने

स्वार्थ, सुख, दु:ख, हर्ष, विषाद इनमें लग रहे हैं। किसी अन्य का कोई दूसरा कुछ करने में समर्थ नहीं है।

प्रतिभा का एक उदाहरण—मध्य प्रान्त में खुरई के एक बड़े श्रीमंत सेठ थे। उनका मिजाज थोड़ा कड़ा भी था। उनकी एक स्त्री गुजर गई, दूसरी शादी हुई तो उस स्त्री को समझा दिया दासियों ने कि देखो सेठ जी बड़े कड़े मिजाज के हैं, उनकी आज्ञा का उल्लंघन करोगी तो आफत में पड़ोगी। स्त्री ने कहा कि अच्छी बात है देखूँगी। एक बार सेठ साहब के सिर में बहुत दर्द हुआ। उन्होंने हुक्म दिया कि सेठानी से कहो दवा लावे। खबर पहुँची सेठानी को। अब वह सोचती है कि यह तो मंगलाचरण है अभी, यह तो पहिली बार की बात है। इसमें यदि अपनी कला चला ली तो जीवन भर दु:ख से बची रहूँगी। ऐसी बात सुनने के अनन्तर ही वह तो पलंग पर पड़ गयी, कराहने लगी, मुझे बड़ी पीड़ा है, मेरे सिर में दर्द हो गया और दिल धड़क रहा है। यह खबर सेठ जी के पास पहुँची कि सेठानी के सिर में बड़ा दर्द है। सेठ जी झट सेठानी के पास दौड़कर गए, पूछा कहाँ दर्द है, कैसे क्या हुआ ? सो बहुत देर के बाद में कहा कि आपके सिर दर्द की बात सुनकर मुझे बड़ा क्लेश हुआ, दिल धड़ गया। अब तो सेठजी में होश ठिकाने आ गया। कला खिल चुकी।

खुद का खुद के प्रयोजन में बन्धन—प्रयोजन यह है कि कोई सोचता हो कि किसी पर मेरा अधिकार है, कोई मेरे कहने से चलता है–ऐसा सोचना असत्य है। सब अपने-अपने परिणमन से अपना कार्य करते हैं। कोई आपसे कितना ही वायदा करे कि हमारा तुम पर बड़ा अनुराग है, हम कभी भी तुमसे विलग नहीं हो सकते। यह उसके वर्तमान परिणामों की बौखलाहट है। ऐसा हो ही नहीं सकता कि कोई जीव किसी दूसरे जीव से बेप्रयोजन ही बँध जाय। चाहे बड़ा हो, चाहे छोटा हो, चाहे घर का प्रमुख हो, चाहे देश का प्रमुख हो, प्रत्येक जीव अपने-अपने भावों के अनुसार अपना परिणमन करते हैं। ऐसा यह जगत है। यहाँ अपने को बहुत सावधान रहना है।

बुद्धिदोष की विपदा—भैया ! सबसे बुरी विपदा है अपने में बुद्धि दोष का आ जाना। इससे बढ़कर और विपदा नहीं है। बुद्धि का दोष जिनके बढ़ जाता है उनहें ही पागल कहते हैं ना, जो कभी सड़क पर भी फिरते हो कोई बड़े घर का आदमी, जो प्रतिष्ठित घर का हो, धनी हो और दिमाग खराब हो जाय तो लोग उसको कितनी दयनीय दशा में देखते हैं ? अरे बेचारा बड़ा दु:खी है। सबसे अधिक दु:खी कौन ? जिसकी बुद्धि मलिन है। जिसकी बुद्धि पूर्ण स्वच्छ है, सावधान है, वह दरिद्र हो, चाहे इष्टों का वियोग हो, चाहे कोई दूसरा सताता हो तब भी वह गरीब नहीं है क्योंकि बुद्धिवान् है। विवेक धन उसके बराबर बना हुआ है। जिसकी बुद्धि बिगड़ जाती है, विवेक काम नहीं करता है वह चाहे कितने वैभव के बीच हो, वह गरीब ही है क्योंकि उसे वर्तमान में शांति नहीं है और इतना ही नहीं वह भावी काल का भी अपना कुछ निर्धारण नहीं कर सकता।

उपदेश का ध्येय शिवमार्ग व शिवमार्गफल—जिनशासन में इन दो बातों का वर्णन है–मार्ग और मार्गफल। मार्ग तो मोक्ष का उपाय है। किसे मोक्ष दिलाना है ? अपने आत्मा को। जिसे मोक्ष दिलाना है उसका स्वरूप तो जानो, उसकी श्रद्धा हो और जिसे छूटना है उस रूप में इसका अंतरङ्ग में आचरण हो तो मोक्ष

का मार्ग बनता है और उसका फल है निर्वाण की प्राप्ति। मोक्ष की तो लोग बड़ी प्रार्थना करत हैं। पूजा में, पाठ में, विनती में बोल जाते हैं कि हमें छुटकारा मिले। काहे से छुटकारा मिले ? कर्मों से छुटकारा मिले, देह के बंधन से छुटकारा मिले। छुटकारे के लिए बड़ी प्रार्थना करते हैं। और क्यों जी यदि थोड़े पैसों से छुटकारा हो जाय तो उसमें खेद क्यों मानते हो ? विनती में तो कहते हो कि छुटकारा मिले पर जरा-सा पैसों से छुटकारा हो जाय तो उसमें खेद काहे को मानते हो ? मानते हो ना, फिर तो यह सब ढोंग ढपारे की बात रही। जब व्यवहार के कार्यों से छुटकारा पाने में धैर्य नहीं रख पाते हो तो उस बड़े मोक्ष की बात तो एक स्वप्न देखेने की जैसी बात है।

मुक्ति का आमूलचूल उपाय—इस ग्रन्थ में संकटों से छुटकारा पाने का उपाय कहा जाता है। नियमसार ग्रन्थ है यह। इसमें आगे जो वर्णन आयेगा वह बड़ा ही कलापूर्ण वर्णन है, जिसमें आत्मा के भीतर की बात बतायी जायेगी। तो उसे ग्रहण करके जो आनन्द प्राप्त होगा वह आनन्द असीम आनन्द होगा। जैसे मिठाई-मिठाई सब एक होती है पर रसगुल्ला, इमरती, जलेबी, बरफी इन सबमें कुछ अन्तर है ना। इसी तरह ये चार ग्रन्थ–समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय एक ही तरह के आध्यात्मिक ग्रंथ हैं, फिर भी शैली और पद्धति से इनमें अन्तर है। जो नियमसार का वर्णन आगे आयेगा उससे सब बातें स्पष्ट होगी। नियमसार शब्द का भाव है शुद्ध रत्नत्रयस्वरूप। नियम अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र और सार कहने से अर्थ निकला निश्चयस्वरूप विपरीततारहित। निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र, इसका और इससे सम्बन्धित समस्त अंत:क्रियाओं का इस ग्रन्थ में वर्णन होगा।

रागद्वेष के विजेता के नमस्करणीयता—ग्रन्थ के आदि में कुन्दकुन्ददेव ने अंतिम तीर्थंकर श्री वीरनाथ को नमस्कार किया है, जिसका तीर्थ आज चल रहा है वे वीर जिन हैं, जिनका अर्थ है कि अनेक जन्मोंरूपी अटवियों में बनियों में प्राप्त कराने का कारणभूत जो सर्व मोह रागद्वेषादिक हैं उन सबको जो जीतता है उसको जिन कहते हैं। जैसे यह कहना है कि श्री जिनवर को हमारा नमस्कार हो तो जिनवर कहने से अन्य लोग चौंक जायेंगे कि यह हमारे प्रभु को नहीं कह रहे हैं और इस ही को इन शब्दों में कहा जाय कि मोह रागद्वेष को जीतने वाले को हमारा नमस्कार हो तो यह सुनकर अन्य लोग न चौकेंगे। जिन को नमस्कार कहने में इस जैन का अभिप्राय यह है कि इसे किसी के शरीर से, माता पिता से या कुल जाति से या उनके जीवन चरित्र से यहाँ जैन का हठ नहीं है किन्तु केवल यह ही आशय है कि जिसने मोह रागद्वेष शत्रुओं को जीता है उनको नमस्कार हो। शब्द भी वही कहते हैं जिन भगवान् और आशय भी उनका ऐसा ही है।

व्यक्ति की दृष्टि से परे शुद्ध ज्ञानभाव की पूजा—भैया ! जो त्रिशला के नन्दन हुए, सिद्धार्थ के पुत्र हुए, कुण्डलपुर में जन्म लिया ऐसे प्रभु को देखना हम आपकी मंशा नहीं है, किन्तु अपने आपके शुद्ध आत्मस्वरूप का परिचय करके जिसने विषय-कषाय को जीता, निर्मोह हुए, रागद्वेष रहित हुए और रागद्वेष रहित होने के कारण सर्वज्ञ भी जिन्हें होना पड़ा ऐसे आत्मा की ओर दृष्टि है किन्तु त्रिशलानन्दन, सिद्धार्थसुत इक्ष्वाकुवंश में जन्में, इस बात पर दृष्टि नहीं है। जैन सिद्धान्त का लक्ष्य कितना पवित्र है ? केवल परमात्मतत्त्व इस दृष्टि में लिया जा रहा है कि जो शुद्ध निर्दोष परिपूर्ण परमात्मत्व है उसकी ही मेरे

में भक्ति है।

कल्याणार्थी की गुणदृष्टि—भैया ! ज्ञानी के रंच हठ नहीं है किसी व्यक्ति का, किसी नाम का, पर जिस शुद्ध तत्त्व को, निर्दोष परमात्मत्व को वे बताना चाहेंगे तो कोई शब्द ही तो कहेंगे। उन शब्दों का मतलब व्यक्ति से नहीं लिया जायेगा, किन्तु जो निर्दोष और सर्वज्ञ हुए हैं उनका आशय लेना चाहिए। मुख्य मंत्र णमोकार मंत्र है। उसमें किसी व्यक्ति का नाम है ही नहीं, किन्तु गुणों का नाम है। **अरहंत**–जिसने स्वभाव को घात करने वाले कषाय और कर्मों को जीत लिया है उनको अरहंत कहते हैं। अब कोई अरहंत नाम का भ्रम करके सोचे कि ये तो अरहंत राजा को मानते हैं और ऐसी कथा को गढ़ भी देते हैं। कोई अरहंत राजा हुए थे, उनसे यह जिनधर्म चला था। तो किसी पद को बताने के लिए जो शब्द कहे जायें उन शब्दों के अक्षरों पर दृष्टि नहीं देना है, किन्तु जिस लक्ष्य के लिए शब्द कहा गया उस पर दृष्टि देना है। जो रागद्वेष मोह को जीत चुके हैं उनको नमस्कार हो, केवल यह ही अभिप्राय है अरहंत के नमस्कार में।

परमेष्ठित्व की व्यक्ति—अरहंत पद के पश्चात् जब शुद्ध, बाह्य लेप रहित रहने की जो अवस्था होती है उसे सिद्ध कहते हैं। सिद्ध किसी व्यक्ति का नाम नहीं है किन्तु जो अपने विकास में पूर्ण हो चुके हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं। मंत्र में आराधनीय दो हैं–(1) जो पूर्ण शुद्ध हो चुके हैं ये हैं अरहंत और सिद्ध और (2) जो शुद्ध होने के प्रयत्न में लगे हैं वे हैं आचार्य उपाध्याय और साधु। कोई भी गृहवासी ज्ञान से जगकर, वैराग्य से सम्पन्न होकर आरम्भ और परिग्रह को छोड़ देते हैं तो वे साधु होते हैं। जो भी साधु हुए हैं वे गृहवासी लोग ही हुए हैं। ऐसा भी कोई हुआ है कि जो घर में न पैदा हुआ हो, घर में न रहा हो, घर में न पला हो और हो गया हो साधु। ऐसा कोई सुना हो तो बतलाओ। चाहे कोई 8 वर्ष की उम्र वाला बालक ही साधु क्यों न हो जाय, पर रहा तो वह घर में ही था।

अद्भुतपराक्रमी साधु—भैया ! एक आचार्य ऐसे भी हुए हैं कि उन्होंने पैदा होने के बाद कभी वस्त्र धारण नहीं किये और साधु हुए। पहिले बहुत बड़ी अवस्था तक बच्चे नग्न फिरा करते थे। बूढ़े आदमी जानते होंगे इस बात को। आज तो 6 महीने के बच्चे को भी अन्डरवीयर पहिना देते हैं और ऐसा पहिना देते हैं कि सारा दरवाजा नीचे से खुला रहे, नहीं तो कहाँ मूत धो-धोकर परेशान हों। तो पूर्व समय में नग्न रहा करते थे बालक, सो नग्न रहा बहुत दिनों तक वह बालक और नग्न ही अवस्था में मुनियों के संघ में रहा। ज्ञान और वैराग्य जगा तो कहा कि महाराज अब दीक्षा दीजिए। दीक्षा ले ली सो पैदा होने के बाद वस्त्र नहीं पहिना, और साधु हो गये। ऐसी नजीरें बहुत कम होती हैं। जैसे साधु होने के बाद महान् तपस्या करे और पानी आहार कुछ भी न खाये पिये और मोक्ष चला जाय, ऐसा भी नजीर है ना कोई ? बाहुबलि स्वामी है ना और भी अनेक हैं।

साधुओं की वर्तमानता—तो ये आचार्य, उपाध्याय, साधु ये शुद्ध होने के प्रयत्न में लग रहे आत्मा है। उन साधुओं में जो नायक होता है वह आचार्य कहलाता है। जो अन्य मुनियों को दीक्षा दे, खुद आचरण पाले दूसरों को पालन कराये वह आचार्य है, सो मुनि और आचार्य तो आजकल दर्शन करने को मिल जाते हैं, परन्तु उपाध्याय नहीं मिल पाते हैं क्योंकि उपाध्याय के लिए ज्ञान चाहिए। सो ज्ञानयोग होना बड़ा कठिन है कि जो उपाध्याय पद के लायक कहलाये। लेकिन होते थे ऐसे पहिले। वे दोनों ही साधु शुद्ध आत्मा होने

के प्रयत्न में लग रहे हैं।

भक्तों द्वारा शक्तिदेवता की आराधना—इन 5 पदों में किसी व्यक्ति को नमस्कार नहीं किया गया है। जैनसिद्धान्त नमस्कार किऐ जाने वालों में व्यक्तित्व देखता ही नहीं है किन्तु गुण देखता है। गुणों को नमस्कार है नाम को नमस्कार नहीं है, और बात भी ऐसी ही है। कोई किसी त्यागी को नहीं पूछता, और कोई त्यागी यह सोचे कि हमसे तो बहुत लोग बड़ा स्नेह रखते हैं, मुझसे लोगों का बड़ा अनुराग है, तो उसका सोचना झूठ है। किसी नामधारी त्यागी को समाज नहीं पूजता है। वही त्यागी यदि पागल हो जाय, गड़बड़ हो जाय, भ्रष्ट हो जाय तो फिर क्यों नहीं पूजते ? तो लोगों की दृष्टि गुणों की ओर होती है, नाम और व्यक्ति की ओर नहीं होती।

नाम की पूज्यता की अहेतुभूता—यहाँ 24वें तीर्थंकर को नमस्कार किया है, इसमें वीरत्व को और जिनत्व को नमस्कार है। सिद्धार्थनन्दन को नमस्कार नहीं है। यदि सिद्धार्थ कोई अपना नाम रख ले और उसका लड़का हो जाय तो वह भी तो सिद्धार्थनन्दन है। जैसे आजकल तीर्थंकरों के नाम पर जो नाम चलते हैं उनकी क्या कमी है ? विहार प्रान्त में सराक जाति में आदिनाथ नेमिनाथ ऐसे नाम होते हैं, और उनके कुल में भी ऐसे ही नाम चलते हैं। तो नाम रख लेने में कहीं पूज्यता नहीं होती। ऐसे ही उन का नाम था सिद्धार्थनन्दन, त्रिशलानन्दन। इस नाते से वे पूज्य नहीं थे किन्तु उनमें जिनत्व था, जन्म–जन्मांतर अनेक जन्मोंरूप जंगल में भ्रमण के कारणभूत जो रागद्वेषादिक भाव हैं उन पर उन्होंने विजय प्राप्त की। ऐसे जिन वीर को नमस्कार किया जा रहा है।

वीर का वाच्य—वीर शब्द के कहने से 7 हाथ की अवगाहना वाले कुण्डलपुर के जन्मे हुए थे। ऐसी दृष्टि नहीं लेना है, किन्तु जिनमें वीरत्व प्रकट हुआ है उन्हें दृष्टि में लेना है। यद्यपि यह वर्द्धमान वीरप्रभु प्रभु हुए हैं, इसलिए पूर्ण नाम लेकर नमस्कार किया जाता है, पर लक्ष्य में लेना है वीरत्व। वीर का अर्थ है जो विक्रान्त हो, विक्रम करे, कर्मशत्रुओं को जीते, शूरता रखे उसे वीर कहते हैं। अब तो बहुत से वीर हैं चन्दनपुर के वीर, कुण्डलपुर के वीर। और हों कोई आसपास के पुराने गाँव के जो उजाड़ हो गए हों, उस क्षेत्र में कोई वीर नाम का हो। तो ऐसे तो अनेक वीर हैं। अरे जहाँ पर्याय को भी दृष्टि में न लेकर वीरत्व और जिनत्व को देखकर भक्ति की जा रही हो, उनके चंदनपुर और कुण्डलपुर की तो कहानी ही छोड़ो।

नाम व चरित्र की पकड़ विडम्बना की जड़—वीरप्रभु जो कि चार नामों से प्रसिद्ध हैं–वर्द्धमान, सन्मति, महावीर और अतिवीर। ये सब चारित्रों से सम्बन्धित हैं। पर बात यह बतायी जा रही है कि किसी जीवन चारित्र से हम भक्ति नहीं करते हैं किन्तु गुणविकास के कारण भक्ति करते हैं। आज जो परमात्मा के नाम पर ही इतने विवाद खड़े हो गए देश में उसका कारण है नाम और चारित्र की पकड़। जिसने ईसा प्रभु को माना है, बस उनका ख्याल है कि जो ईसा हुए हैं, जो यों जंगल में रहते थे, यों लोगों से बोलते थे, अमुक जाति के थे, भेड़े साथ में रखते थे, लोगों के संकट दूर करते थे वे प्रभु है। चरित्र से प्रभुता मान ली। इसी प्रकार जो जिन को देवता कहते हैं उनके जो चरित्र लगा है बस उस चरित्र के रूप के कारण ही भगवत्ता मानते हैं। तब इसमें विवाद हो गए, विसम्वाद हो गए।

हितभावरूप दर्शन की अभीष्टता—रागद्वेष मोह न होना और सारे विश्व का ज्ञाता बनना, यह बात तो

सबको पूज्यता के लिए इष्ट होगी। चारित्र छोड़कर, जो मन, वचन, काय की क्रिया हो, भली भी हुई हो तो भी उसे दृष्टि में न लेकर केवल इस दृष्टि को भाव में लिया जाय कि जिसने रागद्वेष मोह को दूर किया हे ऐसा शुद्ध ज्ञानपुञ्ज हमारा प्रभु है। तो सब एक छाया में उपस्थित हो जायेंगे।

हितमार्ग के अविरुद्ध चरित्र की श्रोतव्यता—भैया ! प्रभुता के मर्म से अविदित जैन नामधारी भी नाम, व्यक्ति और चरित्र की ही हठ करके और उसमें ही परमात्मत्व देखकर, तत्त्व से च्युत होकर विसम्वाद में पड़ जाते हैं। अब इस मूल बात को न भूलें, और फिर व्यक्ति और चारित्र की ओर भी दृष्टि रखें तो वह व्यवहारभक्ति बन सकेगी। प्रभु वीर का वर्द्धमान तो पहिला नाम था और जब दो मुनिराज कुछ मन में तत्त्वशंका रखते हुए जा रहे थे और यह बालक वर्द्धमान उन दोनों को दिख गया तो देखते ही उनकी शंका दूर हो गयी। ऐसे कथानक के आधार से उनका नाम सन्मतिनाथ पड़ा और बचपन में जब वे खेल रहे थे तो एक देव परीक्षा करने आया साँप का रूप बनाकर, तो खेलने वाले सभी साथी खेल छोड़कर भाग गए और वह साहसी बालक सर्प से खेलने लगा। उसके फन पर ही पैर रखकर लीला करने लगा उस समय से उनका नाम महावीर है। इस तरह की घटनाओं के आधार पर चार नाम पड़े हैं। इन नामों करके सहित परमेश्वर महादेवाधिदेव, अंतिम तीर्थंकर उनको प्रणाम करके इस नियमसार को कहेंगे।

महंतों की महंतों के प्रति महती कृतज्ञता—भैया ! जिससे उपकार हुआ उसको जो छिपाये उसके गुणों के विकास में बाधा रहती है। इस कारण कृतज्ञता प्रकट कर देना यह संतों का स्वाभाविक गुण है। यदि वीर प्रभु की वाणी न होती तो आज पदार्थ का स्वरूप हम कहाँ से पाते और शांति कैसे मिलती ? शांति जो हम आपको जब कभी मिलती है वह भेदविज्ञान का प्रताप है। पर की ओर लगने में भिड़ने में शांति कभी हो ही नहीं सकती जितना हम पर से हटते हैं, ज्ञानद्वारा हम अपने आपके अकेले स्वरूप में विचरते हैं उतनी ही तो शांति है और बाकी शांति की आशा न रखिए। चाहे लखपति हो जावें, करोड़पति हो जावें, कितना ही परिवार हो जावे पर शांति नहीं मिलती। बड़े आदमियों के ठाटबाट देख लो–उन्हें शांति उससे नहीं प्राप्त हो सकती। शांति ज्ञान पर ही निर्भर है।

महान् लाभ के प्रोग्राम में तुच्छ हानि की उपेक्षा—भैया ! चाहिए क्या ? सुख, शांति, आनन्द। उसका उपाय है–सम्यग्ज्ञान। तो वस्तुस्वरूप का बोध करना कितना बड़ा काम है ? दुकान से बड़ा है या नहीं ? दुकान से तो बड़ा है और घर के लोगों के स्नेह से बड़ा है कि नहीं ? उससे भी बड़ा है। यह सबसे बड़ा काम है और जो बड़ा काम होता है उसको करते हुए में अगर छोटी बातों का नुकसान भी हो जाय तो उसमें रंज न होनी चाहिए। धन में कुछ कमी हो जाय, परिवार में कोई क्षति हो जाय तो उसके ज्ञाता दृष्टा रहना चाहिए। यदि ऐसा न कर सके तो अशांति होगी। एक ही उपाय ह शांति का, सम्यग्ज्ञान होना। ये वीरदेव निर्मल ज्ञानदर्शन से युक्त हैं। जो समस्त पदार्थों के जानने में समर्थ हैं। तीन लोक तीन काल के चर और अचर द्रव्यगुण पर्याय सर्व को यथावत् एक साथ जानने का जिनके जौहर प्रकट हुआ है, उस वीरजिन को नमस्कार करके इस नियमसार को कहेंगे, ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य देव संकल्प कर रहे हैं।

वर्णनीय नियमसार—भैया ! इस ग्रन्थ में किसको कहेंगे ? नियमसार को। नियम अर्थात् सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र उसका सार मायने शुद्ध निश्चयरूप परमार्थरूप रत्नत्रय। इसका निरूपरण इस

ग्रन्थ में किया जायेगा। ऐसा विरूपण अपनी बुद्धि से ही नहीं प्रकट किया, किन्तु समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले केवलियों ने बताया और समस्त द्रव्य श्रुत के जानने वाले श्रुतकेवलियों ने बताया, वही तत्त्व जो अनन्त तीर्थंकरों ने अपने-अपने समय को बताया अथवा जो आत्मा में स्वरूप बसा हुआ है, सहजभाव है उसका विरूपण जो चला आ रहा है उस ही अनन्त संतों के द्वारा विरूपित तत्त्व को यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य कहेंगे। अपनी रुचि से जो शास्त्र बनाया जाय उसमें प्रामाणिकता नहीं आती। रुचि भी काम देती है पर साथ ही उन अनन्त ज्ञानियों के ज्ञान से मेल खाता हो तब तो समझो कि वह समीचीन है, ऐसे प्रवाहरूप में चले आए हुए इस नियमसार अर्थात् शुद्ध रत्नत्रय स्वरूप का इसमें वर्णन चलेगा।

महनीय के ही महनीयता—कुन्दकुन्दाचार्य देव यहाँ वीर जिनेन्द्र को नमस्कार कर रहे हैं। सो मानो ऐसी उत्सुकता से नमस्कार कर रहे हैं कि हे वीर जिनेन्द्र ! तुम्हारे जैसे वीतराग सर्वज्ञ प्रभु के रहते हुए मैं किस अपने समान महा मुग्धचारित्र वाले अन्य देवताओं को नमस्कार कर सकता हूँ? कोई किसी का चारित्र यों बताए कि एक पुरुष है और वह जहाँ चाहे, जो चाहे चुरा लेता है और खा लेता है, हलवाई की दुकान में अकेले घुस जाय तो मिठाई खा लेता है, दूध वाले की दुकान में घुस जाय तो दूध दही खा लेता है और जहाँ जाता है वहाँ स्त्रियों में रम जाता है, तो इस चरित्र को सुनकर क्या आप में भक्ति उमड़ेगी या जो गृहस्थ की भांति स्त्री रखे हो, पुत्र रखे हो, ऐसा कोई हो तो क्या उसके प्रति आपकी भक्ति जगेगी ? ऐसे देव तो हमारी ही तरह मोहमुग्ध है। संसार की ऐसी रीति है कि कोई विलक्षण बेढंगा काम करने लगे तो उसमें प्रभुता मानने लगते हैं, किन्तु मेरी ही तरह मोह मुग्ध जो हैं उनको मैं कैसे पूजूँ?

धर्माश्रय का परमार्थ आश्रय—हे प्रभु ! जो रागद्वेष कषाय से परे है, ज्ञान की अत्यन्त स्वच्छ महिमा जिसके प्रकट हुई है ऐसा स्वरूप ही मेरा आराध्य है, मैं कहाँ जाऊँ? ये रागद्वेष शिष्यगण, परिवारजन, भक्तजन क्या मेरे कोई शरणभूत है ? सब मेरे उपयोग को यत्रतत्र भटकाने में ये आश्रय बनते हैं। मैं किसकी शरण जाऊँ जो मेरे लिए एक मात्र हो। आप अभी देख लो–धर्म के नाम पर भगवान् जिनेन्द्र या प्रभुमूर्ति, मंदिर इनके लिए सब लोग कितने न्यौछावर रहते हैं ? घर का काम बिगड़े तो एक को ही चिंता है अन्य को, परवाह ही नहीं और मंदिर का या संस्था का कोई काम आ जाय तो सबको चिंता और सबको परवाह है। कोई बात बिगड़ने लगे तो सबको चिंता हो जाय। चाहे उन सबने उस धर्म का यथार्थस्वरूप न भी जाना हो, पर नाम तो है धर्म का। जिसके नाम पर इतना लट्टू होते हैं उसका यदि स्वरूप समझ में आ जाय तब तो फिर कहना ही क्या है ?

प्रभु वीर का उपकार—हे प्रभु ! तेरा जैसा विजयी निर्दोष गुण की खान आनन्द निधान केवल ज्योतिपुञ्ज है, उसको छोड़कर मैं किस जगह अपना सिर झुकाऊँ? मानो इस उत्सुकता के साथ सर्वप्रथम जिनेन्द्रदेव को नमस्कार किया गया है। दूसरी बात यह है कि लोग सिद्ध की अपेक्षा अरहंत की याद ज्यादा करते और अरहंतों की अपेक्षा उन्हीं में तीर्थंकर की याद ज्यादा करते और उनमें अंतिम तीर्थंकर की अधिक याद करते हैं तो ये प्रभु साक्षात् उपकार के जो कारण हुए हैं सो उनकी स्मृति में कृतज्ञता ही कारण है। यह तो देव का प्रकरण है ना। कदाचित् कोई गुरु को भी पहिले नमस्कार और भगवान् को पीछे नमस्कार करे, किसी की ऐसी कृतज्ञता बन जाय तो किसी की बन भी जाती है।

गुरु का गौरव—भैया ! एक कथानक में सुना होगा कि एक सेठ ने किसी पशु को मरण समय णमोकार मंत्र दिया। सो वह पशु मरकर देव बन गया। जब अवधिज्ञान से उसने जाना कि अमुक श्रावक ने मेरी गति सुधारी तो मध्यलोक में आया। एक जगह मुनिराज भी बैठे थे और वह सेठ भी बैठा था तो उसने पहिले सेठ को नमस्कार किया, पश्चात् मुनि को नमस्कार किया। तो कृतज्ञता की लहर जिसमें जैसी दौड़ जाय उस तरह से प्रवृत्ति होती है। आप कहें कि यह तो ठीक नहीं, हाँ मुनि की भक्ति रखने वाला हो सेठ और सेठ को अगर पहिले ही नमस्कार करले तो वह मुनि को ही तो नमस्कार हुआ। जैसे मानो कोई जिनभक्त ब्रह्मचारी क्षुल्लक या मुनि इनका आप यथायोग्य विनय करते हैं तो किस नाते से करते हैं ? मंदिर में भी बैठे हों क्षुल्लक या मुनि तो आप वहाँ पर भी पहिले उनको नमस्कार कर डालते हैं ना, तो चूँकि ये जिनेन्द्र के भक्त है सो भक्त के नाते से ही विनय किया गया है ना। तो वह जिनेन्द्र का विनय समझिए। न जिनेन्द्र के भक्त हों तो कोई पूछले तो जानें।

वीरभक्ति, वीरभक्त व वीरशक्ति की विशेषता—गुरु के नमस्कार में भी प्रभुभक्ति ही तो अन्तर में बसी है ना, यह कृतज्ञता की कुछ पद्धति होती है पर आशय विपरीत हो जाय तो उसमें दोष आता है। चूँकि यह आप्त का प्रकरण है इसलिए वीर जिनेन्द्र को नमस्कार किया है और साथ ही यह भी ध्वनित है कि वीर को ही क्यों नमस्कार किया तो उनकी वाणी दिव्यध्वनि की परम्परा से आज तीर्थ चल रहा है। जिस परम्परा से आए हुए तत्त्व को हम शब्दों में बाँध रहे हैं यह भी साथ ध्वनित है। जिस प्रकार स्वच्छ वीर जिनेन्द्र हुए उस ही प्रकार का स्वच्छ हमें भी होना है। उस वर्गरहित मोक्ष की प्राप्ति के लिए हम यह उद्यम कर रहे हैं। यह तो शुद्ध लक्ष्य हो जाने की विशेषता है।

शास्त्ररचना का प्रयोजन निज परम विशुद्धि—आचार्य देव कुछ नहीं चाहते हैं, न यश, न नाम, न अन्य कुछ, किन्तु मेरा उपयोग रागद्वेष की वृत्ति से दूर रहे इसके लिए यह उपक्रम है शास्त्र रचना और फिर इसको बढ़कर अन्य लोगों का उपयोग भला होना, यह तो भुसा की तरह एक गौण प्रयोजन और फल है। हम लोग उनके मुख्य प्रयोजन को चाहे न आंक सकें और उपकार हम लोगों का होता है अधिक, इसलिए यही गुण गाये कि कुन्दकुन्दाचार्य प्रभु न हम जैसे पामरों के उपकारों के लिए अध्यात्मग्रन्थों की रचना की है। हम यह बोलते हैं पर कुन्दकुन्दाचार्य प्रभु ने हम लोगों का ख्याल रखकर कि भिण्ड के फलाने-फलाने लोग होंग या इटावा में कोई नियमसार पढ़ेंगे, उनका उपकार होगा इसलिए बनाया या अन्य किसी के ख्याल से शास्त्ररचना की ऐसा नहीं है, किन्तु अपने उपयोग को शुद्ध रखने के लिए और मोक्षमार्ग से उपकार होता है। सो उस मोक्षमार्ग की मूर्ति खींची है।

भक्तिपद्धति—भैया ! जो जिस पर लट्टू हो जाता है उसके मन में वही समाया रहता है। सबको भूलकर उसकी शकल बनाए, उसके गीत गाए, उसके भजन बनाए, गद्गद् स्वरों में एकांत में विनती करे–ये सब बातें होने लगती हैं। किसी को दिखाने का प्रयोजन नहीं है। यहाँ जिनकी पूजा कर रहे हैं, जल्दी जाना है अथवा नहीं जाना है, आदत है, जल्दी जल्दी बांच रहे हैं और कोई चार आदमी बड़े दर्शन करने आ जायें तो उनको देख करके फिर राग से गायेंगे। क्योंकि उददेश्य ही पुष्ट नहीं है कि इतने समय सबको भूलकर मैं क्या हूँ, किस परिवार का हूँ, मेरे में कोई भार है क्या, सर्व बातों को भूलकर अपने को निर्भार

अनुभवकर चिदानन्द स्वरूप को निरखकर उस ही ज्ञानपुञ्ज की ओर हमें झुकना चाहिए था, यह उद्देश्य तो न रहा, इसलिए मन यत्र तत्र भटकता है। बड़ी बातें करते हैं और करते कुछ नहीं हैं।

परमपूजा क लिये कमर कसकर भक्त की तैयारी—पूजा की प्रस्तावना में पढ़ते हैं ना–अर्हन् पुराणपुरुषोत्तमपावनानि वस्तूनि नूनमखिलान्ययमेक एव। अस्मिन् ज्वलद्विमलकेवलबोधवह्नौ पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि। बड़ी लय से आप पढ़ते हैं ना, भगवान को रिझाने के लिए कि हे अरहंत ! हे पुराण ! हे पुरुषोत्तम ये जो नाना पवित्र चीजें रखी हैं ना, जल, चंदन, अक्षत आदि द्रव्य और इतने बड़े हम और धोती दुपट्टा और यह वेदी और यह विराजे भगवान् कितनी चीजें हैं वहाँ उस जगह ? कहते हैं कि नाथ मुझे अन्य कुछ दिखता ही नहीं है। हमें ये अक्षत, पुष्प कुछ नहीं दिखते। हमें तो केवल एक ही चीज दिख रही है, अयं एक एव। यह जाज्वल्यमान् तेजस्वी ज्ञानस्वरूपी ही हमें दिख रहा है, सो इस जाज्वल्यमान् निर्मल केवल ज्ञानरूपी अग्नि में समस्त पुण्य को एक मन होकर मैं स्वाहा करता हूँ। जो आप रोज-रोज पूजन में कहते हो, उसका ही यह अर्थ किया जा रहा है। चाहे करते कुछ हो हमें पता नहीं है।

पूजा से प्रथम महान् संकल्प—आप रोज पूजा करने से पहिले यह कहते हो कि इस जाज्वल्यमान् ज्ञानाग्नि में सारे पुण्य को मैं स्वाहा करता हूँ। कितना निर्मल चित्त होकर यह भक्त पेश होता है प्रभु के दरबार में। केवल ज्ञानपुञ्ज ही उसे दिख रहा है और जो चार पाँच लड़के हैं उनकी रंच खबर नहीं है क्योंकि सर्वत्र सब द्रव्यों को जानता है, उनका भार उन पर है, मेरे से कुछ उनका बनता ही नहीं है। यहाँ तो केवल आत्मस्वरूप के दर्शन को वह आया है। इस जाज्वल्यमान् ज्ञान में सारी पुण्य चीजों को मैं जलाता हूँ।

पुण्य वैभव का स्वाहा—कितनी पुण्य चीजें है अभी उसके पास ? 9.25 आने का कुछ द्रव्य है। पतली चिटक धर लिया, बादाम न मिलता हो तो कमलगट्टा हो गए, चिरमटी भी आ गयी हैं। सारी चीजें मिलकर सवा नौ आने की चीजें धरी हैं और कहते हैं सारा पुण्य स्वाहा कर रहा हूँ, यह उस पर नखरे बगरा रहे हैं। प्रभु की ओर से पूछ दें, कोई ऐसा तो भक्त कहता है कि नहीं महाराज मैं इतने ही द्रव्य को स्वाहा नहीं करता हूँ, किन्तु इसके अतिरिक्त जितना भी वैभव है लाखों का, हजारों का, करोड़ों का उस सारे वैभव को मैं न्यौछावर करता हूँ। हेय चीजें हैं ये सब। उनको मैं क्या दिल में रखूँ? उन सबको मैं स्वाहा करता हूँ।

द्रव्यपुण्य का स्वाहा—तब फिर मा नो भगवान् बोले कि ऐ भक्त तुम चतुराई पर चतुराई बगरा रहे हो, तुम जानते हो कि धन वैभव तो मेरा है नहीं, सो जरा कहकर तो मियामिट्ठू बन लें, भगवान् के प्यारे बनलें, मैं सर्ववैभव को त्यागता हूँ, क्योंकि यह सब तो मरने पर भी न जायेगा, ये सारी चीजें मेरे से भिन्न हैं तो इन चीजों को स्वाहा कहकर भगवान् के मियामिट्ठू बन लें, क्या यह बात है भक्त !

भावपुण्य का स्वाहा—भक्त कहता है कि नहीं महाराज इतनी ही बात नहीं है। जिस पुण्यकर्म के उदय से यह वैभव मिला हो उस पुण्यकर्म को भी मैं स्वाहा करता हूँ, मुझे कुछ न चाहिए, ये सब हेय हैं। प्रभु का वकील बोला—अच्छा, जानते हो कि ये भी पौद्गलिक हैं, मेरे आत्मा से अतयन्त भिन्न है, सो कह लो प्रभु से। भक्त कहता है कि महाराज यह बात नहीं है। वे द्रव्य पुण्यकर्म जिसके परिणाम के कारण बद्ध हुए ऐसे शुभोपयोगरूप भावों को भी मैं स्वाहा करता हूँ। मायने क्या करता हूँ कि आपकी जो वर्तमान में भक्ति

कर रहा हूँ इस परिणाम को भी मैं स्वाहा कर रहा हूँ। अब क्या रह गया ? जिस ज्ञानपुञ्ज की पूजा कर रहे हैं वह ज्ञानपुञ्ज ही मेरे ध्यान में रह गया, ऐसी तैयारी के साथ बड़ी भक्ति से आप भगवान् से रोज कह जाते हैं। तो अब सोचना चाहिए कि भगवान् के आगे हम सरासर झूठ तो न बोलें। न इतना न कर सकें तो लक्ष्य तो रहे कि हमने ऐसा कहा है और हमारे करने को इतना काम पड़ा है।

महान् कार्य के लिये महान् यत्न—यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य देव एक बहुत बड़ा काम करने जा रहे हैं ना, तो उसके लिए पहिले अपने मन को बहुत निर्मल स्वच्छ दृढ़ बना लें। कौन-सा काम करने जा रहे हैं ? जो बड़े-बड़े गणधर देवों ने जिस प्रभुता की बताने में समर्थ न हो सका तो हम लोग फिर क्या रहे ? भैया ! यद्यपि सम्भव है कि इसमें प्रवचनसार, समयसार, नियमसार इनमें कोई-कोई दोहा कोई-कोई गाथा शायद वह ही हो जो गणधरदेव अपने मुख से बोल गए हों। हो सकता है मगर पूरी उनकी वचनावली परम्परा में आज नहीं रही। उस मर्म को व्यक्त करते हैं। तो जिस मर्म को बड़े-बड़े गणधर देव भी अपनी वाणी से पूरा-पूरा व्यक्त न कर सके हों, जिससे सर्वजन समझ सकें तो हम मंदपुरुष उनके समक्ष क्या हैं ? इतने बड़े काम को करने की तैयारी में कुन्दकुन्दाचार्य देव पहिले प्रभुस्मरण करके अपने मन को गम्भीर बना रहे हैं।

पुनः पुनः वीरस्मृति—यह नियमसार ग्रन्थ है जिसे प्रत्यक्ष ज्ञानधारियों ने बनाया है, श्रुतकेवलियों ने विरूपा है। समस्त भव्य जीवों के हित करने वाले ऐसे नियमसार नामक परमागम को कहूँगा। इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्यदेव एक विशिष्ट देवता को नमस्कार करने के बाद अब इस ग्रन्थ को कहेंगे। अभी ग्रन्थ बनाने के प्रारम्भिक प्रक्रम में फिर भी प्रभु की याद बारबार आती ही है। ये प्रभुबाल बालब्रह्मचारी थे। भजनों में लोग गाया करते हैं, 'छोड़ दिया सकल परिवार चला वीरा, माता समझावति है।' अरे मेरे वीर क्यों जाते हो, माता रुदन मचाती है, पिता भी एक कोने में बैठा शोक कर रहा है। वह मानता ही नहीं है। बाल्यकाल में ही ब्रह्मचर्य जैसा दुर्धरव्रत धारण करके निष्परिग्रह रहकर यह प्रभु मौन रहे, जब तक केवलज्ञान नहीं हुआ। बड़े आदमी या तो सच बोलेंगे नहीं तो मौन रहेंगे। मुनि अवस्था से ये प्रभु मौन रहे हैं।

वीर प्रभु की त्रिलोक पूज्यता—वीर प्रभु को केवलज्ञान हुआ, तीनों लोक के जीवों ने उन्हें पूजा, मनुष्यों ने भी, देवों ने भी, अधोलोक के जीवों ने भी। तीन लोक के सारे जीव उनके चरणों में आए। सब तो नहीं आ सकते पर ऊर्ध्वलोक के इन्द्र, मध्यलोक के इन्द्र और अधोलोक के इन्द्र आ गये तो समझो सभी आ गए। मेरु की जड़ से नीचे अधोलोक माना जाता है। भवनवासी और व्यंतर के आवास मेरु से नीचे जाकर है। उनमें रहने वाले वे अधोवासी कहलाते हैं। तो जब सभी लोकों के इन्द्र उनके चरणों में आ गए तो सभी आ गए समझिए। यह तो बात आजकल काश्मीर के विषय में है कि काश्मीर को चुनने वाली उनकी जो समिति है उसने एक मत से भारत में मिलना स्वीकार कर लिया। तो इसका अर्थ है कि समस्त काश्मीर ने स्वीकार कर लिया। जब ऊर्ध्वलोक के इन्द्र चरणों में आए तो सबही ने नमस्कार किया समझिये। सारे कहाँ आ सकते हैं ? किसी -किसी के तो भाव नहीं आता होगा। मगर जब इन्द्र आ गए तो सबका आना समझ लीजिए।

वीतरागता का प्रताप—इस तरह तीन लोक के सकल जीवों के द्वारा यह प्रभु पूज्य हैं। इनका एकछत्र तीन लोक में राज्य फैला है। क्या फैला है, ज्ञानसाम्राज्य। वे राज्य को ठुकरा कर आये थे। अब तीन लोक का राज्य मिला है। अब इस संसार में नहीं भटकते हैं, अब जन्म नहीं लेते हैं, अनन्त काल के लिए निर्दोष जन्ममरणरहित अनन्त आनन्दमय हो गए। वे वीर नाथ जिसकी भी दृष्टि में आते हैं तो इसी प्रकार आया करते हैं कि समवशरण है, उस समवशरण के बीच गंधकुटी है, वहाँ जिनका निवास है। चारों ओर से देवी देवता देवांगनाएँ गायन करते हुए, बड़े-बड़े बाजा बजाते हुए जहाँ नाच कर रहे हों और तीन लोक के समस्त जीव जिनके चरणों में झुक रहे हों, यह सब किसका प्रताप है ? एक वीतरागता का प्रताप है। वीतरागता के कारण यह सारा सकल समाज नृत्य, गान करते हुए उनके चरणों में पहुँच रहा है। ऐसे शरीर से तो वे समवशरण में विराजमान् हैं और अन्तर से वे केवलज्ञान लक्ष्मी सहित विराजमान् हैं। ऐसे वीरदेव को प्रणाम करके अब कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वितीया गाथा का अवतरण करते हैं।

गाथा 2

मग्गं मग्गफलं तिय दुविहं जिणसासणे समक्खदं।
मग्गं मोक्ख उवायो तस्स फलं होइ णिव्वाणं।।2।।

जिनशासन के दो उपदेश—मार्ग और मार्गफल, मोक्ष का मार्ग और मोक्ष के मार्ग का फल, छुटकारे का उपाय और छुटकारे के उपाय का फल, संकटों से दूर होने का उपाय और संकटों के दूर-दूर होने के उपाय का फल, शांति पाने का उपाय और शांति पाने के उपाय का फल। जिन शासन के उपदेश में दो बातों पर विशेष जोर दिया गया है, ऐसा इस ग्रन्थ में जो कुछ वर्णन होगा, जिस किसी भी पद्धति से वर्णन होगा, मार्ग-मार्गफल का वर्णन चलेगा।

मार्ग और मार्गफल—इस गाथा में मोक्षमार्ग और मोक्षमार्ग के फल का स्वरूप वर्णित किया गया है। मोक्षमार्ग क्या है? सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र। तीनों का एक स्वरूप होना, सो मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन से प्रारम्भ होता है यह भी कह सकते हैं और सम्यक्चारित्र से प्रारम्भ होता है यह भी कह सकते हैं। जहाँ परद्रव्यों से भिन्न आत्मतत्त्व का अवलोकन हुआ, कर्मों से छूटने का उपाय मिला वहाँ मोक्षमार्ग का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से हुआ समझिये और एक दृष्टि से सम्यग्दर्शन ने वस्तुस्वरूप दिखाया और यह मार्ग है शांति का यह दिखाया, पर उस पर चलें तो मार्ग का चलना कहलाता है। सो सम्यक्चारित्र से मोक्षमार्ग चला। जैसे सूर्य का काम है मार्ग दिखा देना। व्यवहार भाषा में कह रहे हैं– उजेला हो गया, मार्ग दिख गया, पर चलाना काम सूर्य का नहीं है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन ने मोक्षमार्ग दिखाया पर मोक्षमार्ग पर चलना सम्यक्चारित्र से हुआ।

त्रिरत्नों का प्रादुर्भाव—यह सम्यक्चारित्र शुरू हो जाता है सम्यग्दर्शन के होते ही, पर उसकी विशेषता से बढ़-बढ़कर सम्यक्चारित्र बढ़ता रहता है। सम्यग्दर्शन के साथ स्वरूपाचरण चारित्र होता है। स्वरूपाचरण ही परमार्थ चारित्र है और आगे भी ऊँचे के गुणस्थानों में स्वरूपाचरण की वृद्धि की ही महिमा में स्वरूपाचरण की कितनी वृद्धि हुई, उसकी माप है अणुव्रत, महाव्रत आदि। तो सम्यग्दर्शन के होते ही सम्यक्ज्ञान हो

जाता है और सम्यक्चारित्र हो जाता है। परन्तु जैसे ज्ञान की पूर्णता बाद में हुई इसी प्रकार सम्यक्चारित्र की परिपूर्णता बाद में हुई है, पर किसी न किसी रूप में सम्यग्दर्शन के होते ही सम्यक्चारित्र हो जाता है और साक्षात् मोक्षमार्ग जिसके बाद मोक्ष की प्राप्ति होती है। वह है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का एक अभेदरूप हो जाना। इस गाथा में मार्ग और मार्गफल बताया जा रहा है। मार्ग तो है शुद्धरत्नत्रय, निश्चय रत्नत्रय, आत्मतत्त्व का श्रद्धान ज्ञान और आचरणरूप निश्चयरत्नत्रय और मार्ग का फल है मोक्ष की प्राप्ति, अपुनर्भव अर्थात् फिर से संसार न होना।

प्रमाद की अकर्तव्यता—भैया ! निर्वाण हुआ तो निर्वाण ही है, फिर संसार नहीं होता। जब तक निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती अर्थात् क्षपक श्रेणी पर चढ़ना नहीं होता तब तक शंका ही शंका है। जब तक क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता तब तक सम्यक्त्व की भी शंका है। हो गया और फिर मिट जाय ऐसी स्थिति हो जाती है और जो कुछ थोड़ा बहुत ऊँचा भव पा लिया, ऊँचा कुल आदि प्राप्त कर लिया, इसका तो कुछ भरोसा भी नहीं है। आज उच्च कुल पाया कल के दिन क्या पायें ?

कृतघ्नता का एक दृष्टान्त और कुफल—एक साधु महाराज बैठे थे तो उनके सामने एक चूहा निकला। वह चूहा साधु महाराज के निकट में ही रहता था। सो चूहे के आने पर एक बिलाव भी आ गया। बिलाव को देखकर चूहा डर गया, सो साधु महाराज ने दयाभाव करके चूहे को आशीर्वाद दिया कि बिडालो भव, तू बिलाव हो जा। वह बिलाव हो गया। अब बिलाव से बिलाव क्या डरे ? अब आया कुत्ता सो उस बिलाव को आशीर्वाद दिया कि श्वानभव। तू कुत्ता हो जा। सो वह कुत्ता हो गया। फिर निकला व्याघ्र, सो साधु ने उस कुत्ते को आशीर्वाद दिया कि व्याघ्रो भव। व्याघ्र हो गया, तेंदुआ हो गया। उस पर झपटा सिंह तो आशीर्वाद दिया कि सिंहो भव। अब सिंह सिंह से क्यों डरे ? उसे लगी भूख। सो सोचा कि अब क्या खायें, यही महाराज तो अच्छे पवित्र बैठे हैं, इनसे बढ़कर अच्छा मांस और कहाँ मिलेगा ? सो सिंह के मन में आया कि इन साधु महाराज को खा जाऊँ। ज्यों ही झपटा साधु ने कहा कि पुनः मूषको भव, तू फिर चूहा बन जा। वह फिर चूहा बन गया।

आत्मदेव की अकृतज्ञता का फल—इसी तरह यह जीव कुछ आत्मदेव के प्रसाद को पाकर निगोद से निकला, विकलत्रय हुआ, पंचइन्द्रिय हुआ, मनुष्य हुआ, पुण्यवान् हुआ, समर्थ हुआ। अब इतना समर्थ होकर यह मनुष्य इस ही आत्मदेव पर हमला कर रहा है। खोटा परिणाम किया, विषय-कषाय किया, कुबुद्धि जगी, रागद्वेष मोह किया, किसी को अपना माना, किसी को पराया मान लिया, यह सब इस आत्मदेव पर हमला किया जा रहा है। सो आत्मदेव को जरा ही तो आशीर्वाद देना है कि पुनर्निगोदो भव। फिर निगोद हो जाओ। इतने ऊँचे उठकर फिर निगोद में चला गया, तो अब क्या हाल होगा ? किसी चीज का भरोसा नहीं है। पूरा भरोसा तो अपने आत्मदेव की एक बार झलक हो जाय उसका भी नहीं है। बार-बार उसकी भावना हो, उसके ही भीतर रुचि हो, उसका ही पुरुषार्थ हो, तब जाकर सिद्धि होती है।

मार्गफल निर्वाण—मार्ग का फल है अपुनर्भव। फिर से भव न मिलना, इसका नाम है अपुनर्भव। इस अपुनर्भव का ही नाम निर्वाण है, अर्थात् वह सब ऊधम शांत हो जाना जो संसार में तरंग उठाकर हो जाया करते थे। इसी का नाम अपुनर्भव है। धर्म, अर्थ, काम ये तीन वर्ग जहाँ अपगत हो जाते हैं, दूर हो जाते

हैं उसका नाम है अपवर्ग। इस ही मार्ग फल का नाम है मुक्ति, छूट जाना। संसार के संकट और संकट नामकरण में जो द्रव्यकर्म और भावकर्म हैं उनका छूट जाना, इसका नाम है मुक्ति अथवा मोक्ष। तो यह है मार्ग का फल। ये दो प्रकार के मार्ग और मार्गफल हैं। ये परमवीतराग सर्वज्ञदेव के शासन में चार ज्ञानों के ध्यानी आचार्यों ने गणधरों से बताया है।

मार्ग का अर्थ—मार्ग किसे कहते हैं ? जो खोजा जाय वह मार्ग है या जिस पर गमन करके इष्ट स्थान पर पहुँचा जाय उसे मार्ग कहते हैं। इस मार्ग का नाम आजकल क्या रखा ? सड़क। शब्द अशुद्ध है। सड़क नहीं बल्कि सरक। अब देखो कि सरकता तो आदमी है और उस रास्ते का नाम सरक रखा। जहाँ आदमी सरकते हों उसका नाम सरक है। तो जिस के आधार से पथिक सरकते हैं उसका नाम है सरक। जिसके आधार से यह संसारी जीव इस वन से सरककर ऊपर पहुँचे उसका नाम है सरक। तो यह है मार्ग, पथ अपने आपके विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वरूपी आत्मतत्त्व का यथार्थ श्रद्धान् होना और ऐसा ही उपयोग बनाए रहना, उसमें ही रत रहना यही अभेदरत्नत्रय है। मार्ग और इसका फल है मोक्ष। एक शब्द में मोक्ष का उपाय कहें तो कह लीजिए परम निरपेक्ष होकर एक निज सहज स्वभाव का उपयोग में तन्मय होना यही है मोक्षमार्ग।

शान्ति का ज्ञान से मेल—निजपरमात्मतत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, परिज्ञान और उसका ही अनुष्ठान होना ही निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्ष का उपाय और उस शुद्ध रत्नत्रय का फल स्वात्मा की प्राप्ति होना है। बात बड़ी सीधी है, मगर लग रही है बड़ी कठिन। इतना सीधा काम कुटुम्ब का पालन नहीं है। आप दुकान को चलाते नहीं है, वहाँ अपना अधिकार ही कुछ नहीं है। कोई आए या न आए। परिवार के लोग आज्ञा मानें, न मानें, फिर ये समग्र परवस्तु हैं। उन परवस्तुओं का कुछ भी परिणमन हो, कदाचित् तुम्हारे मन के द्वारा भी परिणमन हो तो भी शान्ति तो मिल ही नहीं सकती, क्योंकि शांति का मेल परपदार्थ की दृष्टि के साथ नहीं है, किन्तु इस ज्ञान तो ज्ञानस्वरूप ही बसे तो उस ज्ञानवृत्ति के साथ ही शांति का मेल हो सकता है।

विशुद्ध ज्ञानार्जन का पुरुषार्थ—भैया ! अब क्या काम करना है ? ऐसा काम करो कि जिस पर सारी दुनिया पागल कहेगी। लोगों की समझ में चाहे आए नहीं। लो घर छोड़ दिया, चल दिया, इतना कमाया, मकान बनवाया, दुकान बनावाई और अब आराम के दिन थे, सो कैसी कुबुद्धि हुई कि सब कुछ त्याग दिया। अब आए थे आराम के दिन और आराम के दिनों में लात मारकर घर छोड़कर चल दिया–ऐसी भावनाएँ मोही पुरुषों की है, पर इस एक ज्ञानी को तो सारा जगत् पागल दिख रहा है और सारे जगत् को यह ज्ञानी पागल दिख रहा है। अब निर्णय यह हुआ कि जिसमें अपना उपयोग शांति में फिट बैठे वही अपना काम करना है और उसका उपाय है ज्ञानार्जन। स्वाध्याय करके, विद्याध्ययन करके, तत्त्वचर्चा करके, ध्यान करके एक इस ज्ञान का अर्जन करना, शुद्धज्ञानवृत्ति को जगाना ये एक काम है, इसे करते जाइए।

पुरुषार्थ का आवश्यक कर्तव्य—भैया ! ऐसा लगेगा बहुत दिन तक कि सफलता नहीं मिली, पर सफलता मिलने का बुद्धिपूर्वक उपाय तो यही है। अब और क्या करें, यह बतलाओ ? यहाँ कुछ ऐसा नहीं है कि इस रोजगार में फायदा नहीं दिखता है तो दूसरा रोजगार करो। अब सर्राफा में दम नहीं रहा तो बजाजा करें। अब बजाजा में दम नहीं रहा तो आढ़त का काम करें। सो अदल-बदलकर रोजगार करें। जिस

आत्मा में मोक्षमार्ग का काम नहीं है कि अरे ज्ञानार्जन से कुछ लाभ नहीं होता है, अब मनभर लड़कों से मिल लें, अब खूब धन सम्पत्ति के ही बीच में बैठ लें। उसका तो एक ही फैसला है, उसको तो दूसरा कोई रोजगार है ही नहीं। चाहे सफलता मिलती हो अथवा न मिलनी हो, कार्य करते जाओ, यह फिट बैठेगा।

उद्यम—एक बाबू साहब ने एक कुम्हार को पायजामा दिया, किन्तु पहिना हुआ होने पर भी नया-सा था। कुम्हार उस पायजामे को पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ। सो कुम्हार उस पायजामे का उपयोग करने लगा तो सिर पर बाँधे तो फिट न बैठे, क्योंकि उसकी सियन ही ऐसी थी। कोई सीधा-सा कपड़ा हो तो सिर में बाँधने पर बँध जाए। सिर में न फिट बैठा तो कमर में बाँधे, वहाँ भी फिट न बैठे, क्योंकि ऊपर का जो पोर्सन था वह ढीला-ढाला रहता है। वहाँ ठीक न बैठा तो हाथों में डाले, जब हाथ में फिट न बैठा तो उसने एक पायचे में एक पैर डाल दिया और दूसरे पायचे में दूसरा पैर डाल दिया तो फिट बैठ गया। अब वह कहता है कि ओह, अब फिट हो गया। यह पायजामा यहीं पहिनने की चीज है। जानते हो पायजामा किसे कहते हैं ? जिसमें पाँव जम जाएं, वह पायजामा है। जिसमें पाँव लात जम जाएं, उसका नाम है पायजामा। सो इसी तरह से ज्ञानार्जन के काम में बैठे रहें। अगर आज फिट न होंगे तो कभी तो फिट हो ही जायेंगे।

प्रतिभाशून्यता में विडम्बना—अपने आपमें फिट न होने का कोई दूसरा उपाय नहीं है, इसके लिये बड़े मित्र की आवश्यकता है। भाई कुछ भी चीज नहीं है, पर जो धर्म में लगायें, वह मित्र सब कुछ है। मित्र योग्य हो तो ठीक है। ऐसी दशा न हो जाये कि एक गुरु महाराज थे। उन्होंने एक शिष्य को पढ़ाया। शिष्य पढ़ने में चतुर था, मगर प्रतिभा कुछ न थी, विद्या रटंत थी। शिष्य पर गुरुजी प्रसन्न हो गये तो उसी शिष्य को अपनी ही लड़की ब्याह दी। अब वह शिष्य दामाद बन गया। वह लड़की बहुत ही रूपवती थीं, सो शिष्य एक दिन सोचता है कि ''भार्या रूपवती शत्रु:।'' स्त्री रूपवान् हो तो वह शत्रु होती है। सो उसने दोष मिटाने के लिए चक्कू से उसकी नाक काट डाली। अब शत्रु न रहेगी, मित्र बन जायेगी। उसकी बेवकूफी पर गुरुजी को नाराजगी हो गयी और दामाद को घर से निकाल दिया।

यह शिष्य जब घर से चला तो साथ में कलेवा ले लिया। कलेवा जानते हो किसे कहते हैं ? क मायने शरीर और वह जिसे लेवे, उसे कलेवा कहते हैं अर्थात् जिसे खाया जाये। अब सोचा कि किस दिशा में जाऊँ? उसे जल्दी ही स्मरण हो आया कि ''महाजनो येन गत: पन्था:।'' जिस रास्ते से बड़े-बड़े आदमी जा रहे हों, वही रास्ता चलना चाहिए। सो किसी के घर का कोई आदमी मर गया था, उसके संग में बहुत से आदमी मरघट जा रहे थे। सो वह उन्हीं के पीछे चला गया। सो वे तो वहाँ से फूँक-फाँककर चले आए, अब उसने सोचा कि साथ में कलेवा है उसे खा लें, पर ख्याल आया कि अकेले कलेवा न खाना चाहिए, बंधुओं के संग में खाना चाहिए। 'बंधुभि: सह भोक्तव्यम' बंधु कौन 'राजद्वारे श्मशाने च य: तिष्ठति स बान्धव:'। सोचा कि कचेहरी में और मरघर में जो साथ दे वही बंधु होता है। सो मरघट में एक गधा बैठा था। कहा कि यही मेरा भाई है, सो कलेवा खोलकर बैठ गया, गधे को भी पास में बिठा लिया। सो गधा भी खाता जाय और वह भी खाता जाय। सोचा कि ग्रन्थ में लिखा है कि हमारा बंधु है गधा, सो इसे

धर्म के साथ जोड़े। अब धर्म क्या है ? ढूँढ़ा तो मिल गया श्लोक–'धर्मस्य त्वरिता गतिः।' धर्म की गति बड़ी तेज होती है। सो वहाँ बड़ी तेजी से ऊँट जा रहा था, जिसकी तेजगति हो, जल्दी-जल्दी जाय उसका नाम धर्म है। मिल गया धर्म। अब बंधु को उस धर्म से जोड़ना चाहिए। सो रस्सी से गधे को ऊँट के गले में जोड़ दिया। धर्म में लगा दिया बंधु को। सो ऐसी अटपट विद्या सीख लेने से ज्ञान आत्मा में फिट तो नहीं बैठता।

ज्ञानकला का जागरण—भैया ! कितना ही अध्ययन करलें सबकी प्रायोजनिक जानन की पद्धति भूतार्थ पद्धति है। सब पर्यायों को जानें, किन्तु इस पर्याय का स्रोत क्या है ? इसे भी जानें। वह स्रोत है शक्ति। कोई शक्ति है तो उस शक्ति का मूल क्या है, जहाँ से सब अभेदरूप एक हो जाते हैं। वह है द्रव्य और वह द्रव्य क्या है, वस्तु क्या है ? स्वभाव और स्वभाव का मतलब क्या है ? स्वस्य भवनं, स्व का होना। बस इस प्रकार सहज स्वभाव पर पहुँच बने वही है ज्ञान, वही है धर्म और उसमें अपने को जोड़ा चाहिए, फिट बैठा लेना चाहिए। बस यही हुआ शुद्ध रत्नत्रय और शुद्ध रत्नत्रय का फल है निज आत्मा का आलम्बन अर्थात् जैसा सहज ज्ञायकस्वरूप यह भगवान् आत्मा है वैसा स्वरूप उपयोग में और परिणमन में यथार्थ प्रकट हो गया है, यही है मार्ग का फल। इस प्रकार इस गाथा में मार्ग और मार्ग के फल का निरूपण किया जा रहा है।

जीवों का खोजयत्न—जगत् के जीव कोई स्त्री के प्रेमजन्य सुख की तलाश में ढोलते हैं तो कोई धन के अर्जन और रक्षण में अपनी बुद्धि को भ्रमाते हैं, तो कोई जिनेन्द्रदेव के प्रणीत मार्ग को पाकर अपने आत्मा में रत होने का यत्न करते हैं। जो आत्मरति का यत्न करते हैं वे ही पंडित हैं। पंडित अर्थात् विवेक बुद्धि को जो इत हों, अर्थात् प्राप्त हों उन्हें पंडित कहते हैं। जगत् में खूब छानकर देख लो–जैसे कि कहते हैं संसारभावना में कि ''दाम बिना निर्धन दुःखी तृष्णावश धनवान, कहूं न सुख संसार में सब जग देख्यो छान।।''

जगत् की छान—जैसे कहीं सूई अंधेरे में गिर जाय तो खूब छान-छानकर देख लो रत्ती-रत्ती जगह को टटोलकर देख लो पर पता नहीं चलता कि सूई कहाँ गिरी है ? इसी तरह संसार में खूब छानकर देख लो कहीं सुख नहीं दिखता। जो निर्धन है या जिसके पास दाम कम है वह निर्धनता का ख्यल कर करके दुःखी हो रहा है और जिसके पास धन है वह तृष्णा बढ़ाकर और अधिक धन हो, इस विकल्प से दुःखी हो रहा है। जिसके पुत्र नहीं हुए वह पुत्रों का ध्यान बनाकर दुःखी हो रहा है और जिसके पुत्र हैं उसे वही तमात आपत्तियाँ नजर आ रही हैं। जिसकी इज्जत नहीं हुई वह इसी बात से दुःखी है कि मेरी इज्जत नहीं है। मेरी कोई पूछ नहीं है और जिसको इज्जत है वह उस स्थिति के विकल्प बनाकर दुःखी हो रहा है।

विकल्प से क्लेशजाल—एक सहपाठी से चर्चा करते हुए कहा कि देखो हम बताएँ अपने त्यागी महाराजों को गुस्सा क्यों आ जाता है ? कहा अच्छा बताओ। तो उन्होंने कहा कि कोई त्यागी महाराज अपने आपमें ऐसा निर्णय करलें कि में इतनी ऊँची पोजीशन का हूँ और मेरा इतना अधिक सम्मान हो ऐसा मेरा पद है, यह तो निर्णय कर चुके अपने दिल में। अब दूसरे की परिणति तो उनके आधीन है नही। कोई चाहेगा,

कोई न चाहेगा;काई कहना मानेगा, कोई न मानेगा, तब अपने में किए हुए निर्णय में कुछ कमी रह जाय तो ये गुस्सा होते हैं। ऐसा क्यों नहीं हुआ इसने विनयपूर्वक क्यों नहीं बैठाया, नमस्कार क्यों नहीं किया ? अरे ये जगत के जीव हैं, उनकी परिणति उनके आश्रित है।

शान्ति का कारण यथार्थ ज्ञान—भैया ! शांति तब मिलेगी जब त्यागी महाराज यह जान जायें कि यह पर्याय तो मेरी आफत लगी है। मैं तो एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ। यहाँ तो सारा बखेड़ा लगा है। हमारा काम तो जंगल रहने का था, कंकरीली जमीन पर लोटने का था। काई शत्रु आए, दु:ख दे तो वहाँ समता भाव करने का था। यहाँ तो सारी सुविधाएँ हैं। किस बात पर इतराना ? यह बात नहीं समाती है जब और अपनी पोजीशन का ख्याल रहता है–मैं इतना ऊँचा उठा हुआ पुरुष हूँ, बस इसी से दु:खी हो जाता है। तो कौन है इस संसार में सुखी ? सब जग छानकर देखलो अथवा जैसे छलीनी से राख छानकर उसमें से कुछ छाँट लिया जाता है इसी तरह अपनी विवेकछलनी में सारे जगत को छान लो और देख लो कि इसमें कोई सुख है ? कहीं सुख न मिलेगा। केवल कल्पना करके विकल्प बनाकर समय काट रहे हैं।

पर से अनुराग की आशा की व्यर्थता—भैया ! मनुष्यभव का इतना अमूल्य भव छोड़कर फिर कल्याण करने का मौका कहाँ मिलेगा ? अनन्त काल के समयों में 40-50 वर्ष कायह समय कुछ गिनती भी रखता है क्या ? नरजीवन के ये क्षण यों ही विकल्पों में व्यतीत हुए जा रहे हैं। इस जिन्दगी का क्या भरोसा ? सारे जीवन पर की सेवा करें, पर विघटना होता है तो एक क्षण में ही सब बिगड़ जाता है। कई वर्षों तक किये हुए प्रयत्न की कृतज्ञता कोई नहीं मान सकता क्योंकि कषाय है ना। एक बात बिगड़ जाय तो चाहे कितना ही उपकार किया हो, दूसरे का वह सब भूल जाता है। और फिर यह कह देते हैं कि देखो हमें पिता ने कहाँ पाला, अजी पिता ने हमें कहाँ पैदा किया ? उसने तो कषाय करके अपने विषय को पुष्ट किया और पाला पोषा भी हमें कहाँ? विकल्प ही बनाया। यह तो उदय की बात है। खैर कुछ हो। इस जगत में कितना ही किसी के लिए श्रम करें, पर वस्तुस्वभाव तो न बदल देंगे प्रत्येक द्रव्य केवल वह खुद में ही रहता है, परिणमता है। क्या उनका स्वरूप बदला जा सकेगा ? जीव की खोज अनेक प्रकार के विषयों में सुख के लिए होती रहती है, पर पंडित चतुर वही है जो जिनवर के मार्ग को प्राप्त करके अपने आत्मा में रत होता है। मुक्ति को प्राप्त वही होगा। अब नियमसार शब्द का अर्थ बताते हुए नियमसार में क्या बात वर्णन में आयेगी, इसका संक्षेप में दिग्दर्शन कराते हैं।

गाथा 3

णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं।।3।।

नियमसार—जो नियम से करने योग्य है उसको नियम कहते हैं। वह नियम है ज्ञान दर्शन और चारित्र। नियम शब्द का अर्थ है विशेषरूप से जहां यम हो, फिट बैठता हो, स्थिरता हो उसको नियम कहते हैं। तो इस जीव का परम कल्याण रूप एक यही स्थिरता का पद है कि अपने उपयोग द्वारा उपयोग स्वरूप को ग्रहण करे और ऐसा ही ग्रहण करता हुआ निरन्तर बर्ते। यही नियम है। नियम और नियमसार, इनमें कुछ

अन्तर तो नहीं है। उसी का ही नाम नियम है, उसी का नाम नियमसार है, पर थोड़ी और विशेष दृष्टि ऐसी डाल ली गयी कि उस नियम में सार तत्त्व होना है। परमार्थ होना, विपरीत नहीं होना, विषय-कषाय रूप नहीं होना मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान मिथ्या चारित्र रूप नहीं होना और व्यवहारधर्म क्रिया की अटक करके उसही में अपने कर्तव्य की इतिश्री न जाना जाय, इन सब बातों से अपने को सुरक्षित रखने के लिए सार शब्द दिया है।

नियमसार शब्द का वाच्य स्वभावरत्नत्रय—जैसे समय और समयसार। वही समय है जो शुद्ध आत्मतत्त्व है, सहजस्वरूप है। अब समय को सामान्य कहकर कि सभी आत्मा हैं, उसमें सार जो ध्रुव तत्त्वभूत है सो समयसार है। नियम शब्द का अर्थ हुआ रत्नत्रय और उसमें सारभूत लगाने से अर्थ हुआ स्वभावरत्नत्रय स्वरूप। जैसे सिद्ध की पूजा में पढ़ते हैं ना ''समयसार सुपुष्प सुभातया सजकर्म करेण विशोधया। परमयोग बलेन वशीकृतं सहज सिद्धमहं परिपूजये।।'' मैं इस सहजसिद्ध को पूजता हूँ। पूजता हूँ इतना ही नहीं, परिपूजता हूँ, अर्थात् सर्व ओर से अभिसमन्तात मैं इसे पूजता हूँ। पूजना, भजना, अर्चना, चर्चना–ये सब एकार्थक शब्द है। मैं इस सहजशुद्ध को पूजता हूँ। वह सहजशुद्ध कौन है ? तो इसमें दोनों ओर दृष्टि जाती है, सिद्धभगवान अथवा शुद्ध ज्ञायकस्वरूप।

सहजसिद्ध स्वरूप—यह सिद्ध है, अर्थात पूरा बना हुआ है और सहज सिद्ध है, सहज पूर्ण है, उस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप को मैं पूजता हूँ। काहे के द्वारा ? समयसाररूपी पुष्पमाला के द्वारा किसको पूजता हूँ ? समयसार को। किसके द्वारा पूजूँ ? समयसार के ही द्वारा। यह पुष्पमाला कैसे बनायी जाय ? माला तो लोग हाथ से गूँथ लेते हैं। तो यह माला किस तरह गूंथें? तो सहज जो कर्म है, परिणमन है, सहज क्रिया है वही हुआ हाथ। उन हाथों के द्वारा बनायी गयी है। ऐसे माला के द्वारा परमयोग बल से वशीभूत इस सहज सिद्ध को मैं पूजता हूँ। ऐसा स्वभाव रत्नत्रय अथवा निश्चय रत्नत्रय का स्वरूप इस नियमसार में बताया गया है।

सहज परमपारिणामिक भाव—जो सहज परमपारिणामिक भाव में स्थित है, स्वभाव अनन्त चतुष्टय स्वरूप है। ऐसा जो शुद्ध ज्ञान चेतना का परिणाम है उसे नियम कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ में सहज पारिणामिक स्वरूप होता है। जिसमें स्वरूप तो वही शाश्वत रहता है और जो स्वरूप की रक्षा के लिए उसके अनुरूप उसमें निरन्तर परिणमन चलता रहता है उन सब परिणमनों की स्रोतभूत जो शक्ति है उसे पारिणामिक भाव कहते हैं। यह शुद्ध ज्ञान चेतना परिणाम परमपारिणामिक भाव स्वरूप है। सर्व से विविक्त केवल स्वरूप मात्र भाव को शुद्ध ज्ञान चेतना परिणाम कहते हैं। यह स्वभाव अनन्तचतुष्टय रूप है, प्रभु सिद्ध भगवान व्यक्त अनन्त चतुष्टय रूप है और यह सहज सिद्ध आत्मतत्त्व स्वभाव अनन्तचतुष्टयरूप है।

स्वभाव और शुद्ध परिणमन के वर्णन की एकता—भैया ! शुद्ध विकास और सहज स्वभाव इन दोनों का स्वरूप एक होता है। जैसे निर्मल जल और जल का स्वभाव इन दोनों का वर्णन तो करिये। जितना वर्णन आप निर्मल जल का कर सकेंगे उतना ही वर्णन आप जल का कर सकेंगे। सिद्ध भगवान का जो व्यक्त स्वरूप है उसका जो कुछ वर्णन है वही वर्णन आत्मा के सहज स्वभाव का है। उनमें व्यक्त अनन्त चतुष्टय है तो सर्वजीवों का स्वभाव अनन्त चतुष्टय है। न हो तो प्रकट कैसे हो ? सिद्ध प्रभु कुछ नई चीज नहीं

बने हैं किन्तु जो थे वही केवल रह गये हैं। इसी को सिद्ध भगवान् कहते हैं। केवल रह जाना इसी के मायने प्रभुता है।

प्रभु की प्रभुता—देखो भैया ! इस प्रभु की प्रभुता जैसे कोई बड़ा आदमी प्रसन्न हो तो बड़ी बात कर सकता है और अगर बिगड़ जाय तो बिगाड़ करने में भी सामर्थ्य चाहिए ना, सो बिगाड़ कर देता है। यह प्रभु जब प्रसन्न होता है निर्मल होता है तो सर्वज्ञता का व्यवहार करता है। यही प्रभु जब बिगड़ता है तो यह भी क्या कम प्रभुता है कि पेड़ बन जाय, डाली-डाली, पत्ते-पत्ते बनकर फैल जाय, पतले-पतले तनों में प्रदेश फैल जाएँ, हरा भरा बना रहे, यह इस बिगड़े हुए प्रभु की प्रभुता है। जो कुछ संसार में गुजर रहा है, कोई पशु है कोई कीड़ा है, कोई पेड़ है, ये सब बिगड़े हुए इस प्रभु की प्रभुता है। उसमें भी बड़ी सामर्थ्य चाहिए ना। कर दे कोई वैज्ञानिक ऐसी प्रभुता का काम तो हम भी समझें। बना तो दे कोई वैज्ञानिक इस चेतना को।

हितकारिणी प्रभुता—यह ज्ञायकस्वरूप भगवान् आत्मा इस संसार में अपनी प्रभुता विकाररूप में बना रहा है पर इसमें क्लेश ही है, इसमें सार नहीं है। जब इसे ज्ञान होता है कि मैं अपनी प्रभुता का दुरुपयोग कर रहा हूँ, प्रभुता तो अपूर्व है, अपने स्वरूपचतुष्टय को पहिचाने तो फिर उन विषयकषायादिक परिणमों से उपेक्षा करके अपने स्वरूप का श्रद्धान् करना, ज्ञान करना और आचरण करना, इससे रत्नत्रयस्वरूप प्रकट होता है। यही है मार्ग, यही है नियम, यही है नियमसार। इस नियम के द्वारा नियम के आश्रय से नियम से जो कार्य किया जाय, वही प्रयोजन स्वरूप है, वही नियमसार है, अर्थात् ज्ञानदर्शन और चारित्र है।

निजपरमात्मत्व का परिज्ञान—ज्ञान किसे कहते हैं ? परद्रव्यों का आलम्बन न करके सर्व प्रकार अन्तर्मुख अपनी योगशक्ति लगाकर, अन्तर्मुख उपयोगी होकर जो निज-परमात्मत्व का परिज्ञान होता है, जो कि उपादेयभूत है वही है ज्ञान। इस लक्षण में ज्ञान पाने की तरकीब भी बता दी गयी है। इसको दो बातों में जान लीजिए। एक तो परद्रव्यों का आलम्बन छूटे और दूसरे अन्तर्मुख अपना उपयोग जाय, दो ही तो ये बातें हैं।

आत्मत्वपरिज्ञान के दो मुख्य उपायों का विवरण—इन दोनों बातों को और सरल भाषा में यों समझियेगा कि एक काम तो यह है कि समस्त परद्रव्यों को भिन्न जानकर, असार जानकर, अपना दुर्लभ अवसर बिगाड़ने ही वाला जानकर उन समस्त परद्रव्यों को अपने उपयोग से हटा दो। तुम्हारे उपयोग में जो आता हो, कोई विकल्प आता हो, कोई धन प्राप्त करने का उपायरूप विकल्प आता हो उन सबके प्रति यह तो ध्यान करिये कि ये सब असार बातें हैं, भिन्न हैं, अहित की बातें हैं। कुछ न रहेगा अंत में, खाली विकल्प करके जैसा यह पातकी बना वही रह जायेगा। कैसा भी विचार बनाओ वहां नियत स्वलक्षण देखो, स्वरूपास्तित्त्व देखो, सबको भिन्न जानो, असार जानो, अहितरूप जानो। किसी भी परद्रव्य में उपयोग न दो। कोई कहेगा कि परद्रव्य में उपयोग न देने की बात तो साहब कठिन है। इतना करा दो फिर हम आगे तो बढ़ लेंगे। अरे इसे खुद कर लो, कोई दूसरा आकर न करायेगा।

निज परमात्मत्वपरिज्ञान का द्वितीय मुख्य उपाय—दूसरा काम करना यह है कि जो अपने में जानता हुआ रहता है ना सदैव वह जानना क्या है? किस स्वरूप का है, जानने की शकल क्या है, जानने का रूपक

क्या है ? उस जानने के स्वरूप के ही जानने में लग जायें, चीजों के पीछे न पड़ें, परचीजों को जानते हैं तो पर के पीछे न पड़कर उसका जो जानन हो रहा है वह जानन किस ढंग का है, उसका क्या स्वरूप है ? इसके जानने में लग जायें। और आप आत्मा का भी जानन कर रहे हों तो वहां भी आप आत्मा के पीछे न लगें किन्तु वहां भी वह जानन किस तरह का हो रहा है ? उस शुद्ध जानन का क्या स्वरूप है ? जहां मात्र जानन ही जानन की बात हो उस जानन के स्वरूप को ही जानने में लग जायें, ये ही दो बातें यहां कही गयी हैं। तो इस उपाय के द्वारा निज परमतत्त्व का परिज्ञान होता है।

निजपरमात्मत्व के परिज्ञान में अन्त:पुरुषार्थ की आवश्यकता—इस निजतत्त्व के परिज्ञान में अंत:पुरुषार्थ करना होता है। मात्र ऊपरी दृष्टि रखकर दूसरों को समझाया दूसरों को उपदेश आदि की कोई दृष्टि रखकर जो जानन का यत्न होता है उससे निज परमतत्त्व का परिज्ञान नहीं होता है, किन्तु परद्रव्यों का परिहार करके सर्वयत्न से अपने आपके अन्तर्मुख होकर ज्ञान परिणमन करने से निज परमतत्त्व का ज्ञान होता है। उस ही ज्ञान को यहाँ नियमसार में कहा गया है।

सम्यक्त्व का आधार स्थान—नियमसार सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र को कहते हैं। जिसमें सम्यग्ज्ञान का स्वरूप तो संक्षेप में बता दिया गया था। अब सम्यग्दर्शन का स्वरूप कह रहे हैं। निज शुद्ध जीवास्तिकाय में जो निज सहज स्वभाव का परम श्रद्धान है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस आत्मा को चार प्रकार से दिखाते हैं–जीव पदार्थ, जीव द्रव्य, जीवास्तिकाय और जीवतत्त्व–ये चार प्रकार की देखने की पद्धति हैं–द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का आश्रय करना। जब द्रव्य का आश्रय करके जीव को देखा जाय तो यह जीवपदार्थ के रूप में देखा जाता है। जब क्षेत्र का आश्रय करके इस जीव को देखा जाय तो जीवास्तिकाय के रूप में देखा जायेगा और काल की दृष्टि से जीव को देखा जाय तो जीवद्रव्य के रूप में देखा जायेगा। और जब भाव की प्रमुखता से इस निज को देखा जायेगा तो जीवतत्त्व के रूप में देखा जायेगा। चूँकि श्रद्धान आदिक अवस्थाएँ इस जीवभूमि में होती है, अत: शुद्ध जीवास्तिकाय में समुपजनित परमश्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है, यह कहा गया है।

द्रव्यदृष्टि से जीव की परख—जब द्रव्य की दृष्टि से देखा तो इस जीव को जीव पदार्थ कहते हैं 'गुण पर्ययवत् द्रव्यम् ।' गुणपर्याय का पिण्ड द्रव्य होता है। द्रव्य की दृष्टि में चैतन्य द्रव्यात्मक निरखा जाता है और व्यवहार में भी समन्वय हुआ, इस तरह द्रव्यदृष्टि से तो पुद्गल पकड़ा जाता है मुख्यतया, क्योंकि वह पिण्डरूप में साफ नजर आता है। हाथ में लेकर बता सकें कि यह है घड़ी, यह है स्कंध, यह है पुद्गल। तो यद्यपि ये चार दृष्टियाँ सभी पदार्थों में हैं, फिर भी व्यवहारिकता में द्रव्यदृष्टि से पुद्गल का निहारना स्पष्ट होता है। और क्षेत्रदृष्टि से आकाशद्रव्य का समझना स्पष्ट होता है और कालदृष्टि से कालद्रव्य का निहारना स्पष्ट होता है और भावदृष्टि से जीववस्तु का निहारना स्पष्ट होता है–ये चारों सभी वस्तुओं में हैं, पर प्रमुखता की बात कही है। गुणपर्याय का पिण्ड यह जीववस्तु है, ऐसा जब देखा तो जीव पदार्थ दीखा। पदार्थ का शब्दार्थ है, पद का अर्थ है जो जीव पद कहा गया है उसका वाच्यभूत पिण्ड जो है उसे पदार्थ कहते हैं। तो एक पिण्डरूप नजर आए यह जीव अनन्त शक्ति का पुञ्ज है, अनन्त परिणमन का पुञ्ज है और जीव में पुञ्ज नहीं निरखा जाता है पर समूहात्मकता को पिण्ड कहते हैं। यों द्रव्यदृष्टि से यह जीव

पदार्थ देखा गया है।

क्षेत्रदृष्टि से जीव की परख—क्षेत्रदृष्टि से देखो तो विस्तार विस्तंभ प्रदेश फैलाव यह दृष्टि बनेगी। क्षेत्रदृष्टि करके हम जीव को देखें और राग दिख जाय, ऐसा न होगा या ज्ञानात्मक कोई गुण दिख जाय, ऐसा न होगा क्योंकि दृष्टि लगायी है क्षेत्र की। इस दृष्टि में तो असंख्यातप्रदेश हैं, इतने विस्तार वाला है, इतना फैला हुआ है, यह दिखेगा और इस दिखने में यह जीव अस्तिकाय नजर आयेगा। अस्तिकाय कहते हैं उसे जो है और परिणमता है। जीव में बहुत प्रदेश हैं, यह बात क्षेत्रदृष्टि से ग्रहण में आयेगी।

कालदृष्टि से जीव की परख—जब कालदृष्टि की प्रमुखता करते हैं तो यह न नजर आयेगा कि जीव इतना लम्बा चौड़ा फैला हुआ है। क्योंकि कालदृष्टि की प्रमुखता से जीव को निहारने जा रहे हैं। वहाँ जो परिणमन होगा, रागरूप, द्वेषरूप, विवेकरूप, ज्ञानरूप वह नजर आयेगा। पर्याय प्रमुख हो जायेगी और पर्याय की प्रमुखता से जीव का नाम है जीवद्रव्य। द्रव्य उसे कहते हैं, अदुद्रवत् द्रवति द्रोष्यति पर्यायवान इति द्रव्यम् । जिसने पर्यायों को उत्पन्न किया, ग्रहण किया, पर्यायों को कर रहा है, पर्यायों को करेगा वह द्रव्य कहलाता है। जीवद्रव्य कहने से परिणमन की प्रमुखता आती है।

भावदृष्टि से जीव की परख—जब भावदृष्टि को मुख्य बनाते हैं तो भाव मायने शक्ति ध्रुव गुणस्वभाव। उस दृष्टि को प्रमुख करके अपने आपको देखेंगे तो यह जीवतत्त्व के रूप में विदित होगा।

अन्तस्तत्त्वविलास की भूमि—जहाँ श्रद्धान् परिणमन हुआ वह है शुद्ध जीवास्तिकाय। शुद्ध, जिसमें पर की लपेट नहीं, केवल जीव ही जीव फैला हुआ है;ज्ञान ज्योतिस्वरूप शुद्ध जीवास्तिकाय में उसही का श्रद्धान होना सो सम्यग्दर्शन है। यह जीवास्तिकाय, आत्मभूमि का शुद्ध अंतस्तत्त्व के विलास का जन्मभूमिस्थान है। यह शुद्ध अन्तस्तत्त्व अर्थात् ज्ञायकस्वभाव विकसित कहाँ से होता है, वह है यही शुद्ध जीवास्तिकाय अर्थात् आत्मभूमि। उसमें उसही का श्रद्धान हुआ।

सम्यक श्रद्धान का अधिकारी—यह श्रद्धान किसके होता है ? जो भगवान् परमात्मदेवत्व के सुख का अभिलाषी हो अर्थात् जो शुद्ध आत्मीय आनन्द का प्रयोजक हो, ऐसे भव्य जीव के श्रद्धान् होता है। जैसे मोटे रूप में यहीं परखिये। जिसने अपने जीवन में यह उत्सुकता बनायी है कि मैं इन मनुष्यों के बीच में कुछ शान से रहूं, इनमें महान कहलाऊँ, मेरा किसी से अपमान न हो, मेरे अनुसार सब चलें, जिसकी ऐसी दृष्टि होगी, जिसने ऐसा जीने का लक्ष्य बनाया होगा उसको यह बात आ पड़ेगी ही कि वह अच्छा महल बनवाए, धन को बढ़ाये, सरकार में अपनी पैठ बनाए, ये सब उसकी तृष्णायें जगेंगी।

ज्ञानी की संवेगभावना—जिसके अन्तर में यह भावना जागृत हुई है कि इस मायामय जगत् में मायामय प्राणियों से हम अपने लिए क्या कहलाएँ ? ये भिन्न हैं, अपने परिणमन से परिणमकर समाप्त हो जाते हैं, इनसे मेरे हित का कोई सम्बन्ध नहीं है, न इन पर मेरा सुख दु:ख निर्भर है, ये सब मेरी ही तरह अथवा मेरे से भी मलिन परिणामों सहित अपना जीवन गुजार रहे हैं, ये भी अपने क्लेश भोग रहे हैं, ऐसे क्लेश भोगने वाले मायामय मनुष्यों से मुझे क्या कहलाना है ? आज मनुष्य हैं, थोड़े ही समय बाद मरकर कहीं के कहीं पहुँच गए, तब फिर मेरे लिए कहाँ क्या है ? अगर अपना जीवन इन्हीं लल्लोचप्पों के ही करने में बिता दिया;प्रेम करके बिता दिया, अपना आत्मसमर्पण करके बिता दिया तो फिर अपने कल्याण का

अवसर और कहाँ मिल सकेगा ? यह समय भी गया। अपना यह दुर्लभ नरजीवन अज्ञानी बनकर ही बिता दिया तो उससे कुछ भी लाभ न होगा। बाहर में मेरे लिए कोई कुछ नहीं है। न मेरे लिए शरण हैं, न सहाय हैं।

संतोषकारी वृत्ति—भैया ! यह सारा जगत जिसे असार विदित हुआ है उसके लिए तृष्णा की क्या गुञाइश है? उसका उत्साह ही उस ओर न जगेगा। रही गुजारे की बात। जहाँ पुण्य के उदय में ऐसा श्रेष्ठ भव पाया है, कुल पाया है, धर्म संगति प्राप्त की है वहाँ गुजारे की क्या जरूरत? रही एक मन के ऊधम की बात। कोई कहे कि भाई 4 रुपया तो रोज हमारे बीड़ी, सिगरेट, पान के लिए हों, तो इस ऊधम का तो कोई इलाज नहीं है मगर गुजारे के लिए कोई कितनी ही महंगाई का जमाना हो पर टोटा नहीं है। अगर समझते हो कि गुजारे का टोटा है तो जरा अपने से हीन परिस्थिति वाले और बहुकुटुम्बियों पर दृष्टि दो तो देखो कि वे भी जिन्दा हैं कि नहीं। वे भी गुजारा करते हैं कि नहीं। इस जीवन का लक्ष्य क्या है ? बड़ी ठाठबाट आराम से जीवन गुजारना ही लक्ष्य बनाया है क्या ? यह जीवन बुझ जायेगा फिर क्या होगा आगे ? सो स्पष्ट है।

सुयोग के दुरुपयोग का फल—हमने यदि अपने आपका अनुराग न किया, आत्मदेव का स्पर्श न किया और बाहरी आश्रयभूत विषयों का ही ध्यान बनाया तो परिणाम स्पष्ट है कि अब कुछ आगे न मिलेगा। मन का दुरुपयोग किया, दूसरे का बुरा विचारा तो कर्म भी यह कहेगा कि इस जीव को मन की जरूरत नहीं है क्योंकि मन दिया तो उसका उपयोग नहीं किया, इसलिए अब क्या जरूरत है इस मन को मन की। तो यह मन बिना बिल्कुल असंज्ञी बन गया। इन कानों का दुरुपयोग किया, राग भरी बातें सुनी, नाच गाना हुआ तो वहाँ बहुत जल्दी मन लग जाय। उसके लिये कहीं टिकट लेने जाना पड़े तो घंटों से खड़े रहें। कानों का दुरुपयोग किया तो (अलंकार में कह रहे हैं) यह विधि सोचता है कि इस भैया को कान की जरूरत नहीं है, यह तो बिना ही कान के ठीक रहेगा, तो बनेगा चौइन्द्रिय। आँखों का दुरुपयोग किया, रागदृष्टि से सुहावनी वस्तुओं को देखना और दुरुपयोग करना, यों आँखों का दुरुपयोग किया तो आँखों की भी अब क्या जरूरत है ? सो तीनइन्द्रिय ही रहना ठीक है।

धिक् किनको ? एक सभी जुड़ी हुई थी, बरात की महफिल थी, सो उसमें गाने नाचने को एक वेश्या बुलाई गयी। खूब लोग जुड़े हुए थे। मृदंग, हारमोनियम, मंजीरा सब ठाठबाट थे। उस समय के ठाठबाट को एक कवि ने बताया कि मिरदंग कहे धिक् है धिक है, मंजीरा कहे किनको किनको, तब वेश्या हाथ पसार कहे इनको, इनको, इनको। क्या कहा कवि ने, कि महफिल में मृदंग बज रहा था तो वह यों ही बोलता है ना कि धिक है, धिक है, तो उसकी आवाज आती थी कि धिक्कार है, धिक्कार है। तो मंजीरा पूछता है कि किनको धिक्कार है ? ऐसी ही तो आवाज किनको किनको की निकलती है मंजीरा से, तब वह मृदंग तो जवाब नहीं देता लेकिन जो वेश्या नाच रही थी सो मानो वेश्या कह रही है इनको-इनको इनको-इनको। चारों दिशाओं में बैठे हुए लोगों की तरफ हाथ फैला-फैला कर मानो कह रही है कि इनको धिक्कार है। तो रागभरी इस तरह की बातें सुनने में इन मोही जीवों का उपयोग लग रहा है। सो क्या जरूरत है कानों की और आँखों की, अन्य कर्मठ इन्द्रियों की, सो सब सपाट होकर फैसला निगोद का

ही मिलेगा।

विवेकपूर्वक चाह की छांट—तो भैया ! यह निर्णय करो कि तुम्हें क्या चाहिए ? पहिले चाह की खूब छांट कर लो। फिर मिल जाना बहुत जल्दी होगा। पहिले चाह ही ठीक बना लो–क्या आत्मसुख चाहिए या वैषयिक सुख चाहिए। वैषयिक सुख के पीछे बड़ी आकुलताएँ सहनी पड़ती। परपदार्थों की बड़ी रक्षा करना पड़ती है कि मन माफिक इनका परिणमन हो और इतने पर भी विघ्न आएँ तो उनको दूर करने में युद्धसा मचाओ, सारी परेशानी करके तो मिलता है वैषयिक सुख, तिस पर भी, सुख भोगने के काल में शांति नहीं किन्तु आकुलता से ही उपभोग होता है। और इतना ही नहीं, उपभोग के पश्चात् महान् पछतावा और आकुलता होती है। क्या चाहिए तुम्हें ? पहिले उस चाह की छांट कर लो।

एकस्वरूपी जीवों में भी भेद बैठाकर कठिन पक्षपात—जगत् में अनन्त जीव हैं, उन अनन्त जीवों में से घर में पैदा हुए दो चार जीवों को अपना मानना और शेष सब जीवों को पराया मानना, इसको कितना बड़ा अंधेर और अज्ञान कहा जाय ? ऐसी क्या आफत आयी कि उन झूठे भिन्न समस्त जीवों की ही तरह अपने ही स्वार्थ में रहने वाले अपने ही विषय-कषाय खुदगर्जी में रहने वाले उन दो चार जीवों को अपना सब कुछ मान लेना और उनके लिए तन, मन, धन, वचन सब समर्पण खुशी से कर रहे हैं। बाकी जीवों में ये भी जीव हमारी ही तरह हैं ऐसा हृदय में नहीं सोचते। इसे कितना बड़ा अज्ञान माना जाय ? फिर और अज्ञान पर अज्ञान चले। घर के बाल बच्चों का तो खैर थोड़ा सा भार है, लेकिन ये मेरी समाज के हैं, ये मेरी बिरादरी के हैं–ऐसा मानना कितना बड़ा अंधेर है ? अच्छा और जाने दो। जिस त्यागी का प्रथम परिचय हुआ उसे मानते हैं कि यह तो दूसरे के त्यागी हैं। इसे कितना भ्रम और अज्ञान कहा जाय ? अपने पर दया नहीं आती।

आत्महित की आत्मा में खोज—भैया ! अपने स्वरूप को तो समझो, सर्व जीवों पर सही निगाह तो बनावो। मिलेगी जो कुछ अपने को कल्याण की बात वह अपने द्वारा अपने में ही मिलेगी। अन्यत्र कितनी ही टकटकी लगाकर प्रतीक्षा करें, केवल क्लेश ही है, लाभ कुछ नहीं है, यह तो हुई सम्यग्दर्शन की बात, अब चारित्र की भी बात देख लो। निश्चय ज्ञान दर्शनात्मक जो कारणपरमात्मा है उसमें अविचल रूप से स्थित हो जाना इसका नाम है चारित्र।

आत्मतत्त्व की त्रिरूपता—भैया ! परमात्मतत्त्व को 3 प्रकार से निहारिये –द्रव्यरूप कारणपरमात्मतत्त्व, पर्यायरूप कारणपरमात्मतत्त्व और कार्यपरमात्मतत्त्व। कार्यपरमात्मतत्त्व है अरहंत और सिद्ध। जिनका सहजस्वरूप निरपेक्ष स्वयं जैसे तत्त्व को लिए हुए हैं वैसा ही प्रकट हो गया है उसे कहते हैं कार्यपरमात्मा और इस कार्यपरमात्मा होने से पहिले जो शुद्ध आत्मतत्त्व है उसे कहते हैं पर्याय रूप कारण परमात्मा और जो प्रत्येक आत्मा का सहज स्वभाव है उसे कहते हैं ओघ कारणपरमात्मा।

परमार्थशरण कारणपरमात्मतत्त्व—यह कारणपरमात्मतत्त्व इस द्रव्यरूप कारणसमयसार के लिए अध्यात्मशास्त्र में प्रयोग किया जाता है क्योंकि इस समस्या का समाधान यह कारणपरमात्मतत्त्व ही है। किस समस्या का ? कि हम किसका आश्रय करें जिससे हमारी शुद्ध परिणति बने, परपदार्थ का तो यह आत्मा निश्चय ही नहीं कर सकता, क्योंकि अपने जीवास्तिकाय को छोड़कर अन्यत्र इसके गुणों की गति

नहीं है। चाहे प्रभु अरहंतदेव हैं, सिद्ध देव हैं, उनके इस गुण की गति नहीं है। यह आत्मा अपने जीवास्तिकाय में रहते हुए ज्ञान द्वारा ऐसा ग्रहण करता है कि जिसमें अरहंत और सिद्ध के स्वरूप का विषय होता है पर आश्रय नहीं कर सकता। आश्रय तो यह स्वयं का ही कर सकता है, सो स्वयं है वर्तमान में अशुद्ध और अनादि से ही चला आया है यह अशुद्ध। तो क्या इस अशुद्ध के आश्रय से शुद्ध परिणति बनेगी ? यह भी बात सम्भव नहीं है। तब यह निर्णय करना कि अपने आपका जो अपने आपके सत्त्व के कारण सहजस्वरूप है चित्स्वभाव, चित्प्रकाश, कारणपरमात्मतत्व है उस शुद्धस्वरूप का आश्रय करें तो शुद्ध वृत्ति जगेगी।

ज्ञान की अबाध गति—यह कारणसमयसार चाहे परिणमन में अशुद्ध है पर ज्ञान की ऐसी पैनी दृष्टि होती है कि यह ज्ञान अशुद्ध अवस्था में भी अशुद्ध में न अटक कर, अशुद्ध को छोड़कर भीतर गमन करता है और शुद्ध को ग्रहण कर लेता है। जैसे हड्डी का फोटो लेने वाला यंत्र कपड़ों को, चमड़े को, खून को, मांस को न ग्रहण करके केवल हड्डी का फोटो ले लेता है। जैसे आपकी कोई कीमती चीज तिजोरी में बक्स के अन्दर पोटली में बंधी है, मोती हीरा कुछ भी हो, आप यहाँ बैठे-बैठे एकदम उपयोग से हीरा को ज्ञान से पकड़ जाते हैं। घर के किवाड़ लगें हों तो आपका ज्ञान दरवाजे पर न अटक जायेगा कि किवाड़ खुलें तो हम भीतर जाएँ। तिजोरी के फाटक में न अटक जायेगा सीधा वहीं पहुँच जाता है। इसी प्रकार इस अशुद्ध अवस्था में भी भेदविज्ञान के बल से अपने नियत लक्षण का आलम्बन करके यह उपयोग उन सब परिणमनों को छोड़कर अंत: शुद्ध चैतन्यस्वरूप को ग्रहण कर सकता है। इस शुद्ध चित्स्वभाव के आश्रय से शुद्ध परिणति होती है।

ज्ञानी की नियमसार की भावना—ऐसे निश्चयज्ञान दर्शनात्मक कारणपरमात्मतत्त्व में अविचलरूप से स्थित होना इसको ही कहते हैं चारित्र। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र यही नियमसार कहा है और सार शब्द को लगाने से यह जानना कि इस स्वरूप से अतिरिक्त और जो कुछ बात है, परिणमन है वह नियमसार नहीं है। ऐसे नियमसाररूप अपने आपकी वृत्ति जगाने के लिए कुन्दकुन्दाचार्य देव ने इस नियमसारग्रन्थ को बनाया है। ज्ञानी जीव रत्नत्रय के स्वरूप को जानकर यह भावना करते हैं कि मैं विपरीत आशयरहित सम्यग्दर्शन को, विपरीत ज्ञानरहित सम्यग्ज्ञान को और विपरीत परिणतिरहित सम्यक्चारित्र को प्राप्त करके मैं आत्मीय आनन्द को प्राप्त होऊँ। अब इस ही रत्नत्रय का वर्णन जानने के लिए रत्नत्रय का भेदपूर्वक वर्णन कर रहे हैं।

गाथा 4

णियमं मोक्खउवायोओ तस्स फलं हवदि परमणिव्वाणं।
एदेसिं तिण्हं पि य पत्तेयपरूवणा होइ।।4।।

मोक्ष और मोक्षोपाय—मोक्ष नाम है ऐसे अपूर्व महान् आनन्द के लाभ का जो कि सहज स्वाधीन है और समस्त कर्मों के विध्वंस हो जाने के निमित्त से प्रकट हुआ है, ऐसे सहज परिपूर्ण आनन्द के लाभ का नाम है मोक्ष और महान् आनन्द की प्राप्ति का उपाय है निरतिचार रत्नत्रय की परिणति। आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान

और आत्मरमण हैं महान आनन्द के प्राप्त करने का उपाय, इसी का ही नाम मोक्ष है, सर्वसंकटों से छुटकारा हो जाना और स्वाधीन सहज शाश्वत आनन्द का लाभ होना। ज्ञान, दर्शन, चारित्र इन तीनों का अब जुदा-जुदा प्ररूपण करते हैं।

परमार्थत: वस्तु की एकरूपता—भैया ! यद्यपि किसी भी पदार्थ में उसका स्वरूप एक है और प्रतिसमय परिणमन एक है। उस वस्तु में न कोई गुणभेद है और न वस्तु में पर्याय का भेद है। एक समय में एक वस्तु का एक ही परिणमन होता है और वह जिस रूप है उस ही रूप है, पर व्यवहार में उसकी समझ करने के लिए पर्याय का भेद किया जाता है और पर्यायभेद के माध्यम से गुणभेद किया जाता है और इसी कारण किसी द्रव्य में जब कोई बात विलक्षण मालूम होती हो तो झट एक गुण और मान लेते हैं। जब गुणभेद किया जाता है तो कुछ भी विलक्षणता प्रतीत हुई कि उसकी ही आधारभूत शक्ति और मान लो।

चित्स्वभाव की त्रिशक्तिरूपता—यहाँ प्रयोजनभूत शक्ति को तीन भागों में बांटा है–ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति और चारित्रशक्ति। चूँकि प्रत्येक जीव इन तीनों बातों में मिल रहा है। कुछ न कुछ वह ज्ञान करेगा और कहीं न कहीं उसका विश्वास होगा, और किसी न किसी जगह वह रमेगा। ये तीनों बातें प्रत्येक जीव में पायी जाती है, चाहे एकेन्द्रिय हो चाहे पंचइन्द्रिय हो, प्रत्येक जीव में ये तीन प्रकार की वृत्तियाँ पायी जाती हैं और कार्य भी तब होता है जब तीनों में भोग रहता है।

ज्ञान, श्रद्धान, आचरण बिना कार्य न होने के कुछ उदाहरण—दुकान का काम क्या विश्वास, ज्ञान और आचरण के बिना हो सकता है ? नहीं हो सकता। दुकान के लायक ज्ञान होना चाहिए, विश्वास होना चाहिए और फिर उसको करने लगे तो दुकान का काम बनता है। किसी को कोई बड़ा संगीतज्ञ बनना है तो उसके चित्त में कोई एक बड़ा संगीत में जो निपुण हो उसका नाम रहता है, उसकी श्रद्धा है, इस तरह हम बन सकते हैं। अपने आपमें यह श्रद्धान है उसे कि हम संगीत सीख सकते हैं और फिर संगीत की विधियों का वह ज्ञान करे और फिर बाजा लेकर उस पर हाथ चलाने लगे तो अभ्यास करते-करते संगीतज्ञ हो सकता है। छोटा छोटा अथवा बड़ा काम कोई भी हो, श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र के बिना नहीं होता।

धर्मकार्य के लिये श्रद्धान ज्ञान आचरण का विश्लेषण—यह धर्म का भी काम, मोक्ष का काम, संकटों से छूटने का काम श्रद्धान ज्ञान और चारित्र बिना नहीं होता। इसका नाम है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। तो वस्तु एक है, आत्मा एक है और वह परिणम रहा है जो कुछ सो परिणम रहा है। अब उसकी समझ बनाने के लिए उसमें यह भेद किया जा रहा है कि यह तो ज्ञान है, यह दर्शन है और यह चारित्र है। तो उन दर्शन, ज्ञान, चारित्रों का लक्षण अब अगली गाथाओं में शुरू होगा। वस्तुत: मोक्ष का उपाय आत्मा की निर्दोषता होना है। अब उस परिणति को हम भेदकल्पना करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के रूप में जानते हैं, यह अनुकूल कल्पना है, वस्तुस्वरूप के अनुसार है, इसलिए यह वस्तु के स्वरूप तक पहुँचाने वाला कथन है। भेदकल्पना करके जो वर्णन किया जाय वहाँ भेदकल्पना में अटकने के लिए वर्णन नहीं है किन्तु वह तो एक संकेत है।

आत्मा की अभेदरूपता के परिचय का फल—वस्तुत: ये तीनों भिन्न नहीं हैं। ज्ञानस्वरूप आत्मा है, आत्मा

को छोड़कर अन्य कुछ ज्ञान नहीं है। दर्शन भी आत्मा है, आत्मा को छोड़कर दर्शन अन्य कुछ नहीं है और चारित्र भी आत्मा है। ऐसे इस आत्मस्वरूप को जो जानता है और उसमें ही रमण करता है वह फिर जन्म नहीं लेता। इसको किन्हीं शब्दों से कह लो। माता के उदर में फिर नहीं पहुँचता, फिर माता का दुग्धपान नहीं करता अर्थात् जन्म नहीं लेता, निर्वाण को प्राप्त होता है। करके देखो तो बात मालूम होती है कि क्या शांति है ? क्या आनन्द है ? वह तो करे बिना अनुभव में नहीं आता है। और करना भी बड़ा सुगम है दृष्टि हो जाय तो। बाहर तो सब जगह आफत ही आफत है। किस पदार्थ में हित का विश्वास करें ? कौन शरण है, किसकी शरण गहे ?

जीवों के प्रति व्यापक उदारदृष्टि की प्राथमिकता—भैया ! जैसे जगत के सभी जीव भिन्न हैं, अपने स्वरूप को लिए हुए हैं इसी प्रकार गोष्ठी में और कुटुम्ब में जो दो चार जीव हैं वे भी मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। वे अपने स्वरूप को लिए हुए हैं। कितना मोह का गहरा अंधकार है कि उनके पीछे अपने आपको बरबाद किए जा रहे हैं। उनका पालन पोषण करना यह खुद के हाथ की बात नहीं है। खैर करे कुटुम्ब के पोषण का काम व विकल्प, किन्तु उनके अतिरिक्त अन्य जीवों को कुछ भी न देखना, न उनमें कुछ दया आए, न उनके साथ न्यायवृत्ति रखे, यह तो महामोह है। भैया ! किसी जीव पर अन्याय तो न रखे, न पोषण कर सकें हम दूसरों का, कुटुम्ब को छोड़कर तो उस जातीयता के नाते कि ये भी जीव है उन पर अन्याय तो न करें, इतनी बुद्धि नहीं जगती, यह मोह का बड़ा अंधकार है।

अब उन तीन तत्त्वों में प्रथम सम्यक्त्व का वर्णन करते है।

गाथा 5

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं।
ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो।।5।।

निष्पक्ष आप्तस्वरूप—आप्त आगम और तत्त्व के श्रद्धान होने से सम्यक्त्व होता है। यह व्यवहार सम्यक्त्व का स्वरूप कहा जा रहा है। आप्त कहलाता है जो शंकारहित है। मोह रागद्वेष आदिक सर्व शंका और दोष जिसके दूर हो गए हैं, ऐसे निर्दोष वीतराग सर्वज्ञदेव को आप्त कहते हैं। उनका यथावत् श्रद्धान होना चाहिए। देव वह है जिसमें किसी प्रकार का दोष न हो और अपने ज्ञानादिक गुणों का परिपूर्ण विकास हो गया हो, वह देव है। नाम से क्या मतलब ? नाम की बात तो यह है कि नाम लेकर यदि देवों को पुकारेंगे तो नाम का सम्बन्ध होने से जो दृष्टि बनती है उस दृष्टि में देव का दर्शन नहीं होता है और जिस दृष्टि में देव का दर्शन होता है उस दृष्टि में नाम नहीं रहता है। देव किस नाम का होता है ? कोई आत्मा यदि निर्दोष है और गुणों के चरम विकास को प्राप्त है वही हमारा देव है।

देव की आदर्शरूपता—देव क्या है ? आदर्श है। हमें भी ऐसी स्थिति चाहिए, ऐसा जिस पर लक्ष्य जाय उसी का नाम देव है। स्त्री सहित, पुत्र सहित, शस्त्र सहित देव का स्वरूप माना जाय तो उसका अर्थ यह है कि उसको ऐसी स्थिति चाहिए कि ऐसी स्त्री मिले, ऐसा पुत्र हो, ऐसा वाहन हो, ऐसा हथियार हो। तो जो जैसा बनना चाहता है वैसा जिसका स्वरूप है वही देव है उसके लिए। जैसे संगीत शिक्षार्थी के लिए

देव कौन है ? जो देशभर में संगीत में निपुण हो। जो उदाहरण बने, आदर्श बने वह उसके लिए देव है। कोई-सा भी काम सीखो तो उस काम में जो सर्वाधिक निपुण हो ऐसा कोई भी कहीं का हो, वही उस सीखने वाले के लिए देव है। तो जिन्हें निर्दोष और गुणों से परिपूर्ण बनना है उनका देव ऐसा ही होगा कि जो निर्दोष हो और गुणों में परिपूर्ण हो। ऐसी आप्त की श्रद्धा होने से सम्यक्त्व जगता है।

आगम और तत्त्वार्थ—आगम–आप्त के मुखारविन्द से जो कुछ दिव्यध्वनि निकले, जो समस्त विभावों का वर्णन करने में समर्थ है ऐसा जो वचनसमूह है उसका नाम आगम है। आगम में जो बात लिखी है उसक वाच्य है, प्रयोजनभूत तत्त्व है उसकी श्रद्धा बनती है। एक आगम की श्रद्धा और एक तत्त्व की श्रद्धा, आगम की श्रद्धा पहिले है, तत्त्व की श्रद्धा का उसके बाद का विकास है। बहिरात्मत्व, अन्तरात्मत्व और परमात्मत्व के भेद से ये तत्त्व तीन तरह के हैं। जीव में या तो बहिरात्मापन पाया जाता है या अन्तरात्मत्व मिलता है। सर्व जीव इन तीन भागों में बँटे हैं और इन तीनों अवस्थाओं में अन्वयरूप से रहने वाला एक कारण परमात्मत्व है।

अन्तस्तत्त्व व अन्तस्तत्त्व के तीन रूपों का विश्लेषण—इन्हीं चार स्वरूपों को जागृति, सुषुप्ति, अंत:प्रज्ञ और तुरीयपाद शब्दों से कहा गया है। जागृति बहिरात्मपने को कहते हैं, जो व्यवहार में खूब जगे उसे कहते हैं जागृति, यही है बहिरात्मा की दशा। और सुषुप्ति सो गसा, चिप गया भीतर में उसे मानते हैं अंतरात्मा की दशा। सुनने में ऐसा लगता है कि सोया हुआ बुरा होता है, जगा हुआ अच्छा होता है मगर उस सिद्धान्त में जगा हुआ माना गया है अज्ञानी को और सोया हुआ माना गया है ज्ञानी को। सोये हुए की पद्धति तो देखो वह अपने आपमें चिपा हुआ है। यों ही अन्तरात्मा अपने आपके ज्ञान में चिप गया है और अंत:प्रज्ञ दशा है परमात्मा की। प्रज्ञ हो गया है प्रकर्ष ज्ञानी हो गया है और उन तीनों अवस्थाओं में जो एक स्वरूप है उसे कहते हैं तुरीयपाद याने चौथा चरण। उसके लिए कुछ नाम नहीं मिला। यदि नाम रखोगे उसके ही नाम का कोई विशेषण रख दिया जायेगा। वस्तु पकड़ में न आयेगी इसलिए तुरीयपाद कहा गया है।

विशेषकत्वरहित शुद्ध नामों का अभाव—आप कोई ऐसा नाम बताओ जो तारीफ करने वाला न हो और सिर्फ वस्तु का नाम भर हो जैसे चौकी। तो क्या यह चौकी का नाम है ? चौकी उसे कहते हैं जिसके चार कोने हों। इस शब्द ने तारीफ कर दिया है, नाम नहीं बताया है। घड़ी–जो घड़कर बनायी गयी हो उसका नाम घड़ी है। इस शब्द ने तारीफ की है, नाम नहीं बताया है। छत। इसका शुद्ध शब्द है क्षत–जो ठोंक पीटकर बनायी जाय, जो क्षतविक्षत करके बनायी जाय उसका नाम छत है। तो शब्द ने नाम नहीं बताया किन्तु तारीफ करदी–चौखट चारों तरफ जिसमें खट हों जो ऊपर सिर में खट्ट से लग जाय, नीचे सोये तनिक लेटे-लेटे सरक दें तो नीचे की देरी खट लग जाय, अगल-बगल सिकुड़ कर न जाय तो डंडा लग जाय सो जिसमें चार तरफ खट हों सो चौखट है। तो इस शब्द ने भी तारीफ ही कर दी। कौन-सा नाम है ऐसा जो वस्तु की विशेषता न बताता हो। जैसे दरी। शुद्ध शब्द है देराई। जिसके बिछाने में देर लगे उसे दरी कहते हैं। बड़ी मुश्किल से बिछाए। सिकुड़ें पड़ जायें फिर उसे सुधारे, फिर गुड़ी पड़ जाय फिर सुधारे। इस तरह जिसके बिछाने में देर लगे उसका नाम दरी है। तो इसमें भी शब्द ने तारीफ कर दी है। चटाई–जो चट आए सो चटाई। आई, झट डाल दिया–उसका नाम है चटाई। तो दुनिया में किसी वस्तु

का नाम ही नहीं है, सब तारीफ करने वाले शब्द हैं।

आत्मपदार्थ के भी विशेषकत्वरहित शुद्ध नाम का अभाव—अच्छा आत्मा का नाम बताओ जो ठीक नाम बैठे तारीफ न करे। मुझे तारीफ करने वाला शब्द न चाहिए, क्योंकि जो शब्द तारीफ करेगा वह हल्की बात कहेगा, पूरी बात न कहेगा, एक अंश की बात कहेगा। आत्मा का नाम बताओ। जीव–जो प्राण धारण करे सो जीव नाम कहाँ हुआ ? आत्मा सततं अतति इति आत्मा, जो निरन्तर ज्ञानरूप परिणमता रहे उस का नाम है आत्मा। नाम कहाँ हुआ ? तारीफ उसकी कर दी। ज्ञाता जो जाननहार है सो ज्ञाता। नाम तो नहीं हुआ। उसके कई गुण बताये हैं ज्ञायक यह भी ज्ञाता की ही तरह है। जो जाने सो ज्ञायक। तो कोई ऐसा शब्द नहीं है जो आत्मा का शुद्ध नाम हो। अंश नहीं बताये, पूर्ण अंशों को बता दे ऐसा कोई नाम नहीं है, इसलिए कहते हैं तुरीयपाद।

सकल आत्माओं का त्रिविधता में विभाजन—समस्त जीव इन तीन तत्त्वों में बंटे हैं। बहिरात्मा किसे कहते हैं, जो बाहर की बातों को जाने उन्हें ही अपना आत्मा माने उसका नाम बहिरात्मा। अपने आत्मा से बाहर जो कुछ भाव है, जो कुछ पदार्थ है उसको आत्मरूप से अंगीकार करना उसे कहते हैं बहिरातमा। अन्तरात्मा–जो अपने अन्तर की बात अन्तर के स्वरूप को ही आत्मा माने उसका नाम है अन्तरात्मा। ज्ञानानन्द स्वभावमात्र जैसा कि सहज स्वरूप है उसको आत्मा मानना उसे कहते हैं अन्तरात्मा और परमात्मा कहते हैं उसे जो परम आत्मा है परम का अर्थ है–परमा लक्ष्मी विद्यते यत्र सह परम:। जहाँ उत्कृष्ट ज्ञान लक्ष्मी पायी जाय उसका नाम है परम और परम आत्मा का नाम है परमात्मा। परमात्मा कितने होते हैं ? अनन्त। और अंतरात्मा कितने मिलेंगे ? अनन्त नहीं। अनन्त से बहुत कम याने असंख्यात और बहिरात्मा कितने मिलेंगे ? अनन्तानन्त।

परमात्मा शब्द में वर्तमानतीर्थङ्कर संख्यासूचक सुयोग—वैसे प्रसिद्धि ऐसी है कि भगवान 24 होते हैं। अभी बच्चों से कहा कि चौबीसों भगवान के नाम बताओ तो वे झट बोल देंगे। अर्थात जो 24 तीर्थङ्कर हुए हैं, उनको कहते हैं कि भगवान चौबीस हैं। औरों ने भी भगवान के 24 अवतार माने हैं। तो अब एक चीज जरा देखो। परमात्मा की ऐसी लिखावट है कि उनके अंकों का जोड़ 24 होता है। प यों लिखते हैं 5 जैसे। र यों लिखते हैं सो 2 जैसा लगता है और बड़ा मां यों लिखते सो $4\frac{1}{2}$ जैसा लगता है और फिर आधा त यों लिखते हैं कि 8 जैसा मालूम होता है और बाद में बड़े या महाराज आ गए सो $4\frac{1}{2}$ जैसा मालूम होता। इन सबको जोड़ लो तो 24 की संख्या होती है। तो परमात्मा की लिखावट में भी 24 की धुनि पड़ी हुई है। कुछ यहाँ ऐसा कार्य कारण नहीं लगा लेना कि परमात्मा में 24 अंक बसे हैं इसलिए 24 होते हैं। तीर्थंकर भरत ऐरावत में 24 प्रकृत्या होते हैं तो परमात्मा वह है जिसमें उत्कृष्ट ज्ञान लक्ष्मी प्रकट हुई है। अथवा जैसे तीन तत्त्व बताये गए हैं, दूसरी प्रकार से 7 तत्त्व श्रद्धा के योग्य हैं–जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष।

व्यवहार और निश्चय की उपादेयता—इस तरह आप्त आगम और तत्त्व के श्रद्धान से सम्यग्दर्शन होता है और इसके श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। अर्थात ये सब स्थितियाँ निश्चय सम्यक्त्व के योग्य बनाने का अवसर देती हैं। सबकी जरूरत है। आज कुछ जानकार हो गए, पढ़ लिखकर समझदार हो गए

तो सबके लिए एकसी बात कही जाय कि भाई यही है निश्चय रत्नत्रय और बाकी सब हेय हैं, त्यागने योग्य हैं। सर्व साधारण के लिए यह उपदेश फिट नहीं हो सकता, हम ही अपनी स्थिति को विचारें, हम क्या करते थे, फिर क्या किया, फिर कैसे उन्नति हुई ? आज जान गए कि वास्तविक स्वरूप क्या है ? सो उपदेश में यथापद योग्य उपदेश हो।

व्यवहारसम्यक्त्व में प्रभुभक्ति की प्राथमिकता—यह व्यवहार सम्यक्त्व का स्वरूप यहाँ बताया गया है जो कि निश्चय सम्यक्त्व का कारणभूत है। जिस पुरुष के अन्दर भगवान् में तीव्र भक्ति नहीं प्रकट होती है वह पुरुष आगे बढ़ने का पात्र भी नहीं हो पाता। वह संसारसमुद्र के बीच में गोते ही लगाता रहता है। हम कुछ तत्त्व चर्चा करना जानते हैं या तत्त्वचर्चा का प्रवाह यह उठा है, उसमें ही रम जायें और हममें प्रभु के प्रति तीव्र अनुराग का परिणाम न जगे जिसमें कि गुणों के स्मरण का आनन्द रहता है और अपने दोषों का पछतावा होने से विशाद जगता है, ऐसे आनन्द और विशाद दोनों का मिश्रण कराकर पाप धोने वाली भक्ति यदि हम अपने आपमें प्रकट नहीं कर पाते हैं तो आज के समय में तो हम आगे धर्मग्रहण के मार्ग में प्रगति नहीं कर सकते। तो व्यवहार सम्यक्त्व की भी आवश्यकता है जो कि हमारी आगामी प्रगति का कारण है।

प्रभुभक्ति का प्रभाव—प्रभु की भक्ति की प्रगति का इस जीवन में बहुत बड़ा आधार है। पूज्य श्री वादिराज मुनि ने बताया है कि हे प्रभो ! शुद्ध ज्ञान भी हो जाये, शुद्ध चारित्र भी हो जाय तो भी जब तक आपमें उत्कृष्ट भक्ति नहीं जगती जब तक मुक्ति के द्वार में लगे हुए किवाड़ों को खोलने की कुञ्जी उसे नहीं मिलती है। बुद्धिपूर्वक चलकर पुरुषार्थ तो करना है प्रभुभक्ति का और जब प्रभुभक्ति से हम समर्थ हो जायें तो समाधि का होना यह मेरे सहज होगा। यह प्रभु 18 दोषों से रहित है और अनन्त चतुष्टय करि के सहित हैं। वे 18 दोष कौन हैं जिनसे प्रभु रहित हैं।

गाथा 6

छुहतण्हभीरु रोसो रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू।
सेदं खेद मदो रइ विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो।।6।।

अठारह दोषों का प्रभु में अभाव—18 दोष हैं क्षुधा, तृषा, भय, रोष, राग, मोह, चिंता, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, पसीना, खेद, घमंड, रति, आश्चर्य, निद्रा, जन्म और उद्वेग। ये दोष भगवान् में नहीं होते हैं। अब इन दोषों का लक्षण सुनिए।

क्षुधा दोष का विवरण—क्षुधा किसे कहते हैं ? असातावेदनीय के तीव्र उदय से व उदीरणा से तीव्र मंद क्लेश के रहते हुए क्षुधा होती है, अर्थात् क्षुधा उत्पन्न करने में सहायक ऐसा असाता वेदनीय कर्म निमित्त हो उस समय जो शरीर में एक विशिष्ट दशा होती है भूख जैसी, तो वहाँ क्षुधा की वेदना होती है। भूख को कोई बता सकता है क्या ? जैसे कोई बच्चे लोग कभी-कभी कहते हैं कि हमें भूख लगी, तो उनसे कहो कि जरा दिखाओ तो अपनी भूख, तो क्या कोई अपनी भूख दिखा सकता है ? नहीं दिखा सकता है। अरे कहाँ भूख लग बैठी, यह कहाँ लगती है ? भूख कहाँ लगती है ? पेट में। पेट के ऊपर भूख

लगती है कि भीतर लगती है ? पेट के भीतर लगती है। तुमने ही बता दिया कि भीतर भूख लगती है अब हम तुम्हें क्या उत्तर दें।

क्षुधा और बुभुक्षा के वाच्य का अन्तर—आप हमसे पूछें कि भूख कहाँ लग रही है ? तो आपको हम क्या कहेंगे कि हमें पता नहीं कुछ भी कि कहाँ भूख लग रही है ? भूख की बात पूछो तो भूख का संस्कृत शब्द है बुभुक्षा माने भूख भोक्तुं इच्छा इति बुभुक्षा। भूख का अर्थ भोगने की इच्छा, खाने की इच्छा। अब बताओ भूख शरीर में लगी कि आत्मा में ? अर्थ पहिले समझ लो। बुभुक्षा मायने खाने की इच्छा। तो खाने की इच्छा आत्मा में लगी कि शरीर में ? भूख आत्मा में लगी। पहिले शब्द का अर्थ समझो। और क्षुधा कहाँ लगी ? तो क्षुधा का क्या अर्थ है ? उसका भी अर्थ है विक्लव करना आपत्ति करना। तो भूख मायने खाने की इच्छा वह तो हुई जीव में और शरीर में जो हल्कापन-सा है वह है क्षुधा। इसे आप बता नहीं सकते हैं। क्षुधा लगती तो भैया हमारे भी है पर हम बता नहीं सकते कि क्षुधा क्या कहलाती है ? पेट में कुछ नहीं रहता, रीता-सा रहता है। उसमें आल्पीनें-सी गड़ती रहती हैं। ऐसी एक विशिष्ट दशा हो जाती है वह है शरीर में क्षुधा। इस प्रकार शरीर की क्षुधा अवस्था होने पर खाने की जो इच्छा जगती है वह इच्छा होती है जीव में, जीव को वेदना होती है इच्छा से। तेज भूख लगी तो अधिक वेदना होती है और हल्की भूख लगी तो हल्की वेदना होती है। वह है क्षुधा नाम का दोष।

तृषादोष का विवरण—तृषा कैसी है कि असाता वेदनीय के उदय से तीव्र तीव्रतर और मंद मंदतर पीड़ा रूप तृषा उत्पन्न होती है। देखो–क्षुधा में तो दो जाति की वेदना है–तीव्र और मंद और तृषा भी दो जाति की वेदना है, तीव्र तीव्रतर और मंद मंदतर। बहुत हल्की, हल्की, तेज और बहुत तेज। ऐसी 4 वेदनाएँ होती हैं। प्यास में और भूख में दो तरह की वेदनाएँ होती हैं–तीव्र और मंद। तो प्यास में हल्की से हल्की वेदना और तेज से तेज वेदना है, किन्तु भूख में न बहुत हल्की वेदना रहती है और न अत्यन्त तेज वेदना रहती। बहुत से लोग प्यास से मर जाते हैं भूख से नहीं मरते। इसका यह कारण है कि तीव्रतर वेदना प्यास में होती है, भूख में तीव्रतर वेदना नहीं होती है। किसी को जरा-सी भी प्यास लगी हो तो झट महसूस हो जाती है और भूख जरा-सी लगी हो तो पता ही नहीं रहता। तो भूख अत्यन्त हल्की कभी नहीं होती। प्यास अत्यन्त हल्की भी होती है।

क्षुधा तृषा का नरलोक व्यवस्था में सहयोग—ये क्षुधा तृषा की वेदनाएँ आप्त भगवान् में नहीं है। ये दो बड़ी कठिन वेदनाएँ हैं भूख और प्यास की। मनुष्य के भूख और प्यास न लगती होती तो बड़ा अंधेरा यहाँ मच जाता, फिर कोई व्यवस्था ही यहाँ न हो पाती। जैसे देव हैं, उनके भूख प्यास नहीं लगती। मगर वहाँ अंधेर यों नहीं मच रहा है कि वे न दुकान करें, न रोजगार करें, न कमायी का कोई काम करें, भूख प्यास की वेदना नहीं रही मगर फिर भी उनका बुरा हाल हो रहा है और यहाँ भूख प्यास तो लगे नहीं साथ पोजीशन के लिये दुकानें व्यवसाय किये ही जायें तो यहाँ जो अंधेरा मच जायेगा उसका प्रलय जैसा रूप हो जायेगा। मनुष्य भूख प्यास के आगे घुटने टेक देते हैं।

क्षुधा तृषा का मोक्षोपायार्थियों में स्थान—वैसे तो भैया ! जहाँ भूख प्यास की वेदना होती है उस ही भव में मुक्ति का उपाय बन सकता है। जहाँ-जहाँ भूख प्यास की वेदना होती है वहाँ से मुक्ति का रास्ता खुला है

यह तो नहीं कह रहे किन्तु मुक्ति का मार्ग उस भव से ही मिलता है जिस भव में भूख और प्यास की वेदनाएँ हुआ करती हैं। जहाँ भूख और प्यास की वेदनाएँ नहीं हैं, वहाँ सम्यक्चारित्र भी नहीं बनता। ऐसा जानना कि भोगभूमिया जीव हैं, देव व नारकी हैं उनको उस भव से मुक्ति नहीं बतायी गयी है। अरहंत के क्षुधा और तृषा की वेदना नहीं है किन्तु वे मुक्त स्वरूप हैं।

भयदोष में इहलोकभय का विवरण—तीसरा दोष बताया जा रहा है भय। भय 7 प्रकार के होते हैं। इस लोक का भय–हाय मेरी जिन्दगी कैसे चलेगी, मेरा गुजारा कैसे होगा, कैसे-कैसे कानून बन रहे हैं, यह इतनी जायदाद रह सकेगी कि नहीं, आदि नानाप्रकार की विकल्प धाराएँ चलवाना और सामने आने वाली विपत्तियों से घबड़ाना–ये सब इस लोक के भय हैं। कितने ही भय हैं इन जीवों में और ये समस्त भय एक आत्मा के आश्रय से समाप्त हो जाते हैं। भैया ! वह जीव बड़ा सुरक्षित है जिसमें विषय वांछाएँ परिग्रह संचय या यश कीर्ति का फैलाना ये परिणाम नहीं होते। वह मनुष्य नहीं है वह तो प्रभु का छोटा भाई है।

भ्रमी का बेतुकी श्रम—ये विकार पिरणाम जिस जीव के होते हैं उस समय यह मूर्ख बनता, आकुलताओं में पड़ता और भविष्य की आकुलताएँ भी लाद लेता है। अंत में फल क्या मिलता है ? कुछ नहीं। बाल-बच्चों के लिए, कुटुम्ब–परिवार के लिए कितना-कितना श्रम करते हैं और ऐसा निर्णय करके बैठे हैं कि जितना भी धन कमाते हैं वह सब कुटुम्ब के लिए ही है अन्य कार्य के लिए नहीं है। अपना सारा श्रम कुटुम्ब के लिए ही करेंगे, औरों के लिए नहीं। रात दिन किसी जगह बैठे हों जब मन में चिंतन करेंगे तो कुटुम्ब का चिंतन करेंगे। वह ऐसा है, उसे यों करना है, उसे यों सुखी करेंगे, निरन्तर चिंतन चलाया करते हैं। और प्रेमपूर्वक अपना हृदय देकर वचन बोलने का यदि कुछ यत्न है तो कुटुम्ब के लिए है। यह दशा है मोहग्रस्त जीवों की। भला बताओ कि उनके हृदय में भगवान् का निवास कैसे हो ? उनके उपयोग में प्रभु की भक्ति कैसे आए ?

हृदयवास अथवा पूजा—जब तक हृदय में स्वच्छता नहीं उत्पन्न होती तब तक प्रभु का स्मरण ही नहीं हो सकता। वैसे पूज तो रहे सब लोग निरन्तर किसी न किसी को, पर कोई भगवान् को पूज रहा है, कोई किसी को पूज रहा है। हृदय में जिसका रात दिन अधिक समय तक निवास होता हो उसको ही वह पूज रहा है। कोई स्त्री को पूज रहा है, कोई बच्चों को पूज रहा है, कोई धन को पूज रहा है। तो कोई पंडित चतुर जिसका निकट संसार हो उसको वह पूज रहा है। पूजा बिना कोई नहीं रहता। जिसके हृदय में जिसका अधिक समय तक निवास हो वह उसको ही पूजता है।

हितकारिणी पूजा का निर्णय—भैया ! अब यह निर्णय कर लो कि किसको पूजने में भलाई है, इस आत्मा को कौन शांति दे सकता है ? यह उपयोग अपनी श्रद्धा में है, इससे चूककर बाहर फिरकर किसी परपदार्थ का आश्रय करें वह तो भटका हुआ लिया दिया रीता उपयोग है उसमें शांति प्रकट होने का माद्दा नहीं है। किसी भी परवस्तु को यदि हम अपने उपयोग में रखते हैं तो उससे नियम से अशांति उत्पन्न होगी। कोई न कोई प्रकार की आकुलता आ जायेगी। भगवान् की भक्ति लाभ देती है ठीक है मगर बिना कुछ आकुलता के हम प्रभु की भक्ति भी नहीं कर सकते हैं। खैर ! पूर्ण शांति की अवस्था पर दृष्टि रहती है तो हमें प्रभुभक्ति से बहुत लाभ मिलता है। तो जितना गंदा हो, मलिन हो, विषयकषायों के बोझ से

लदा हो उसे प्रभुभक्ति बड़ा लाभ देती है। कितने संकट दूर हो जायें, कितने पाप दूर हो जायें तो आकुलता समाप्त हो जाती है यह प्रभुभक्ति में गुण है।

शुभराग में भी क्षोभ का स्थान—भैया ! फिर भी उपयोग चूँकि अपने स्वामी को छोड़े हुए हो और बाहर में किसी शुद्ध तत्त्व का भी ध्यान कर रहा हो तो विकारों का बहिर्गमन तो बराबर है। बहिर्गमन में ही यह कला है कि आकुलता रहती है। किसी को शिखर जी जाने की मन में इच्छा हुई तो उस इच्छा से अंत:आकुलता हुई ना कि मुझे शिखर जी जाना है। यद्यपि और भी बहुत से काम हैं जिनसे आकुलता होती है। यहाँ कुछ अच्छे ढंग की आवश्यकता है सो बता रहे हैं। मन, वचन, काय का यत्न किसी न किसी आवश्यकता बिना नहीं होते हैं। कोई बुद्धिपूर्वक मन का यत्न करे, देह का यत्न करे तो वह क्षोभपूर्वक होता है, लेकिन मलिन क्षोभ को मिटाने के लिए कोई शुभ क्षोभ हो तो उस क्षोभ को भला समझना।

अल्प आकुलता में स्वस्थता का व्यवहार—जैसे किसी के 105 डिग्री बुखार चढ़ा हो और उतरकर 99 डिग्री रह जाए तो कहता है कि अब मेरा स्वास्थ्य बहुत अच्छा है। अरे ! अच्छा कहाँ है ? वह तो 105 डिग्री बुखार के सामने कम है। सो अपने स्वास्थ्य को अच्छा मानता है। यदि विषयकषायों में गया हुआ उपयोग है तो वह तो बहुत अस्वस्थता की बात है और प्रभु या गुरु या चर्चा में लगा हुआ जो उपयोग है, वह क्या स्वस्थता की बात नहीं है ? है, किंतु परमार्थ से स्वस्थता परमार्थ प्रभु या गुरु में उपयोग जाए वह है।

भय का मूल तृष्णा—इस जीव ने अपने आपमें इस लोक का भय लगा लिया है, यह सब तृष्णा का परिणाम है। तृष्णा जगे बिना भय नहीं हो सकता। भय होता है तो समझो कि किसी न किसी प्रकार की तृष्णा है, इस कारण से भय होता है। इस लोकभय से यह मनुष्य कितना ग्रस्त है ? इतना तो भय पशु-पक्षियों में भी नहीं है। पशु-पक्षी निर्भय होकर यत्र-तत्र विचरते रहते हैं, उनके साथ बखेड़ा कुछ भी नहीं रहता है। परमार्थ से ऐसा नहीं कह रहे हैं, पर वर्तमान देखकर कह रहे हैं कि मनुष्य के संग में इतना बखेड़ा लगा है कि स्वतंत्रता से किसी जगह भ्रमण नहीं कर सकता। किसी भी समय यह मनुष्य अपने को अकेला नहीं अनुभव कर सकता। कितना बोझ यह मनुष्य लादे है ? पैसे का बोझ है, बैंक में हिसाब रखे हैं, दुकान करे है, उस पैसे की रक्षा का बोझ लदा है, रिश्तेदारों का बोझ है, कोई रिश्तेदार नाराज हो गया तो उसे खुश किया, उनका सन्मान किया, यह मनुष्य कितना-कितना बोझ लादे है, पर पशु-पक्षियों के कुछ भी बोझ नहीं लदा है।

मनुष्य के भय की विशेषता—भैया ! भय की भी बात देखो कि पशु-पक्षियों को कोई भय नहीं। कोई लाठी लेकर मारने को तैयार हो या मुक्का मारे तो पशु-पक्षी डरते हैं, वरना वे न डरेंगे। पर इस मनुष्य को कितना डर लगा है ? सो उनकी क्या व्याख्या करें, सभी जानते हैं। यश में फर्क पड़ जाए, किसी बात में फर्क पड़ जाये, धन में कमी आ जाये, इस प्रकार के कितनी तरह के भय इस मनुष्य में लगे हैं। सो यह जीव अनेक भयों से दबा है। उन भयों में से एक भय इहलोकभय है।

परलोकभय का विवरण—दूसरा भय परलोकभय है।

प्रश्न–जो समझदार है, उन्हें ही भय लगा है परलोक का और जो मानते ही नहीं, वे नास्तिक हैं। उन्हें काहे का परलोकभय ? उनके मन में कल्पना ही नहीं होती कि हाय ! मैं मरकर क्या बनूँगा ?

उत्तर–जब मरण का समय आता है तब सम्भव है कि किसी को ऐसा मालूम होता हो कि हाय मैं मरकर कहाँ जाऊँ ? जो जिंदगीभर परलोक को मना करता हो, प्राय: यह सम्भव है कि वह मनुष्य मरते समय परलोक के बारे में कुछ न कुछ ख्याल करता हो और न रखता हो कुछ भी ख्याल तो भी वहाँ अधिक भय होता है अज्ञान के कारण। हम मर रहे हैं, अब क्या होगा ? अपने बारे में कोई ख्याल, परलोक सम्बन्धी कोई ख्याल उस मनुष्य को मरते समय आ ही जाता है।

धर्मशून्य जीवन वाले का मरणकाल में शोक—जिन्होंने अपने जीवन में धर्म की साधना नहीं की, उन्हें मरते समय बहुत क्लेश होता है। यदि उजड्ड ही रहे और मर गये तो इस तरह का क्लेश है कि हाय मेरा घर छूटा, परिवार छूटा, स्त्री पुत्र छुटे, बस नहीं चलता। आँखों से दिख रहा है कि ये छूटे जा रहे हैं, हम मर रहे हैं तो उजड्ड हों तो उसके दु:ख ही रहता है और कुछ समझदारी आयी तो यह दु:ख रहता है कि हाय मैंने सारी जिंदगी मान, माया, लोभ में बिताया, मैंने अपना कुछ भी हित नहीं किया। न प्रभुभक्ति की, न अपना ध्यान बनाया, सब तरह से उसने अपने को बरबाद किया, यों उसके क्लेश हो गया। जिसने जीवन में धर्म नहीं किया, उसको मरते समय क्लेश होता है।

कृपणता की वेदना—भैया ! जिसने अपने जीवन में कमाई भी खूब की, दान भी खूब दिया, खूब धर्मसाधना भी की, सत्संग भी किया, सर्वप्रकार से अपने यत्नभर धर्मसाधन में लगा, उदारता में इसका जीवन व्यतीत हुआ, मरण समय में भी उसे शांति रहती है। ऐसे जीव जिसने न अपने लिये खाया अच्छी तरह, न कोई दान दिया–ऐसे पुरुष मरते समय बहुत ही आकुलित होकर मरते हैं। कम से कम जिसने भोग भोगा, अपने लिए खर्च किया, वह इतना तो सोचता है कि हमने कमाया है तो खर्च भी किया है, इससे कुछ संतोष होता है, किंतु उन कृपणों को जो अपने लिये खा भी नहीं सकते आर पर के लिये दे भी नहीं सकते, उन सबकी स्थिति मरने के समय में बड़ी दयनीय होती है–ऐसा कृपण का दूसना नाम क्या है ? कंजूस, सूम और मक्खीचूस।

कृपण की प्रशंसा—कवि ने बताया है कि दुनिया में सबसे ऊंचा दानी पुरुष कंजूस होता है। कंजूस के बराबर दानी दूसरा कोई नहीं हो सकता है। अन्य लोगों को यह कंजूस पुरुष सारा का सारा धन मरण के समय छोड़े जा रहा है जिसने कभी जरा-सा भी अंश दूसरों को उसमें से नहीं दिया, अपने लिए खाया भी नहीं, उसे बिना छुए ही वह पूरा का पूरा धन चुकता, बिल्कुल कहो या कुलबिल कहो, मानो पूरा का पूरा बिल जो बजट बना वह सारा का सारा दूसरों को दिये जाता है। तो उसके समान दाता कौन होगा, ऐसा एक कवि ने उसका मजाक उड़ाया है। कोई ऐसा पुरुष दानी नहीं कहला सकता है।

परलोकभय—तो इस मनुष्य को कितना भय लगा है, वह सब भय अज्ञान के और मोह के कारण है। कुछ समझदारी हुई तो उसे परलोक का भय लग जाता है। परलोक में मेरी क्या दशा होगी ? मुझे सुख, भोग मिलेंगे या नहीं, तिखंडा चौखंडा मकान मिलेगा या नहीं, उसे परलोक चिन्तन का भी बहुत बड़ा क्लेश रहता है यह भी एक भय है, कोई-सा भी भय हो इस जीव को क्लेश ही पहुँचता है।

अरक्षाभय से रहितपना—अपने आपमें रक्षा न पा सकने वाले जीवों को एक अरक्षा का भय लगा है। मेरी रक्षा कैसे हो ? मुझ पर इतने लोग खार खाये हुए हैं, इत्यादि कितने ही विकल्प करके यह मनुष्य भय बनाता है। उन सर्वभयों से रहित भगवान् आप्त है।

अगुप्तिभय से रहितपना—भगवान् सर्वज्ञदेव सर्वदोषों से रहित हैं, उनमें भय नाम का भी दोष नहीं है। भय 7 प्रकार के हैं जिनमें 3 प्रकार के भयों का वर्णन हो चुका है, अब अगुप्तिभय बताते हैं। मेरी रक्षा का कोई साधन नहीं है, मेरे घर, गढ़ के किवाड़ मजबूत नहीं है, सुरक्षा का साधन नहीं है, इस प्रकार का भय करना सो अगुप्तिभय है। यह भय प्रभु अरहंतदेव के नहीं है।

मरणभय से रहितपना—मरणभय भी आप्तदेव के नहीं है। इसके बाद कहते हैं आयु के क्षय का भय। आयुकर्म के क्षय का नाम निर्वाण भी है और मरण भी है। जिस आयु समाप्ति के बाद जीवन हो उसका तो नाम मरण है और जिस आयु समाप्ति के बाद जन्म न हो उसका नाम निर्वाण है। भगवान् अरहंतदेव का फिर जन्म नहीं होता है इस कारण वहाँ मरण भय कुछ नहीं है। इन भयों का सम्बन्ध मोहनीय के साथ है, सो मोहनीय कर्म नहीं है इस कारण मरणभय नहीं है, आयु के क्षय का भय नहीं है। प्रथम तो आयु के क्षय का नाम निर्वाण है।

आप्त के वेदनाभय का अभाव—वेदनाभय भी आप्त के नहीं होता है। जो आत्मा निर्दोष हो जाता है उसका शरीर परमौदारिक हो जाता है। जीव के परिणामों का शरीर के मिलने के साथ निमित्त–नैमित्तिक भाव भी है, जिसका परिणाम निर्मल होता है उसे शरीर खोटा नहीं मिलता और जिसका परिणाम मलिन होता है उसका शरीर खोटा हुआ करता है। इसी आधार पर सामुद्रिक शास्त्र भी बना है, जिसके हाथ बड़े बेडौल हों, रेखाएँ भी पुण्यवान् जैसी हों, तो शरीर के अंग जिसके अच्छे होते हैं उनसे अनुमान होता है कि पुण्यवान है, धर्मात्मा है। तो परिणामों का शरीर के साथ सम्बन्ध भी होता है। जिस आत्मा में एक भी दोष नहीं रहा, निर्दोष हो गया, वह आत्मा जिस शरीर में विराज रहा हो वह शरीर खोटा नहीं रह सकता। मुनि अवस्था में कोई चोट लग गयी हो, फोड़ा-फुंसी हो गयी हो तो अरहंत होने के बाद न चोट रहती है, न फोड़ा-फुंसी रहती है। वहाँ तो निरोग साफ स्फटिक के समान स्वच्छ परमौदारिक शरीर हो जाता है।

प्रभु की आकस्मिक भयरहितता—आप्तदेव के आकस्मिक भय भी नहीं है। आकस्मिक भय उसे कहते हैं कि आकस्मिक कोई आपत्ति आ गयी है और उस पर डर माने, शल्य बना रहे कि हाय क्या होगा, अचानक कोई आपत्ति न आ जाय। पर भगवान् के कोई आपत्ति नहीं है, इस का कारण यह है कि एक तो प्रभु को तीन लोक, तीन काल के सब पदार्थ विज्ञात हैं। फिर उनके ज्ञान में अकस्मात् कुछ भी न रहा। अकस्मात् की बात तो छद्मस्थ अवस्था में होती है, जिसको कुछ पता नहीं है अपने उत्कृष्ट प्रभु का, फिर भय की बात तो बहुत दूर है। ऐसे 7 प्रकार के भय भगवान् के नहीं होते।

भगवन्त की विलक्षणता—भगवान् हमसे बड़े और विलक्षण नहीं होते तो फिर पूजने के लिये ही हम आप क्यों आते हैं ? यदि भगवान् में भी रागद्वेष, मोह होते तो हममें और उनमें अन्तर ही क्या था ? अपने घर के परिवार के लोगों को कोई पूजता है क्या ? भले ही राग में आकर उस पूजन से भी बहुत बढ़कर अनुराग करें, मगर पूजा की जो विधि है–द्रव्य चढ़ाना, पूजन आदि करना, इस तरह से कोई मित्रों की या

परिजनों की पूजा नहीं करता है। क्योंकि वे जानते हैं कि ये बड़े ही मलिन हमारी ही तरह आत्मा हैं, ऐसे ही मलिन हो गए तो हममें और उनमें विशेषता ही क्या रही ? और प्रभुता भी क्या होगी ? उनमें किसी भी प्रकार का भय नहीं रहा।

आप्त के रोषदोष का अभाव—रोष भी भगवान् में नहीं है। रोष कहते हैं क्रोध में आए हुए आत्मा के जो तीव्र परिणाम होता है उसको। क्रोध तो हल्के क्रोध का भी नाम है, मायने हल्का क्रोध और बड़ा क्रोध दोनों का भी नाम रोष है। कहते हैं कि हमको तो बड़ा रोष आ गया। तो रोष की स्थिति क्रोध से तीव्रता को लिए हुए होती है। भगवान् सर्वज्ञदेव के रोष नामक दोष भी नहीं है।

प्रभु के रागदोष का अभाव—प्रभु के राग भी नहीं है। राग 2 प्रकार के होते हैं–एक प्रशस्त राग और दूसरा अप्रशस्त राग। शुभ राग कहते हैं दान देना, शीलपालन करना, उपवास करना, गुरुजनों की वैयावृत्ति करना आदिक जो परिणाम हैं इनको कहते हैं शुभ राग। जो राग ऐसा पवित्र होता है कि जिसके कारण विषयकषायों के परिणाम नहीं जगते। शुभपरिणाम, अशुभपरिणाम के दूर करने का उपाय है। जहाँ शुभपरिणाम विराज रहा वहाँ अशुभपरिणाम नहीं रहता। जिसके हृदय में प्रभु की भक्ति रहती है उसमें विषयकषायों का परिणाम नहीं रह सकता। विषयकषायों का परिणाम होना इस जीव पर बहुत बड़ी आपत्ति है। गंदे परिणाम करने से कोई लाभ न मिलेगा। पापमय परिणाम वृत्ति से रहना यह जीव पर बहुत बड़ी विपत्ति है। पर आज क्या अनादि से चला ही आया है कि संसार हँस खेलकर खुशी मानकर उन विपत्तियों में जकड़ रहा है। इनके उपशम का उपाय है प्रशस्त राग। सो इन प्रशस्त रागों में प्रभु मौजूद नहीं है। उनके रागमल ही नहीं है।

अशुभराग का मुनि अवस्था से ही अभाव—अशुभ राग कहते हैं स्त्री की कथा करना, अमुक स्त्री यों है, अमुक देश की स्त्री यों है। राज कथा करना कि अमुक राज्य ऐसा है, वहाँ इस प्रकार का प्रबंध है, वहाँ ऐसी गड़बड़ी है। राजाओं का या आजकल मेम्बरों का, मिनिस्टरों का कथन करना ये सब अशुभ राग वाली बातें हैं। जो आत्मा के अपने आप में आने का अवसर न दे, वे सब अशुभ राग हैं। चोर कथा–चोरी सम्बन्धी कथा करना अमुक जगह से अमुक चीज ले आओ, उसको इस तरह से बचाकर ले आओ आदि कथनी करना, उनका उपाय जानना, उनमें दिल रखना, उनकी ही बात करना, ये सब चोर कथाएँ हैं, अशुभ राग हैं। भोजन कथा–भोजन की चर्चा करना, अमुक चीज ऐसी अच्छी बनी है, यों बनाकर इस चीज को खायें, इस तरह से खाने पीने की चीजों की कथनी करना ये सब कषाय भावों में शामिल हैं। ये सब अप्रशस्त राग है। इनका अभाव तो मुनि अवस्था से ही हो जाता है। प्रभु के तो किसी भी प्रकार का राग नहीं है।

अशुभराग में प्रकट अविवेकिता—इन विषयों में कुछ प्रीति करने की बातें तो दूर रहो मगर इनकी कथा भी नहीं करनी चाहिए और फिर जो बड़े पुरुष होते हैं वे बड़े संतोषी होते हैं। साधुजन, त्यागीजन इन कथाओं को कभी करते ही नहीं। और कथन करने लगें तो समझलो कि ये अशुभ राग में आ गए। किसी ने कहा कि तुमने क्या खाया ? अजी हमने तो आज बहुत कुछ माल उड़ाया, ऐसी बातें करना ये सब अशुभ राग कहलाते हैं। ये सब बातें भक्त पुरुषों में, त्यागी पुरुषों में नहीं हैं। ये अशुभराग विशिष्ट त्यागी संत पुरुषों के

नहीं होते। इन विकथाओं का पालन, विकथाओं का स्वरूप या किसी प्रकार के घुल मिल करके परिणाम रहना, ये सभी बातें राग कहलाती है। प्रभु भगवान् के न शुभ राग है, न अशुभ राग है।

भगवान् के स्वरूप का अनुमान—भगवान् के स्वरूप का कुछ अनुमान करना है तो मूर्ति से अनुमान हो जाता है। खूब भली प्रकार से निगाह से देखो प्रभुमुद्रा से सभी बातें अपने आपकी ओर से कहने में आने लगती हैं। शांतमुद्रा है, रागद्वेष नहीं है, कहीं जाने का काम नहीं है, अपने आपमें समाये जा रहे हैं, कहीं देखने का काम नहीं है, ऐसी बातें उस मुद्रा से मिल जाती हैं तो भगवान् प्रभु शुभ और अशुभ सर्व प्रकार के रागों से रहित हैं।

प्रभु के मोहदोष का अभाव—प्रभु मोह से दूर हैं। यद्यपि मोह अशुभ ही होता है। मोह में शुभ अशुभ का भेद नहीं है, पर ऐसा जान लें कि किन्हीं आत्माओं से कोई स्नेह विशेष किया उसका नाम मोह है तो मुनि, आर्यिका, ऋषि, यति आदि ऐसे धर्मात्मा पुरुषों में वात्सल्य हो, प्रीति हो, उनसे सम्बन्ध हो तो यह है प्रशस्त मोह और बाकी जो परिजन हैं, धर्मशून्य हैं, दोस्त लोग हैं उनमें अनुराग करना, प्रीति बढ़ाना, यह सब अप्रशस्त मोह है। मोह सब अप्रशस्त होते हैं, प्रशस्त नहीं होते हैं, किन्तु लोकव्यवहार की अपेक्षा प्रशस्त और अप्रशस्त मोह में भेद किया है। किसी भी प्रकार का मोह प्रभु के नहीं होता।

प्रभु के चिन्ता दोष का अभाव—चिंता भी प्रभु के नहीं है, चिंतन कहो, चिंता कहो एक ही बात है। उस चिंतन का खोटा रूप हुआ तो उस का नाम रख दिया है चिंता और समस्त चिंताओं का नाम चिंतन है। खोटा हो या सही हो, चिंतन कहो या ध्यान कहो इसमें धर्म्य और शुक्लरूप जो ध्यान है यह प्रशस्त चिंतन है और आर्त व रौद्ररूप ध्यान अप्रशस्त चिंतन है। इष्ट का वियोग हो जाय तो उसके चिंतन में पड़ना यह आर्तध्यान है। अनिष्ट को टालने के लिए बड़ा चिंतन बनाए रखना, विचार बनाना आर्तध्यान है और शरीर में कोई वेदना हो गयी, रोग बढ़ जाय, उनका ख्याल करना ये सब आर्तध्यान हैं।

निदान के आर्तध्यानपना—विषयभोगों की वाञ्छा बनी रहना भी आर्तध्यान है। इच्छा से पीड़ा हुआ करती है इसलिए निदान को आर्तध्यान में शामिल किया है। निदान को रौद्रध्यान में नहीं लेना। कोई भोग आए, उसकी इच्छा हुई तो इच्छा के समय मनुष्य कोई दीन हो जाता, चिंतित हो जाता और उदास हो जाता है सो निदान भी आर्तध्यान है।

रौद्रध्यान व हिंसानन्द में रौद्रता—रौद्र ध्यान क्या है ? पाप में आनन्द मानना, हिंसा में आनन्द मानना। हिंसा करते हुए खुश होना। आजकल तो जीवहिंसा में प्राय: मनुष्य रंच भी नहीं हिचकते। जिसका कुल पवित्र हो, धर्म हो ऐसे कुछ बिरले जीवों को छोड़कर बाकी मनुष्यों को देखो तो जीव हिंसा का परिणमन होता है। जो मांसभक्षण करते हैं, उन्हें हिंसा करते हुए कहाँ संकोच हो सकता है ? अपन लोग जरा धर्मात्माओं के बीच में अधिक रहते हैं सो ऐसा मालूम होता है कि हिंसा करने वाले और मांस खाने वाले कोई ज्यादा नहीं हैं, अगर गणना का हिसाब लगाओ तो 99 प्रतिशत बैठेंगे। कुछ देश तो ऐसे हैं कि शतप्रतिशत मांस खाते हैं हजारों में दो चार लोगों ने यदि न खाया तो वह आधा ही प्रतिशत तो कम रहा। हजारों में 10-5 लोग ही ऐसे हों तो हो गए 99 प्रतिशत मांसाहारी। तो आजकल तो मांसभक्षण में लोग खुश हो रहे हैं, आनन्द मनाने की योजनादि बनाना ये सब रौद्रध्यान है।

मृषावाद, चोरी व विषयसंरक्षण में रौद्रता—खोटा बोलते हुए आनन्द माने, झूठ बोलते हुए आनन्द माने, झूठ बोलकर छका दिया या झूठ बोलकर किसी को आपत्ति में डाल दिया। दूसरा चेतन पदार्थ तड़फ रहा है, उसकी तड़फन देखकर खुश होते रहते हैं। चिंतन–चोरी में आनन्द मानना, विषयों के साधनों की रक्षा में आनन्द मानना, कुशील और परिग्रह इन दोनों पापों में आनन्द मानना, इसका नाम है रौद्रध्यान। परिग्रहानन्द कहो, विषयसंरक्षणानन्द कहो ये सब प्रभु के एक भी चिंतन नहीं है। न शुभ है और न अशुभ है।

प्रभु के जरा दोष का अभाव—प्रभु में बुढ़ापा भी नहीं आता। अगर कोई बूढ़ा मुनि हो और प्राय: बूढ़े ही मुनि भगवान् बनाते हैं। तपस्या करें, बहुत तपस्या के बाद शुद्ध फल मिल जाय तब भगवान् बनें। यह कोई नियम नहीं कह रहे हैं, 8 वर्ष का बच्चा भी अरहंत बन सकता है। तो बूढ़ा मुनि भी जब प्रभु बनता है तो फिर शरीर में बुढ़ापा नहीं रहता है। उनका शरीर परमौदारिक शरीर हो जाता है युवावस्था से सम्पन्न होता है। वैसे भी विचारो कि यदि यहाँ कोई बूढ़े भगवान् जा रहे हों, कमर टूटी हो, चल नहीं पाते हों, देखने में खराब लगते हों तो उनके प्रति किसी की कैसी-कैसी धारण जगेंगी ? भक्ति तो तब जगेगी जब उनमें कोई चमत्कार बनेगा। भगवान् के पूर्ण निर्दोषता प्रकट हुई है, सो युवावस्था से युक्त सुन्दर परमौदारिक शरीर होगा उनका। मुनि अवस्था में कोई रोग हो, टूट फूट गया हो कोई अंग मुनि अवस्था में ही ऐसा कोई भी रोग नहीं रहता। वहाँ शरीर में किसी भी प्रकार का विकार नहीं रहता है। वहाँ तो जरा भी नही है।

जरा का विवरण—जरा किसे कहते हैं ? तिर्यंच और मनुष्य की अवस्था बढ़ने के कारण जो देह में विकार हो जाता है, उसका नाम बुढ़ापा है। यह बुढ़ापा तिर्यंच और मनुष्यों को ही हुआ करता है। नारकियों को बुढ़ापा नहीं आता और देवों को भी बुढ़ापा नहीं आता। तिर्यंचों को कहते हैं ना कि यह घोड़ा बूढ़ा हो गया, देखते ही हैं और मनुष्यों को बुढ़ापा तो सबको दिख ही रहा है। यह जरा नाम का दोष भी प्रभु अरहंत भगवान् में नहीं होता है।

प्रभु के रोग दोष का अभाव—इसी प्रकार प्रभु में रोग भी नहीं है। वात, पित्त, कफ की विषमता हो जाने से शरीर में विशेष पीड़ा होती है, उसका नाम रोग है। सब रोग वात, पित्त, कफ की विषमता के आधार पर हैं। ये रोग भी परमौदारिक शरीर में नहीं है और प्रभु में भी नहीं होते हैं।

प्रभु के मृत्यु दोष का अभाव—मृत्यु भी भगवान् के नहीं है। यह जो पर्याय है, अत्यन्त असार है, मूर्तिक है, इन्द्रियरूप है, विजातीय है अर्थात् चेतन और अचेतन के सम्बन्ध से उत्पन्न हुई है–ऐसी ये मनुष्यादिक जो व्यञ्जन पर्यायें हैं, देह पर्याय जीव संगम से विमुक्त हुए ना, इसका ही नाम मृत्यु है। यह दोष भी प्रभु में नहीं होता।

प्रभु के स्वेद दोष का अभाव—इसी तरह पसीना भी भगवान् में नहीं है। अशुभकर्म के उदय से जो शरीर में परिश्रम उत्पन्न होता है, उस परिश्रम से उत्पन्न हुआ जो अपवित्र गंध देने वाला, ऐसी खोटी वासना वाला जो जलबिंदु का समूह है, उसका नाम है पसीना। पसीना सभी को आता है। सो अपना अपना सब जानते हैं। क्या कोई अच्छी चीज है पसीना ? अपना ही पसीना किसी को नहीं सुहाता तो दूसरे का पसीना किसी को सुहाता है क्या ? तो इस शरीर के श्रम होने पर पसीना अशुभ कर्म के उदय से हुआ करता है।

भगवान् के इस परमौदारिक शरीर में पसीना नामक दोष भी नहीं है।

प्रभु के खेद दोष का अभाव—खेद नामक दोष भी प्रभु में नहीं है। अनिष्ट चीज के लाभ का खेद है। जो अपने को इष्ट नहीं है और अपने पीछे पड़ गई, उस वस्तु में खेद होता है।

प्रभु के मद नामक दोष का अभाव—प्रभु के किसी भी प्रकार का मद नहीं है। मद हुआ करता है तब जब चतुराई आए, कविता बनाना आये, सब मनुष्य के कानों को खुश कर सके ऐसा कोई राग हो, भाषण हो, उत्तम शरीर मिला हो, उत्तम कुल मिला हो, बल मिला हो, ऐश्वर्य प्रभुता मिली हो उससे जो अहंकार उत्पन्न होता है या अहंकार को उत्पन्न करने वाला जो परिणाम है, उस परिणाम को मद कहते हैं। देखो ना, इस संसार में प्राय: सभी के मद पाया जा रहा है। किसी के कम किसी के ज्यादा, पर घमंड बिना यहाँ कोई जीव नहीं मिलता है। पशु भी घमंड बगराते हैं। एक पशु को दूसरा पशु मिल जाय तो बड़ी ऐंठ करते हैं। एक बैल की अकड़न को देखकर दूसरा पशु भी अकड़ने लगे तो वहीं लड़ाई होने लगती है। बच्चों में भी अहंकार है, मद है। किसी बच्चे को गोद में लिए हुए खड़े हों, खिला पिला रहे हों फिर भी किसी बात की हठ करले तो गोदी से ही कूदने लगता है और रोने लगता ह क्योंकि उसे मालूम है कि हमारी बात नहीं सुनी जा रही है। या उसे गोदी से उतार दो तो रोता है, वह अपमान समझता है कि मुझे नीचे उतार दिया हैं, बहुत से भिखारी लोगों को देखा होगा वे भी अपनी गोष्ठी में कितने घमंड की बातें करते हैं ?

तो चतुराई, बल ऐश्वर्य आदिक की महत्ता मानना इन सब बातों में अहंकार पैदा होता है। अहंकार उसे होता है जो बीच की स्थिति का है। सर्वज्ञ को अहंकार नहीं होता। या यों समझ लीजिए कि अधिक बुद्धि वाल को भी अहंकार नहीं होता, यह नियमत: नहीं कह रहे हैं, व्यवहार से कह रहे हैं। अहंकार वहाँ ही पैदा होता है जहाँ कुछ जानने लगे। कुछ समझने लगे किन्तु यथार्थ स्पष्ट न जाने तो प्रभु सर्वज्ञ तीन लोक तीन काल के समस्त पदार्थों को एक साथ जानने वाले हैं। उनके ज्ञान में कुछ भी शेष नहीं रहा। उन्हें अहंकार किस बात पर आए ? तो प्रभु के मद नाम का भी दोष नहीं है।

प्रभु के रति नामक दोष का अभाव—प्रभु के रति भी नहीं है, इष्ट वस्तुओं से परम प्रीति के उत्पन्न होने को रति कहते हैं। प्रभु सर्वज्ञ के कुछ भी इष्ट या अनिष्ट नहीं है। इस तरह इस गाथा में समस्त दोषों से रहित प्रभु का वर्णन चल रहा है।

प्रभु के विस्मय नामक दोष का अभाव—भगवान् के कोई विस्मय नहीं होता, आश्चर्य नहीं होता। आश्चर्य तब हुआ करता है जब अपने समता भाव से च्युत हो जाएँ और बाहर में कहीं अपूर्व पदार्थ दीखे तो उससे आश्चर्य होने लगता है। पर भगवान् तो परम समतारस से पूर्ण हैं। वहाँ रागद्वेष का कोई कार्य ही नहीं है और साथ ही उन्हें कोई चीज अपूर्व नहीं दिखती। जो करोड़ों खरबों वर्ष बाद बात होगी, परिणमन होगा वह उन्हें अभी से ही ज्ञात है। तो आश्चर्य किस बात का होगा ? आश्चर्य होता है अज्ञानी पुरुष को। ज्ञानी पुरुष भी कोई आश्चर्य में नहीं पड़ता। भले ही कदाचित् थोड़ी भनक आए पर उनके आश्चर्य यों किसी बात पर नहीं होता कि वे जानते हैं कि वस्तु का परिणमन इसी तरह हुआ करता है।

विस्मय करने की व्यर्थता—भैया ! कौन-सी बात ऐसी है जो ज्ञानी के लिए आश्चर्य के लायक हो ? मान

लो बड़े धन का नुकसान हो गया या कुटुम्ब का बड़ा नुकसान हो गया अथवा कुटुम्ब के सब लोग गुजर गए, खाली वही एक रह गया तिस पर भी उसे आश्चर्य नहीं होता। वह तो जानता है कि ये सांसारिक विपत्तियाँ आश्चर्य की चीजें नहीं हैं। रोज-रोज जीव मरते हैं, इसमें क्या आश्चर्य है, बल्कि आश्चर्य तो इस बात का है कि जो जिन्दा बने हुए हैं, मरने का तो जहाँ चाहे ठिकाना रहा करता है। गर्भ में मर जाय, पैदा होते ही मर जाय, छोटी कुमार अवस्था में मर जाय, रोग से मरे, दंगों से मरे, गुण्डों की पीड़ा से मरे, आग में जलकर मरे, कदाचित् छत से ही गिरकर मर जाय, मरने के तो जहाँ चाहे अनेक आश्रय हैं, उसका क्या आश्चर्य ?

धन की कमी में विस्मय करने की व्यर्थता—इसी प्रकार धन के नुकसान का भी क्या आश्चर्य ? यह लक्ष्मी जब आती है तब पता ही नहीं पड़ता, जब जहाँ आनी होती है आ जाती है, पता नहीं पड़ता। व्यर्थ ही यह मनुष्य कल्पना करके लक्ष्मी की तृष्णा करता है। उस तृष्णा से क्या लाभ है ? इस तृष्णा का फल तो आकुलता ही है। जिसका जितना उदय है उतना ही प्राप्त होता है। उदय से अधिक किसी को भी नहीं प्राप्त होता है और त्याग करे, उदारता करे तो समझो कि उदय के अनुकूल उसका भरावा हो ही जाता है। उसका क्या आश्चर्य है ? क्या आया, क्या गया, क्या रहा, बड़ा से बड़ा लौकिक नुकसन अचानक हो जाता है। किन्तु ज्ञानी को उस पर भी आश्चर्य नहीं होता।

पहिले से अजानकारी में विस्मय की संभवता—प्रभु जो विश्व के समस्त पदार्थों को उनके अनन्त परिणमनों सहित यथावत् जानते हैं उनको आश्चर्य क्या ? आश्चर्य तो वहाँ होता है जहाँ पूर्व बात ज्ञात न हो व अचानक जानें। जैसे किसी घर में कोई बीमार हो, टी०बी० हो गई हो, तीन साल से बीमारी चल रही हो और साल भर से तो ऐसा लग रहा था कि यह तो दो ही दिन का मेहमान है। ऐसा तीन साल का रोगी, जिसको दो वर्ष पहिले से ही यह जान रहे थे कि यह मरेगा जल्दी ही और वह मर भी जाय तो उस पर आश्चर्य होता है क्या घर वालों को ? आश्चर्य नहीं होता है क्योंकि पहिले से ही जान रहे थे। और किसी की अचानक ही चलते-चलते मृत्यु हो जाय, हार्टफैल हो जाय तो उस पर आश्चर्य होता है क्योंकि पहिले से जानाबूझा न था, अचानक जानने में आया इसलिए आश्चर्य होता है। भगवान् सर्वज्ञदेव को अचानक कोई कुछ जानने में आए, ऐसा है ही नहीं। जो है वह सब जानने में पहले आता है।

छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि के भी अजानकारी का अभाव—भैया ! भगवान् की बात तो बड़ी है ही, पर सम्यग्दृष्टि पुरुष भी सब बातें पहिले से जान रहे हैं। भले ही विवरण सहित नहीं जान रहे हें पर जान तो रहे हैं कि सर्वपर्यायें विनाशीक हैं, जितनी भी प्रयोजनभूत बातें हों सब जान लिया। अब उसमें कोई यह कहे कि घसीटेमल के 10 रुपये भी उसने जाने क्या कि जो कि उसकी जेब से निकल जायेंगे ? अरे घसीटे-वसीटे को नहीं जाना, पर यह तो जाना कि संसार ऐसा होता है, पर्याय ऐसे मिटती है, भिन्न वस्तु यों विविक्त होती हैं। ये सब जान गया ज्ञानी जीव। ज्ञानी जीव और सर्वज्ञदेव का ज्ञान पूर्ण है। फर्क इतना है कि सर्वज्ञदेव तो प्रत्येक पर्यायों सहित स्पष्ट जानते हैं और यह ज्ञानी जीव कानून द्वारा सब जान लेता है।

आत्महित के प्रयोजन की बात—प्रयोजन की बात इतनी ही तो है कि पुद्गल-पुद्गल हैं, उनका परिणमन उनमें है। जीव जीव हैं, जीव के परिणमन जीव में ही हैं। पुद्गल से जीव का हित व अहित नहीं। जीव

से पुद्गल का सुधार व बिगाड़ नहीं। इतना जान लिया तो सब जान लिया। चाहे यहाँ का पुद्गल हो, चाहे अमेरिका का पुद्गल हो, ज्ञान से सब जान लिया। चाहे किसी जगह पुद्गल पड़ा हो, सामान्यतया यह तो जान लिया कि वह अजीव पदार्थ है। इसी तरह सारे विश्व को जान लिया। अब उसे भी आश्चर्य क्या ? जिसे विदित है कि **सिनेमाओं में व्यर्थ की चीजें दिखाईजाती हैं**–रूप, रंग, मोह, आसक्ति, प्रेम ये बातें दिखाई जाती हैं उसे सिनेमा से अरुचि है और उससे कोई कहे कि चलो जी आज सिनेमा चलें, आज का खेल बहुत बढ़िया है तो वह कहता है कि हमने सब देख लिया, अरे तो कहाँ देखा है, यह तो खेल अभी आया है। तो वह कहता है कि हमने तो सब देख लिया। फिर कहा कि अरे यह तो अभी कल ही भिण्ड में आया है, इसे कहाँ तुमने देखा है ? तो वह कहता है कि बस हम सब देख चुके हैं। उसमें कुछ पुरुषों की सूरतें होंगी, स्त्रियों की सूरते होंगी, वे परस्पर में वार्तालाप कर रहे होंगे, यह सब मैंने देख लिया। तो यों ही उस ज्ञानी जीव ने विश्व के समस्त द्रव्यों को जान लिया।

केवल ज्ञातृत्व में कुशलता—भैया ! जो जानने तक ही रहता है वह तो समृद्धि में है और जो कुछ राग में पड़ा है सो ही गिरफ्तार होता है। यह सारा संसार अजायबघर है। अजायबघर में दर्शकों को सिर्फ देखने की इजाजत होती है छूने की इजाजत नहीं होती है। अगर कोई छूएगा तो वह गिरफ्तार हो जायेगा। इसी तरह इस विश्व में हम आप सब को केवल देखने तक की इजाजत है। यदि रागद्वेष करेंगे तो गिरफ्तार हो जायेंगे। हम आप गिरफ्तार होते हैं तो स्वयं ही खुशी-खुशी से गिरफ्तार होते हैं। हम आपकी गिरफ्तारी कोई दूसरा नहीं करवा रहा है। जैसे कोई अपराधी विकट फंसाव जानकर खुद ही कचेहरी में हाजिर हो जाय कि मैं ही अपराधी हूँ। कचेहरी जानते हो किसे कहते हैं ? कच मायने बाल, जहाँ बाल साफ कर दिये जाएँ उसका नाम कचेहरी। बाल न रहने दिये जाएँ मायने पैसे का सफाया करा दिया जाय। बाल साफ हो जाने के मायने हैं कि पैसा साफ हो जाता है। तो इसी तरह ये संसार के जीव खुशी-खुशी गिरफ्तार हो रहे हैं। किसी से राग किया, लो गिरफ्तार हो गए, बंधन में आ गए, अपराधी हो गए, सेवा करना होगा, अब उसके लिए वही मात्र एक प्रभु बन गया और कहीं दृष्टि ही नहीं रही। कितना बंधन में आ गया। केवल जानने देखने की इजाजत है, राग करने की इजाजत नहीं है। जो भगवान् के आर्डर का उल्लंघन करेगा उसे गिरफ्तार होना होगा।

ज्ञानी की दृष्टि में आकस्मिक घटना का अभाव—जो बात अपूर्व ज्ञात होती है वह विस्मय की बात हुआ करती है। ज्ञानी को तो कुछ भी अपूर्व नहीं लगता है। ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि जो हो सो ही भला। क्यों जी कल रंक हो जाएँ तो क्या यह भी भला ? तुम्हारा तो तुम तुम्हारे ही पास है। उसे तो कोई छीन नहीं सकता। और पहिले भी जब बड़े वैभव का मैल था तब भी अपना ही काम करते थे, पर वस्तु का कुछ भी काम न करते थे। अब भी हम अपना ही काम करते हैं। सब भला ही तो है। और क्यों जी नरक जाना पड़े तो यह भी भला है ? हाँ यह भी भला है। जो खोटे कार्य कमाये थे, पाप कमाये थे उनका निखार तो वहाँ हो जायेगा। तो सर्वत्र ज्ञानी जीव देखता है कि ये सब न्याय के काम हो रहे हैं। अन्याय कहीं नहीं होता है ? किसी भी वस्तु में अन्याय नहीं है। जो जैसा करता है वैसा भरता है।

जो होता है उसकी युक्तता—एक राजा और मंत्री जंगल में शिकार खेलने गये सो परस्पर में बातें भी करते

जायें। सो मंत्री तो शिकार की रुचि वाला न था, पर राजा के संग में जाना पड़ा। मंत्री की ऐसी आदत थी कि हर बात में वह यही कहे कि बड़ा ही अच्छा हुआ। सो राजा ने वहाँ पूछा कि मंत्री तुम यह बतलाओ कि हमारे हाथ में छः अंगुली हैं, लोग हमको छंगा छंगा बोलते हैं तो यह कैसा हुआ ? सो मंत्री बोला कि बड़ा अच्छा हुआ। राजा को गुस्सा आया कि एक तो मैं छंगा हूँ, अच्छा नहीं माना जाता और यह कहता है कि अच्छा हुआ। सो मंत्री को कुएँ में ढकेल दिया। अब वह राजा आगे बढ़ गया, सो दूसरे देश में हो रहा था नरमेघ यज्ञ। जहाँ एक अच्छे सुन्दर मनुष्य की बलि देने की जरूरत थी। सो वहाँ से चार पंडा छूटे। सो राजा सुन्दर तो था ही, उसे पकड़कर ले गए। जब होमने को 10 मिनट बाकी थे तब एक पंडा उसके पास आया। उस पंडे को एक हाथ में 6 अंगुलियाँ दिख गयीं। बोला अरे-अरे यह तो छंगा पुरुष है इसको होमकर यज्ञ क्यों खराब करते हो ? सो दो चार थप्पड़ मारकर राजा को वहाँ से भगा दिया। राजा खुश होकर चला आ रहा था। यह सोचता हुआ कि मंत्री ठीक ही कहता था कि जो हुआ है सो भला। अगर मैं छंगा न होता तो आज अग्नि में होम दिया जाता। तो खुश होता हुआ वह कुएँ के पास आया मंत्री को निकाला। सारा किस्सा कह सुनाया। कहा कि मंत्री तुम ठीक कहते थे कि छंगा हो तो ठीक है। यदि मैं छंगा न होता तो यों फंस गया था। पर मंत्री ! यह तो बताओ कि तुम्हें जो कुएँ में ढकेल दिया, सो कैसा हुआ ? मंत्री कहता है कि यह भी भला हुआ। राजा ने पूछा कैसे ? तो मंत्री ने कहा कि महाराज यदि मैं कुएँ में न गिर गया होता तो तुम्हारे संग में मैं भी पकड़ा जाता, आप तो बच जाते छंगा होने की वजह से और मैं ही आग में होम दिया जाता।

अन्त भला तो सब भला—भैया ! किस बात को बुरा देखते हो। सभी जगह भला ही भला है। जो होता है सो भला है। वस्तु है, वस्तु का परिणमन है। परिणमन कहाँ रुक जायेगा वह तो होगा ही, जैसा हो तैसा हो। क्या आश्चर्य करना ? असल में पूछो तो जैनधर्म की अगर भक्ति है तो एक निर्णय यह कर लो कि काम तो इतना ही करना है। एक आजीविका चलाना और एक आत्मा का उद्धार करना। इसके अलावा कोई तीसरा भी काम करने को है क्या ? कल्याण की, सुख की, शांति की कोई तीसरी भी बात है क्या ? जब दो बातें हैं तो आजीविका का कर्तव्य तो यों निभाओ कि आजीविका करते हुए में जितनी प्राप्ति होती है उसके ही विभाग बना लो कि इतना खर्च करना है, इतना दान के लिए निकालना है, इतना किसी अवसर के लिए संचय रखना है, उसका हिसाब बना लें और उस बजट में जो बांट में पड़ता हो उसमें गुजारा करें अन्यथा कुछ कर ही नहीं सकते। न वर्तमान में सुख मिलेगा और न उद्धार का काम होगा। अब रही यह बात कि हम थोड़े में कैसे गुजारा करेंगे तो औरों के उदाहरण ले लो–बहुत से लोग ऐसे हैं जो थोड़े में ही गुजारा करते हैं। अजी उनकी चल जाती होगी। हमारी तो समाज में पोजीशन है, बड़ी धाक है। अरे तो समाज के लोग देश के लोग जो संसार के मुसाफिर हैं, मायामय हैं, तुम से अत्यन्त भिन्न हैं उनमें तुम अपनी पोजीशन मान रहे हो, यह तो अपराध कर रहे हो और यह जब अपराध कर रहे हो तो दुःखी होना प्राकृतिक बात है।

नाम की चाह का महापराध—भैया ! तुम जितना आज चाहते हो उतना भी मिल जाय तो भी सुख नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ तुमने एक जबरदस्त अपराध किया है उस अपराध का दण्ड तो जीवन भर मिलेगा।

क्या अपराध किया है ? यह अपराध किया है कि असार मायामय इस जगत में भ्रम करके अपना नाम रखने का भाव बना रहे हो, यह महान् अपराध करते हुए तुम शांति की आशा रखते हो। तो शांति मिल जाय यह कभी नहीं हो सकता है। भगवान् का हुक्म मानते जाओ तो अशांति की शंका नहीं है। भगवान् का हुक्म है कि तुम सब पदार्थों का प्रयोजनभूत परिचय प्राप्त करो। दूसरा हुक्म यह है कि तुम गृहस्थावस्था में हो तो अपना कर्तव्य निभाओ। दुकान करते हो तो दुकान पर जाओ। समय पर वहाँ बैठो, उद्यम का काम कर लो। कोई सर्विस का काम है तो सर्विस का काम ईमानदारी से कर लो। जो जो भी आपके आजीविका के कार्य हों उन्हें ईमानदारी से डटकर कर लो। अब उसमें ही जो कुछ आय हो उसके विभाग बना लो और अपना गुजारा करो। पैसे की ओर दृष्टि नहीं लगाना है, क्योंकि वह तो आने जाने वाली चीज है, रहने वाली चीज नहीं है। आखिर मरते समय तो छोड़ना ही पड़ेगा।

व्यामोह का रंग—एक भैया हमसे कह रहे थे कि ये मोही जीव जिन्दा में तो कुछ छोड़ नहीं पाते। जिन्दा में तो घर नहीं छोड़ सकते। हाँ जिसका घर छूट जाय वह बात अलग है। कैसे घर छुट गया कि कोई कमायी नहीं रही या घर के लोग गुजर गए, अकेले रह गए, तो वह घर का छूटना नहीं कहलाता। जिन्दा में तो कोई घर छोड़ना ही नहीं चाहता। और मरने पर भी कोई घर छोड़ देता है क्या ? मरने पर तो घर में जमकर पड़ा रहता है, फिर तो जरा-सा भी नहीं हिलता। जिन्दा में तो घर छोड़कर भिण्ड से चले भी जाते हैं पर मरने पर घर नहीं छोड़ा जाता है सो अकड़कर पड़ जाते हैं। तब घर वाले लोग उसे बाँधकर जबरदस्ती मरघट में डालकर फूँक आते हैं। यह एक उनकी अलंकार की बात कही जा रही है। ज्ञानी जीव को किस बात पर आश्चर्य है ? है क्या उसके आश्चर्य करने के लायक कोई चीज ? कुछ भी नहीं है। वह तो जानता है कि मेरा मैं हूँ और जो कुछ बीत रहा है उस पर भी समझ उसकी बनी रहती है। उसे किसी बात पर आश्चर्य नहीं है और जो बाहर में बीत रही है उस पर भी उसे कुछ आपत्ति नहीं है। प्रभु में विस्मय नाम का भी दोष नहीं है।

प्रभु के जन्म नामक दोष का अभाव—प्रभु के जन्म नाम का भी दोष नहीं है। यह जीव नरक तिर्यञ्च मनुष्य और देव इन चारों गतियों में जन्म ले लेकर इस विश्व में भटक रहा है। इन गतियों में जन्म क्यों होता है, किन परिणामों से होता है, कैसे होता है ? इस बात को आचार्यों ने स्पष्ट बताया है। तीव्र अशुभ परिणाम हो तो नरक गति में जन्म हो, शुभ परिणाम हो तो देवगति में जन्म हो, मायारूप परिणाम हो तो तिर्यञ्चगति में जन्म हो और मिलाजुला शुभ अशुभ परिणाम हो तो मनुष्यगति में जन्म हो। और खुलासा सुन लो।

नरकगति में जन्म लेने का उपाय—बड़ा आरम्भ परिग्रह हो, जिसे कि लोग कहते हैं बिजी है बहुत और ऐसा शब्द कहने में वे महत्त्व भी समझते हैं–अजी मैं बहुत बिजी हूँ। बहुत बिजी हूँ कहो या आरम्भ में लगा हूँ कहो, एक ही बात है। जो बहुत आरम्भ व परिग्रह में रत है उसको नरक आयु का आश्रव होता है, नरक में जाना पड़ता है। काम सब ढंग से चल रहा है पर एक मिल और खुल जाय, और दसों जगह काम करलें, तो बहुत आरंभपरिग्रहवाला ऐसा व्यक्ति नरक में ही जायेगा।

न्यायार्जित वैभव के दान का महत्त्व—कोई यह सोचे कि बहुत धन अगर जोड़ लेंगे तो बहुत दान करेंगे।

तो उससे नाम होगा तो कितना ही दान कर लिया जाय पर विश्व में नाम हो ही नहीं सकता। यह तो झूठ बात है कि विश्वभर में नाम होगा। हाँ किसी गाँव में नाम हो गया पर सारे विश्व में नाम नहीं होता। और मरने के बाद यहाँ के नाम लेने वाले क्या मदद कर देंगे ? यह दान की बात तो तब है कि न्याय से काम कर रहे हैं, पुण्य का उदय फूट रहा है, तो क्या करना है ? आवश्यकता से अधिक आ रहा हो, न्याय से रहता हो तो इसको परोपकार में लगाओ, दान करो, परसेवा करो। तो इस धन का कुछ सदुपयोग भी हुआ। और धन का सदुपयोग यह नहीं है कि अनेक प्रकार की माया, अन्याय भाव करके धन इस लिए जोड़ा जाए कि हम खूब दान करेंगे तो हमारा नाम होगा।

संचय के पाप की दान से शुद्धि—दान तो पापों का प्रायश्चित्त है। इसके मायने कोई यह न समझ ले कि हम कंजूस हैं, दान नहीं देते तो हम को बड़ा अच्छा कह दिया कि दान है पाप का प्रायश्चित्त। हम तो पाप नहीं कर रहे, फिर हमें दान देने की क्या जरूरत ? अरे सभी पाप कर रहे हैं। अपनी स्वभावदृष्टि से चिगना और पर की ओर लगना यह पाप है कि नहीं अथवा धनसंचय के अनेक जरिये बनाना, हिसाब लिखना और-और बातें ये सब पाप हैं कि नहीं ? पाप हैं। अपने स्वरूप से चिगकर बाहर में लगे तो वहाँ पाप ही है। पाप हमारा कैसे छूटे ? इसका उपाय है दान, त्याग। तो कर्तव्य यह है कि हम न्यायपूर्वक आजीविका करें और वहाँ जो प्राप्त हो उसमें ही भोग के, दान के, संचय के हिस्से बनाएँ और उसके माफिक अपने कार्यों को करें। शेष समय ज्ञानार्जन में, तत्त्वचिन्तन में, चर्चा में, परसेवा में व्यतीत करें। और वचनालाप करें तो ऐसा करें कि जिससे दूसरों का हित हो और सबको प्रिय लगे। यही है भगवान् का हुक्म। इसे मानोगे तो सुख रहेगा और इसे न मानोगे तो क्लेश ही रहेंगे।

वचनालाप की शुद्धि जीवनसुख का प्रधान कारण—भैया ! जीवन को सुखी करने के लिए यह भी एक बहुत बड़ी बात है कि हमारा वचनालाप विशुद्ध हो। लोग व्यर्थ ही अयोग्य वचनालाप करते हैं तो उससे दुखी होना पड़ता है। दूसरों की दृष्टि से भी वह मनुष्य गिर जाता है जिसका वचनालाप विशुद्ध न हो वह स्वयं भी आपत्तियों में पड़ जाता है। यह मन मिला है, इससे ही अगर सबका भला सोच लें तो हानि ही क्या है ? हमें अगर किसी से कष्ट पहुँचता हो और हम चुपके-चुपके जान रहे हों कि इसने हमें कष्ट पहुँचाया तो आपकी दृष्टि से वह कष्ट देने वाला पुरुष गिर गया। जहाँ आपने अपने भावों को प्रदर्शित कर दिया कि मैं तो इतना स्वच्छ हूँ, दूध को धोया बैठा हूँ और मुझे अमुक ने ऐसा कष्ट दिया, यह बात जब चार लोगों को मालूम पड़ जाती है तब इसके मन में उससे प्रतिक्रिया करने का संकल्प हो जाता है। अमुक ने कष्ट दिया ऐसा हम ही जान रहे हैं, दूसरे नहीं जान रहे हैं, चलो क्या बिगाड़ हुआ ? अपना मन अपने पास है, थोड़े समय को तो अपना शुद्ध विचार बनाकर अज्ञानजन्य दु:ख को दूर कर लो, शांति में आ जाओ और जिसके निमित्त से आज कष्ट हुआ है उससे भला बोल लो। बुरा मत बोलो। उसका विचार बदल जायेगा। फिर तुम्हारे कष्ट करने का निमित्त भी न बनेगा। गुपचुप अपने आपमें शुद्ध विचार बनाकर विवेक का काम कर लो। वचनालाप हमारा विशुद्ध हो तो कहीं भी आपत्ति नहीं है।

विपरीतवृत्तियों में माध्यस्थभाव—अब रही अपनी बात कि जहाँ दूसरे लोग विपरीत हों उनसे न राग करो न द्वेष करो, उनसे समता कर लो। बड़े आदमी अब भी ऐसे हैं और पुराने होते थे कि रास्ते में चले जा रहे

हैं, किसी गुण्डे ने अपमानभरी बात बोल दी तो सेठजी इस ढंग से चले जायेंगे कि मानो दुर्वचन कहने वाले की बात को उन्होंने सुना ही नहीं। ऐसे-ऐसे विवेकी पुरुष होते थे। यदि किसी के द्वारा अपने को कष्ट पहुँचे तो उसका प्रथम उपाय है कि यह प्रदर्शित न करो कि मुझमें अमुक के द्वारा यह कष्ट पहुँचा। यह उससे बचने के उपाय का सबसे पहला उपाय है और उसके बाद थोड़ी देर में अपने में ज्ञान जगाओ कि यह तो दुनिया है, अज्ञानीजन हैं, कषाय भरे प्राणी हैं, उनका ऐसा ही परिणमन होता है। उन बेचारों का क्या दोष है ? कर्म के प्रेरे हैं अपने में बुरे भाव न लाएं और अपने दु:ख को अपने ज्ञानजल से धो डालें। जहाँ तक हो सके प्रिय वचन बोल लो, आगे फिर कोई आपत्ति न रहेगी। अपना लोटा छान लें, अपने को क्या करना है ? ऐसा निर्णय करके न्यायनीति से रहें इसमें भलाई है। ज्ञान करो और ज्ञानप्रकाश बढ़ाकर अपना कल्याण करो।

चारों गतियों, जन्म के कारणों का संक्षेप में वर्णन—केवल अशुभ कर्म ही कोई करे याने बहुत आरम्भ करे, बहुत मूर्छा रखे और खूब लेश्या के परिणाम रखे ऐसे परिणामों से नरकगति में जन्म होता है और शुभ परिणाम ही केवल हों, दान, पूजा, शील, उपवास हो तो इस शुभ परिणाम के निमित्त से ऐसे पुण्य का बंध होता है जिसके विपाक में देवगति में जन्म होता है। मायाचार का परिणाम रखे, छल, कपट, धोखा करे तो तिर्यञ्च गति में उसका जन्म होता है, और मध्यम परिणाम रहे, कुछ शुभ हो, कुछ अशुभ हो तो उन परिणामों के फल में मनुष्यगति में जन्म होता है। **ये चारोंगतियों के जन्म हेय हैं।** ये दोष प्रभु अरहंत देव में नहीं होते, परमात्मा में नहीं होते।

प्रभु के निद्रा नामक दोष का अभाव—एक निद्रा का दोष है। निद्रा ऐसी अवस्था है कि जहाँ बेहोश हो जाते हैं। यह नींद भी दोष है। जागृत दशा की अपेक्षा निद्रा में पापकर्म का बंध अधिक होता है और रात की अपेक्षा दिन में नींद ले तो उसमें विशेष बंध कहा है। तो यह निद्रा नाम का दोष भी परमात्मा में नहीं है।

प्रभु के उद्वेग नामक दोष का अभाव—उद्वेग इष्ट का वियोग हो जाय तब विक्लव प्राप्त होता है उसे उद्वेग कहते हैं। सभी जानते हैं, इष्ट चीज न मिले तो उसको कितना उद्वेग हो जाता है। अन्याय करके, चोरी डकैती करके जो चीज मिल सकती है ऐसी कल्पना की बात आ जाय और फिर न मिले तो उसमें भी बड़ा विक्लव होता है। और न्याय से किसी भी प्रकार जो इष्ट मिल सकता है, जिसमें इष्टपने की कल्पना करली गयी, वह न मिले तो उद्वेग होता है। सबसे अधिक विपत्ति जीव पर इच्छा की ही तो है और कोई विपत्ति ही नहीं है। इच्छा है उससे ऐसा प्रसंग उसे अनिष्ट लगता है जहाँ इच्छा का विघात होता है और दु:खी होता है। विश्व में खूब निगाह डाल लो।

तृष्णा से वर्तमान समागम के आराम का भी उच्छेद—इच्छा और तृष्णा के होने से उन करोड़ों पुरुषों पर दृष्टि नहीं पहुँचती कि जिनसे हम अच्छे हैं, किन्तु जिनसे होड़ लगाते हैं ऐसे बड़ों पर दृष्टि होती है। कोई लखपति आदमी है। एक हजार का टोटा पड़ जाय तो 99 हजार अभी उसके पास हैं मगर वह दु:खी रहता है। उसकी उस एक हजार पर ही दृष्टि है। वह 99 हजार का सुख भी नहीं भोग सकता है। और कोई पुरुष जो रोज मजदूरी करता है, खोमचा लगाता है, उसका किसी तरह एक हजार रुपया जुड़ जाय

तो वह सुख मानता है। और जिसके 99 हजार रखे हैं वह दु:खी है। जो पास में है उसका भी सुख वह नहीं भोग सकता। यह हाल है इच्छा और तृष्णा के सम्बन्ध से।

इष्टवियोग होने पर कल्पना की दौड़ में विडम्बना—इष्ट का वियोग होने पर जो विक्लवता होती है उसे उद्वेग कहते हैं। कभी लाख दो लाख का जब टोटा पड़ जाता है तो सेठजी कोमल गद्दे पर पड़े-पड़े करवटें बदलते हैं, चैन नहीं पड़ती है। डॉक्टर आते हैं, नाड़ी देखते हैं, इंजेक्शन लगाते हैं पर वह कैसे ठीक हों ? उनके तो हजार दो हजार के टोटे की बीमारी लग गयी है। कैसे मिटे उस समय की विक्लवता? यदि वह विक्लवता दूर हो जाय तो अभी बीमारी मिट जाय। ज्ञानदृष्टि यदि जगे कि क्या है ? यह एक अकेला ही तो था। अकेला ही रहेगा। इसका संसार में यही मात्र है। इसका वैभव यही मात्र है। इस मुझको तो इस लोक में कोई पहिचानने वाला भी नहीं है। किसको क्या दिखाना है ? किसे क्या करना है ? ज्ञान जगे और समझें कि दुर्लभ नरकाय मिली है तो एक आत्मदर्शन के लिए मिली है और बातें बेकार हैं। आता है, जाता है, रहा तो क्या, न रहा तो क्या ? तब कहीं शांति मिल सकेगी।

कल्पित हानि लाभ में कल्पित हर्षविषाद—घर में 50-100 तोला सोना रखा है, पहिनने के गहने हैं, उन्हें कभी बेचना नहीं है, पहिनने की चीजें हैं पर भाव में घटाबढ़ी हो जाय तो अपने को गरीब या धनी मानने लगते हैं। कहीं 150 का भाव हो गया तो खुश हो रहे हैं और यदि भाव गिरकर 90 रुपये में रह गया तो दु:खी हो रहे हैं, हाय मैं तो लुट गया। तो बेचैन हो रहे हैं। अरे उसमें क्या कम हो गया या क्या बढ़ गया, उसे तो कभी बेचना नहीं है, पहिनने की चीजें हैं। तो ऐसे जो विक्लव भाव होते हैं उसे उद्वेग कहते हैं। इन सर्वदोषों से प्रभु का आत्मा अलग हो गया है, इन समस्त दोषों से मुक्त यह वीतराग सर्वज्ञ हैं।

दोष और ऐंठ की दोस्ती—अब देख भैया ! ऐसे दोषों से अपन भरे हुए हैं और ऐंठ बगरा रहे हैं सारी दुनिया की। तनिक-तनिक सी बातों में लड़ाई हो जाय, अभिमान से भरे हुए दुनिया भर की ऐंठ बगरा रहे हैं। हम आप सभी दोषों से भरे हुए हैं। कोई एक दोष हो तो उसके दूर करने का यत्न करें। सर्वत्र दोष ही दोष भरे हैं। दोषों का ही संसार है। यहाँ किस बात का अभिमान करना ? किस पर पक्ष, किसका विरोध, किस पर अन्याय ? जरा ज्ञानदृष्टि जगाओ, सर्व जीव एक स्वरूप हैं। जैसे धर्म के नाम पर बोल लें तो यह है सामायिक आदिक में एकेन्द्रिय जीव क्षमा करें, दो इन्द्रिय जीव क्षमा करें, सब जीव क्षमा करें, किसी को भी मुझसे बाधा न हो–इस तरह समता का पाठ पढ़ गए कि सब जीव एक समान हैं, पर इतनी भी गम न खायेंगे कि चलो जितने जो भी धर्म को पालने वाले हैं वे सब तो एक समान हैं। जो धर्म को मानते हैं उन सबमें तो कोई अन्तर नहीं है। वे धर्म के नाते से तो सब एक ही हैं। सो एक बात नहीं अनेक बातें भरी पड़ी हैं जिससे सन्मार्ग नहीं मिल पाता। जब धर्म को धारण करें, पालन करें उस समय अपने को ऐसा बनाना चाहिए कि मेरे लिए सर्व जीव एक स्वरूप हैं।

प्रभुदर्शन में राग को ओट की बाधा—भैया ! तिलकी ओट पहाड़ ढकता है। तिल छोटा होता है और पहाड़ बड़ा होता है पर आँख के आगे तिलकी ओट आ जाय तो सारा पहाड़ ढक जाता है। इसी तरह किसी भी प्रकार का राग हो तो उस राग से यह परमात्मा ढक जाता है। दृष्टि में न आयेगा। कोई कहे कि हमने तो सब राग छोड़ दिये, सिर्फ स्त्री भर का राग है या एक पुत्र का राग है, और कोई राग नहीं है। तो वहाँ

यह हिसाब नहीं बैठता कि सर्वजीवों का राग नहीं है तो थोड़ा सम्यग्ज्ञान तो हो जाने दो। एक का राग रह गया, एक ही जीव में तो उसकी विपरीत श्रद्धा है बाकी जीवों को पर मानता है सो ऐसा नहीं होता है कि तिल की ओट पहाड़ न ढके।

प्रगति में दया का महत्त्व—धर्म तो वहाँ होता है जहाँ दया होती है। स्व दया और पर दया। स्वदया निश्चयरूप है, परदया व्यवहाररूप है। परदया की परदया में भी निश्चयधर्म का सम्बन्ध है, और निश्चयधर्म के रहते हुए परदया की योग्यता है। सम्बन्ध है इसलिए अपना जीवन, अपनी दयारूप भी बने पर की दयारूप भी बने ये सब करने की बातें हैं। अपने आपको थोड़ा कष्ट हो इसको स्वीकार करलें, पर जीवों के लिए हम कुछ काम आएं, उनको शांति संतोष से मार्ग के लिए कुछ काम आएं–ऐसी भावना रखनी चाहिए। कारण यह है कि हम आपकी विजय केवल भावों से है, परिणामों से है। जैसे पशु-पक्षी ये सब अकेले विचरते हैं। इसी तरह हम आप भी अपने आपमें केवल अकेले विचरते हैं। यहाँ भी अकेले हैं और कोई नहीं है। तब उत्कर्ष के लिए उन्नति के लिए अपने आपके भावों की सावधानी होना यही एक खास उपयोग है। यह तो है एक धर्म का प्रायोगिकरूप, जिसके प्रसाद से हम मार्ग में अपनी प्रगति कर सकते हैं और जिसका प्रारम्भ भी यहीं से होता है। दयाहीन पुरुष व्रत भी करें, तपस्या भी करें तो भी उनकी खोटी ही गति होती है।

निर्दय हृदय में व्रत का अप्रवेश—छुआछूत बहुत करलें, अपने सारे टाइमों को निभाने की बड़ी फिकर रखें पर दूसरे धर्मात्मा की करुणा भी न रखें? हमने तो एक घटना सुनी है कि एक साधु महाराज बीमार हो गए, उनको कै होने लगी, विकल्प होने लगा और संग में रहने वाले जो ब्रह्मचारी थे वे उनको न छूवें। तो एक गृहस्थ ने आकर सब सेवा की और पूछा कि ब्रह्मचारी जी तुम तो इनके साथ रहते हो, कम से कम पीठ में, सिर में हाथ फेर देते, तो कहते हैं कि हमारे सामायिक का टाइम हो रहा था, यदि छू लेते तो फिर सामायिक करने के लिए स्नान करना पड़ता। तो भाई सामायिक का टाइम निभा लो, ठीक है, पर जहाँ चित्त में दयाभाव नहीं है, कठोरता बढ़ती जा रही है वहाँ सामायिक विराजेगी कहाँ ? और सामायिक यह नहीं देखती कि त्यागीजी सिर से पैर तक अच्छे धोये बैठे हैं, देवता से बैठ जायें, तो वहाँ सामायिक आकर विराजेगी, ऐसा नहीं है।

निर्मोह उपयोग में धर्म का आवास—एक बुन्देलखण्ड का किस्सा है कि एक स्त्री के बच्चा हुआ और बच्चा होते ही स्त्री की तबियत बहुत खराब हो गयी। सो दो ही दिन के बाद वह मरणहार हो गयी। सो पति आया और स्त्री के समीप खड़ा होकर जरा-सा रोने लगा। तो स्त्री कहती है कि अरे तुम काहे को रोते हो। हमारे मरने के बाद तुम्हारी और शादी हो जायेगी। रोवें तो ये जो दो तीन बच्चे हैं वे रोवें, पता नहीं इनका अब क्या हाल होगा ? उसे अनुराग विशेष हुआ तो प्रतिज्ञा भी कि अच्छा हम नियम लेते हैं कि दूसरी शादी न करेंगे। स्त्री बोली कि यहाँ तो हम हैं तुम हो और भगवान् हैं, और कोई तो साक्षी नहीं है। तुम्हारी प्रतिज्ञा अडिग है ना। पुरुष बोला कि अडिग है अब तुम क्या चाहती हो, जो चाहो सो हम करने को तैयार हैं। तो स्त्री बोली कि अब तो यही इच्छा है कि यहाँ से तुम चले जाओ, मैं समाधिपूर्वक मरण करूँगी। हमारे सामने न आना। वह पुरुष चला गया। उस स्त्री ने समाधिपूर्वक मरण किया। बच्चा पैदा

होने के 2 दिन बाद तक बाह्य में कुछ पवित्रता नहीं रहती होगी, मगर उसी हालत में वह ध्यान लगाकर बैठ गयी, मन में णमोकार मंत्र का जाप किया, अन्य जगजाल को त्याग दिया और प्राण छोड़ दिया। कोई कहे कि समाधिमरण कैसे हुआ, चार पाँच दिन हो जायें बच्चा पैदा होने के, तब समाधिमरण हो। अरे तो क्या समाधिमरण यह देखता है कि अभी चार पाँच दिन हो जाने दें। वह तो अपने अन्तरंग में पवित्रता लाकर अपने आत्मा में समा जाने की बात है। पर जो कर्तव्य है वह तो अपने अवसर में किया ही जाना चाहिए।

दयाशून्य जीवन अवनति का स्रोत—जिसका हृदय दया से शून्य है वह बड़ा व्रत करे, तप करे, संयम करे पर यदि परसेवा का भाव नहीं बन सकता, अपने ही मतलब की फिकर में रहे जाय, अपने-अपने आराम की धुनि लगी हो, हमारे ख्याल से वह तो त्यागी नहीं, व्रती नहीं, संयमी नहीं। हाँ कोई मंदकषायी हो कि अपनी भी परवाह न हो, अपनी भी गरज न रहे, ऐसी हालत में परसेवा न रहे तो दोष नहीं। पर जहाँ खुदगर्जी का पूरा प्रोग्राम रहता हो, विषयसाधन का, अपने खानपान का और पर के सम्बन्ध में दया न आती हो, सेवा न की जा सकती हो तो समझना चाहिए कि अभी योग्यता इसकी उचित नहीं हुई। यह बात दूसरी है कि नहीं है कषाय इस योग्य, तो जिस योग्य हो उस योग्य बर्ताव करे। पर कोई धर्मकार्य सामने आए, कोई धार्मिक पुरुष हो, उसकी सेवा न करके केवल अपनी धुन में मानी हुई बातों में लगे रहें तो उसमें अन्तर की प्रगति नहीं है।

स्वदया का सुफल—स्वदया के बिना तो धर्म में प्रारम्भ ही नहीं है। अपने आपके सहजस्वरूप का जब तक परिचय नहीं है तो शांति कहाँ पावोगे ? किसमें लेना है शांति, किसको देना है शांति ? उसका ही पता न रहे और चिल्लाते रहें शांति शांति, तो वह शांति कहाँ विराजेगी ? जैसे किसी ने किसी बच्चे को बहका दिया कि देख तेरा कान कौवा लिये जा रहा है, लो अब वह कौवे के पीछे दौड़ लगाये जा रहा है। अरे बच्चे तू कहाँ दौड़ा जा रहा है ? तो बच्चा कहता है कि बोलो नहीं। हमारा कान कौवा लिए जा रहा है। अरे पहिले अपने कान टटोल तो ले। कान टटोला तो देखा कि अरे कान तो यहीं है, कौवा नहीं लिए जा रहा है। इसी प्रकार शांति के लिए लोग बाहर-बाहर दौड़ते भागते रहते हैं–यहाँ शांति मिलेगी, वहाँ शांति मिलेगी, तीर्थ में शांति मिलेगी, वंदना में शांति मिलेगी, इस तरह से उस शांति की खोज में बाहर-बाहर दौड़ते रहते हैं, कोई ज्ञानी पुरुष कहता है कि अरे सुनो तो सही शांति किसका नाम है और किसको देना है, उस स्थान को तो पहिले टटोल लो। शांति तो आत्मा का सहजस्वरूप है।

तुच्छ लाभ के मोह में बड़ी निधि का अलाभ—भैया ! जिसे इस सहजस्वरूप का परिचय हुआ उसे शांति का मार्ग शीघ्र मिल सकता है। तो क्या उद्यम करना होगा ? इन विषयवाञ्छाओं को दूर करना होगा। जैसे किसी करोड़पति सेठ के नाबालिक लड़के की जायदाद गवर्नमेन्ट ने कोर्ट ऑफ वार्ड कर लिया है और उसके एवज में 1000 रुपये महीना बाँध दिया है। अब वह बालक सरकार के गुण गाता है। देखो कैसा घर बैठे सरकार 1000 रुपये महीना देती है। जब वह बालक 20 वर्ष का हो गया तब सरकार को नोटिस देता है कि हमें तुमसे 1000 रुपया मासिक न चाहिये। हमारी जो जायदाद कोर्ट ऑफ वार्ड कर ली गई है उसे वापिस कर दिया जाय, क्योंकि अब हम बालिग हो गए हैं और ऐसा न करे, 1000 रुपये

मासिक का ही आदर रखे तो उसको उसकी करोड़ों की जायदाद कहाँ से मिले ?

विषयसुख के लोभ में सहजानन्द का अलाभ—इसी प्रकार इस अनन्त आनन्द की निधि इन कर्मों ने (निमित्त दृष्टि से) जप्त कर ली है और कर्मों ने विषय-सुख का प्रलोभन दे दिया है, जो खर्च है वह इन्द्रियों के विषयसुखों का है। सो विषय सुख का प्रलोभन मिला, तो यह नाबालिग मिथ्यादृष्टि कर्मों के गुण गाता है, खूब साधन मिले हैं, खूब विषय भोग मिले हैं। और जिस दिन यह बालिग बन जाता है, ज्ञानी बन जाता है सो पुण्य सरकार को नोटिस दे देता है कि हमें ये विषयों के सुख नहीं चाहियें। अब मैं बालिग हो गया हूँ। मुझे तो मेरा ज्ञानानन्दस्वरूप चाहिए। वह यदि विषयसुखों के प्रलोभन में ही रह जाय तो अनन्त आनन्द फिर कैसे मिल सकता है ? सो इन विषयसुखों को दूर किया जायेगा तब अनन्त आनन्द प्राप्त होगा। इन्हीं पुरुषार्थों के बल से जो परमात्मा हुए हैं उनके अन्तर में ये 18 प्रकार के दोष नहीं हैं।

आप्त की भक्ति कृतज्ञता की प्रेरणा—जिसमें एक भी दोष न हो और ज्ञानानन्दस्वरूप का चरम विकास हुआ हो वही हमारा देव है। जिस आत्मा में दोष एक भी न रहा हो उसके ही गुणों का चरम विकास होता है, वही हमारा देव है, उसकी ही मात्र भक्ति हो। आप्त ने हमारा बड़ा उपकार किया। क्या ? हमें मालूम पड़ गया कि हमारा इष्ट स्वात्मगुणोपलब्धि है। यही सिद्ध है, यही निर्वाण है। ज्ञानानन्द स्वरूप का लक्ष्य ही हमारा इष्ट है और इस इष्ट के प्राप्त करने का उपाय है सम्यग्ज्ञान। और सम्यग्ज्ञान मिलता है सत् शास्त्रों से और इन शास्त्रों की उत्पत्ति होती है आप्त भगवान् से। इस कारण ये आप्त भगवान् मेरे परम उपकारी हैं। जो सज्जन होते हैं, साधु पुरुष होते हैं वे किए गये उपकार को कभी नहीं भूलते। मेरा महान् उपकार हुआ परमआप्तदेव की कृपा से, इस कारण हे प्रभु ! तुम्हारे गुणों की भक्ति मेरे हृदय में विराजे, जिसके प्रसाद से हम अपने धर्म में आगे प्रगति कर सकते हैं।

जिस आप्त की श्रद्धा से सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उस आप्त के विवरण में अभी यह बताया गया है कि जिसमें 18 प्रकार के दोष नहीं होते हैं वे आप्तदेव हैं। ये भगवान् शत इन्द्रकर पूज्य हैं। जिनके ज्ञान का राज्य समस्त लोक अलोक में फैला हुआ है, जिसके चार घातिया कर्म विनष्ट हो गए हैं, ऐसे ये आप्त भगवान् हम सबके उपकार के मूल कारण हैं। ऐसा आप्तदेव के सम्बन्ध में और विशेष वर्णन करने के लिए कहते हैं।

गाथा 7

णिस्सेसदोसरहिओ केवलणाणाइपरमविभवजुदो।
सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा।।7।।

उत्कृष्ट व्यवहारशरण भगवद्भक्ति—जो समस्त दोषों से रहित है, जिनके समस्त चार घातिया कर्म दूर हुए, जो दोषरहित हैं वही हमारा आराध्य आप्तदेव है। अनादि प्रवाह से माया में बसे हुए हम आप लोगों को कोई शरण नहीं है। सो परमार्थ की बात तो ठीक ही है कि अपने ज्ञायकस्वरूप का आलम्बन शरण है। परन्तु जो इस स्वरूप में स्थिर नहीं हो पाते या इस ज्ञायकस्वरूप की पुन: पुन: दृष्टि होने में महीनों का भी अन्तर आ जाता है। तो इस ज्ञायकस्वरूप के शरण में जो नहीं ठहर पाते हैं उनको बाह्य में शरण क्या

है सो तो बताओ ? यही परमात्मदेव की भक्ति ही शरण है। यह हमारी ज्ञानानन्दस्वरूप की ज्योति दबी हुई है। इसको उघाड़ने में समर्थ परमात्मभक्ति है। मूल उपाय मूल बात जिसके बाद फिर सब कलाएँ आती हैं और परमार्थ शरण की बुद्धि होती है वह है मूल भगवद्भक्ति।

निधिलाभ के प्रसंग में आनन्द का उद्रेक—जैसे किसी के घर में जमीन के नीचे गड़ी हुई निधि हो ओर उसे पता न हो कि हमारे घर में निधि गड़ी है तो वह अपने को दीन हीन मानता है और दीनता से अपना समय गुजारता है। यदि उसे किसी प्रकार विदित हो जाय, बहियों में लिखा हो या उसको कोई लोग पता दे दें, किसी भी प्रकार विदित हो जाय कि इस जगह पृथ्वी में नीचे निधि गड़ी हुई है तो इतनी ही बात जानकर उसका हर्ष उछल आता है, श्रद्धा बन जाती है कि हम तो बड़े धनिक पुरुष हैं। निधि हमारे यहाँ पड़ी हुई है। परन्तु व्यवहार में अभी दीनता दरिद्रता ही उसकी दिखती है पर अन्तर में बल बढ़ जायेगा। यह जान लेने से कि इस जगह निधि गड़ी हुई है। अब वह कुदाली लेकर जमीन खोदता है, जमीन खोदता है। जमीन खोदने पर उसे कुछ आसार नजर आते हैं तो उसे संतोष होता है और उसकी निधि जब मिल जाती है तब अपने में विचित्र परिवर्तन करता है और अनुपम गौरव अनुभव करता है।

भगवद्भक्ति के प्रताप से आत्मनिधि की समृद्धि—इसी प्रकार यह आत्मज्योति इन भावकर्मों, द्रव्यकर्मों कर्मपटलों से तिरोहित पड़ी हुई है, इस अज्ञानी को पता नहीं है सो अपनी दीनता और दरिद्रता से गुजारा करता है। परवस्तुओं की ओर आकर्षित होकर सुख मानना यह दरिद्रता से गुजारा नहीं है तो क्या है ? क्या कोई ऐश्वर्य की बात है ? ऐसी दीनता और दरिद्रता से गुजारा करने वाला यह अज्ञानी यदि किसी प्रकार जान जाय कि मेरे स्वरूप में ही अनुपम ज्ञान और आनन्द दबा हुआ है। शास्त्रों में बहियों में लिखा हुआ मिल गया या किन्हीं पुरुषों ने बता दिया कि अमुक आत्ममहल के अन्दर यह ज्ञानानन्द की अपूर्व निधि पड़ी हुई, थोड़ा विश्वास हो जाय तो इसे बहुत हर्ष उत्पन्न होता है क्योंकि दीनता दरिद्रता का भार अब उसके उपयोग से हटता है और सर्वप्रथम ही प्रभुभक्तिरूपी कुदाली से और उसी से ही सम्बन्धित अपनी प्रतीति द्वारा उस भाव कर्म की पटल को दूर करते हैं, ये रागादिक मेरे नहीं हैं। मैं इन रागादिकों में तन्मय नहीं हो सकता। ये मुझे बरबाद करने के लिये आये हैं। मेरी प्रभुता के ये विभाव वैरी है। उनमें तन्मय न होऊँ, और इस ज्ञान वैराग्य से सनी हुई प्रभुभक्ति रूप कुदाली के द्वारा खुदाई के प्रताप से, इस अरहद् भक्ति के प्रताप से, यह भाव कर्म ये आवृति जब दूर होती है तब ज्ञानानन्द निधि का आसार मिलता है, इससे शांति होती है और विशेषकर उत्साह के साथ ज्योति को और निकाल लेने के लिए अन्त:प्रयत्न करते हैं। जब यह ज्ञानानन्द ज्योति अनुभव में आती है तब आनन्द का ठिकाना नहीं रहता।

मूढ़तावश खुशी-खुशी विपद्गर्त में पतन—हे प्रभु ! परपदार्थों की ओर आकर्षण मेरा मत हो। जैसे जो चीज अपने को हित की जंचती है तो उदार पुरुष यही कहते हैं कि यह चीज सबको ही प्राप्त हो, कोई मेरा बैरी हो उसे भी प्राप्त हो। अर्थात् परम अभीष्ट वस्तु से कोई वञ्चित न रहे। परदृष्टि करने के बराबर, अज्ञान के बराबर कोई वैरी नहीं, कोई पाप नहीं। जैसे एक विवाह का दोहा बना रखा है कि–''तुलसी गाय बजाय के देत काठ में पांव। फुले-फुले वे फिरैं होत हमारो व्याव।।'' यह व्यवहार की बात है। यहाँ यह बात लगाओ कि इन विषयसुखों को पाकर, इस पुण्य के वैभव को पाकर ये अज्ञानी जीव फूले-फूले

फिर रहे हैं, मैं बड़ा महान हूँ, मेरे को इतना वैभव मिला है, मेरी लोगों में इतनी इज्जत है। अरे क्या फूले-फूले फिरते हो, तुम हँस-हँसकर विपत्तियों के गड्ढों में, पापों के गड्ढों में, जन्ममरण के चक्कर लगाते रहने की आपत्तियों में खुश होकर जी रहे हो। यहाँ कुछ शरण नहीं है। एक भी कोई जीव आपके लिए शरण नहीं है। आपको शरण आपके ज्ञान का विधिवत् ठिकाने बना रहना बस यही एक शरण है।

व्यवहारशरणत्रय—भैया ! अपने ज्ञान के ठिकाने की स्थिति जब नहीं मिलती है तो हम किसकी छाया में जायें ? तो वे छाया आपको तीन ही हैं शरणभूत। एक देव जिसका कि प्रकरण चल ही रहा है। दूसरा शास्त्र–ये भी धोखा न देंगे, ये सन्मार्ग ही बतायेंगे। और तीसरा–गुरु, जो तत्त्व के जानने वाले हैं और प्राणियों के हित का भाव रखते हों उन्हें गुरु कहते हैं।

भगवान् व आप्त तथा साधु व गुरु का विश्लेषण—जैसे भगवान् और आप्त एक ही बात है, फिर भी भगवान् के कहने में वह बात नहीं झलकती जो आप्त के कहने में हमारे उपकार से सम्बन्ध रखने वाली बात झलकती है, अर्थात् जो हितोपदेशी हो, वीतराग हो, सर्वज्ञ हो वह है आप्त और जो वीतराग हो, सर्वज्ञ हो वह है भगवान। सब भगवान् हितोपदेशी हुआ करते हों यह बात नहीं है। भगवान् हैं, आदर्श हैं, पर हमारे उपकार का तांता आप्त से शुरू होता है। यद्यपि आप्त भी भगवान् हैं, भगवान् भी भगवान् हैं फिर भी उपकार का सम्बन्ध आप्त के नाते से है, भगवान् के नाते से नहीं, आप्तपने के नाते से है। इसी तरह गुरु में और मुनि में भी भेद नहीं है। सब मुनि गुरु नहीं होते। यद्यपि गुरु भी वही, मुनि भी वही लेकिन जिसके प्रसंग में रहकर, जिसकी आन में रहकर, जिसकी वैयावृत्ति में रहकर अपने कल्याण का उद्धार का मार्ग पायें उसे कहते हैं गुरु, और जो विषयों की आशा से रहित हैं, ज्ञान, ध्यान, तपस्या में जो लवलीन है वह मुनि साधु है ही। वह भी गुरु है मगर गुरुता का नाता हमारे उन मुनियों से होता है जिन मुनियों के संग से, स्मरण के सम्बन्ध से हमें हित की प्रेरणा मिलती है। तो हम जब किसी संकट में आ जायें तो कहाँ भागें ? भगवान् आप्त की स्मृति में, स्वाध्याय में, सत्शास्त्रों की सेवा में और गुरुओं के सत्संग में।

कार्यपरमात्मा आप्त का निर्देश—उनमें से यह आप्तदेव का वर्णन चल रहा है। प्रभु आप्त समस्त दोषों के ध्वंस होने से दोषरहित हैं। ये 18 प्रकार के जो दोष कहे गये हैं उन महादोषों को खण्डित करने से वे दोष निर्मुक्त हैं और ये देव केवलज्ञानादिक परम वैभव से युक्त हैं, कैसे हैं ये केवलज्ञानादिक वैभव कि समस्त लोकों का जाननहार निर्मल केवलज्ञान, निर्मल केवलदर्शन और परमवीतरागस्वरूप आनन्दादिक अनेक वैभवों से समृद्ध है, ऐसा प्रभु कार्य परमात्मा है।

कार्यपरमात्मा होने का साधन—कैसे हुआ है वह कार्यपरमात्मा ? निज कारणपरमात्मा की निरन्तर भावना से वह कार्यपरमात्मा हुआ। अपने स्वभाव की निरन्तर दृष्टि और भावना रहे तो यह पुरुष कार्यपरमात्मा हो सकता है। जैसी जो भावना करता है उसको वैसी ही प्राप्ति होती है।

भावनानुसार कार्य होने का एक लोकदृष्टान्त—एक पथिक था। गर्मी के दिनों में नंगे पैर बिना छतरी के बेचारा गरीब जा रहा था। धूप के संताप से तप्त होकर वह विचार करता है कि मुझे कोई छाया वाला वृक्ष मिल जाय तो बड़ा अच्छा हो। रास्ते के निकट एक छायावान् वृक्ष मिला और वृक्ष के नीचे पहुँच गया। मानो वह वृक्ष था कल्पवृक्ष। पर उस पथिक को इसका पता न था। उस वृक्ष के नीचे पहुँचा तो सोचता है

कि छाया तो अच्छी मिल गयी, पर थोड़ी हवा चल जाती तो बड़ा आनन्द आ जाता। सोचते ही हवा चलने लगी। फिर सोचता है कि हवा तो अच्छी मिली पर थोड़ा पानी भी मिल जाता, प्यास बुझा लेते तो अच्छा होता। ऐसा सोचते ही सामने पानी से भरा लोटा आ गया। फिर सोचा कि पानी तो आ गया, पर कुछ खाने को होता तो अच्छा होता। भोजन से सजी सजायी थाली भी उसके सामने आ गयी। अब वह सोचता है कि यह क्या मामला है कि जो चाहो, सभी चीजें हाजिर हो जाती हैं। कहीं यहाँ भूत तो नहीं है। तो भूत का ख्याल कर लेने से भूत आ गया। फिर सोचता है कि यह भूत कहीं मुझे खा न जाये, सो वह उसे खा भी गया याने जान भी ले ली। जो सोचा वही हुआ। दृष्टांत में केवल यह जानना है कि जैसे वह कल्पवृक्ष के नीचे बैठा हुआ पुरुष जो सोचता था वही होता था, इस ही प्रकार चैतन्यस्वरूप में तन्मय यह पुरुष अथवा चेतना को लिए हुए यह आत्मपदार्थ जैसी दृष्टि बनाता है वैसी ही बात प्राप्त करता है।

आत्मभावनानुसार आत्मपरिणमन—जो अपने को इस संसार में नानापर्यायों रूप अनुभव करता है वह इसी तरह का बनता चला जाता है और जो अपने को केवल देख रहा है तो क्या उसके कैवल्य प्रकट न होगा ? होगा। केवलज्ञान कहो, कैवल्य कहो, बिल्कुल अकेला रह जाना कहो इस ही का नाम निर्वाण है। किसी के घर में सब आदमियों का वियोग हो जाय तो यह कहते हैं कि हाय मैं अकेला रह गया। अरे भाई तुम अकेले रह गए होते तो तीनों लोक तुम्हारे चरणों में झुक जाते। अभी तो अकेले कहाँ हो ? इन अनन्त शरीर स्कंधों का बोझ लदा है, अनन्त कार्माण वर्गणाओं का बोझ लदा है और अनन्त अनुभाग सहित असंख्यात प्रकार के इन भाव कर्मों का बोझ लदा है। अभी तो तेरे पास इतना कुटुम्ब पड़ा है और तू कहता है कि हाय मैं तो अकेला रह गया।

केवल की पूजा—भैया ! अकेला जो हो जाता है उसकी मूर्ति भी पूजी जाती है। अकेला हो जाना यही, निर्वाण है, कैवल्य है। कैवल्य कैसे प्राप्त हो ? जब अपने को केवल देखना प्रारम्भ कर दें और केवल का ही आलम्बन लें तब तो कैवल्य प्राप्त होगा। उस कैवल्य की दृष्टि भी न करें और कैवल्य रह जाय, यह कैसे हो सकता है ? असली मायने में जैन वह है कि जिस किसी भी परिस्थिति में रहता हो उस ही परिस्थिति में विरक्त रहे, जो कुछ भी उस पर गुजरता हो उसमें वह वियोग बुद्धि रखे। इतनी बात यदि हो सकती है तो हम जिनभक्त होने का दावा कर सकते हैं। प्रभु की भक्ति यह नहीं है कि प्रभुभक्ति के लिए शाम सुबह बड़ा जलसा मनायें, बाजे बजायें, बड़ी क्रियायें करें पर हृदय से धन वैभव लक्ष्मी का बोझ नहीं उतरता और कुटुम्ब परिवार की ममता में अन्तर नहीं आता तो ऐसी स्थिति में प्रभु के भक्त तो नहीं हुए। हृदय में जो बसा हो उसके ही भक्त हैं।

अनुराग का परीक्षण—भैया ! सामने दो चीजें मुकाबलेतन आ जायें और उनमें से दोनों ही नष्ट होने को हों तो एक छोड़कर दूसरे को बचायेंगे। तो जिसको छोड़कर जिसको ग्रहण किया उसकी ही पूजा दिल से लगी समझो। धन वैभव पर और अपने कुटुम्बजनों पर इन दोनों पर कोई आक्रमण कर दे, विनाश करने पर उतारू हो जाय तो धन वैभव की उपेक्षा करके परिवारजनों को आप बचाएँ तो धन की अपेक्षा परिवार के लोगों की भक्ति ज्यादा हुई और परिजन और अपनी जान–इन दोनों पर कोई आक्रमण करने का उद्यमी हो तब परिवार को छोड़कर अपनी ही जान बचाने का उद्यम करे तो अपनी जान की भक्ति विशेष

हुई ना, परिजन की अपेक्षा। अभी यहाँ से एक चूहा निकल भागे तो पास में ही आपके दो तीन लड़के पड़े हों तो उनके ऊपर पैर रखकर आप बड़ी तेजी से भागेंगे। चाहे लड़के के ऊपर पैर पड़ जाय। जान की प्रियता इतनी होती है और किसी समय जान पर और ज्ञान पर दोनों पर आक्रमण हो, जैसे ज्ञानीसंतों के किसी स्थिति में शेर ने आकर उपद्रव किया, दुश्मन ने आकर आक्रमण किया तो उस स्थिति में जान पर तो आक्रमण है ही, मगर किसी रूप से ज्ञान पर भी आक्रमण है, क्योंकि वह घबड़ा जाने का अवसर है। ऐसी स्थिति में जान की उपेक्षा करके ज्ञान की कोई रक्षा कर सकता है तो समझ लो कि उसकी ज्ञान में भक्ति है।

भक्ति की कस—यहाँ कोई घर पर भी आक्रमण हो और धर्मायतन पर भी आक्रमण हो तो धर्मायतन की उपेक्षा करके घर बचाने की कोशिश करते हैं। तो यह धर्मायतन में भक्ति हुई या घर में भक्ति हुई ? मुकाबलेतन दो चीजें रख लो, दोनों का विनाश हो रहा हो। उनमें से जिस एक को बचाने की कोशिश हो समझो कि भक्ति उसकी है। बस इस कस पर कसते जाइए कि तुममें प्रभुभक्ति विशेष है या घर परिवार में या धन में भक्ति विशेष है।

दृष्टि के अनुसार वृत्ति—भैया ! जैसी दृष्टि होती है वैसी ही वृत्ति बनेगी। कैवल्य पाने के लिए इस निज कैवल्य की दृष्टि होना आवश्यक है। जो त्रिकाल निरावरण है निज ज्ञानानन्द स्वभावमात्र है, ऐसा जो निज कारण परमात्मतत्त्व है उसकी भावना से कार्यपरमात्मत्व प्रकट होता है। देखो स्वभाव यद्यपि व्यक्त नहीं है इस समय और विभाव परिणमन चल रहा है, फिर भी स्वभाव सदा निरावरण रहता है, आवरण होकर भी सदा निरावरण रहता है क्योंकि स्वभाव में भी आवरण हो जाय, स्वभाव का भी कोई मोड़ बदल जाय तब फिर स्वभाव ही क्या रहा ? स्वभाव तो एक शक्तिरूप है। अब शक्ति में भी कोई बाधा आ जाय तो द्रव्य ही क्या रहा ? ऐसे निज कारणपरमात्मस्वरूप की भावना से यह कार्यपरमात्मत्व प्रकट होता है। ऐसा यह भगवान् अरहंत परमेश्वर है।

सुदेव की भक्ति व आज्ञाकारिता में शान्तिलाभ—भगवान् परमेश्वर के स्वरूप के विरुद्ध जितने परिणमन हैं उन करि सहित जो अन्य जीव हैं, यदि वे देवत्व के अभिमान से दग्ध हैं तो वे कुदेव शब्द से व्यपदिष्ट होते हैं। वे संसारी जीव हैं। हम और आप भी रागी द्वेषी हैं किन्तु हम आपका नाम कुदेव नहीं है। यदि हम आप देवपने को जाहिर करने लगें, प्रसिद्ध करने लगें और कुछ हों भी इस लायक शकल के दो चार ऐसे भक्त भी मिल जायें, जो हम आपको देव कहकर पुकारने लगें तो हम आपका भी नाम कुदेव बन जायेगा। जिनमें देव का स्वरूप तो दिखता नहीं और देवत्व को प्रसिद्ध करते हैं उन्हें कुदेव कहते हैं। वे संसारी ही तो हैं। उनकी ओर भक्ति न रखकर जो वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी हैं ऐसे आप्त की भक्ति रखो और उनके बताए हुए मार्ग पर चलकर शांतिलाभ लो।

निर्दोषता का शरीर पर प्रभाव—भगवान् के जब तक शरीर रहता है तब तक उनके शरीर की स्थिति सर्वोत्कृष्ट होती है। अर्थात् न वहाँ कोई रोग है, न भूख है, न प्यास है और बहुत उत्कृष्ट कांतिमान शरीर होता है। सूर्य और चन्द्रमा से भी अधिक प्रतापी शरीर बन जाता है। जो वीतराग है, निर्दोष है उनके द्वारा अधिष्ठित शरीर की कौन प्रशंसा करे ? अभी यों ही देखो–कोई कैसा ही बीमार हो, यदि परिणामों में

निर्दोषता जगती है तो बीमारी में अन्तर आ जाता है। जिस किसी का बुखार मिटने को होता है उससे पहिले उसकी सभी बातों में अन्तर आने लगता है। निर्मल परिणामों का ही तो यह प्रताप है कि जीव को योग्य अच्छा शरीर मिलता है। जिसके परिणाम खोटे होते हैं उसका इस भव में चाहे शरीर न बिगड़ पाये पर अगले भव में बिगड़ा कुत्सित शरीर प्राप्त होता है। प्रभु का तेज, उनकी दृष्टि, उनका ज्ञान, उनकी ऋद्धि सुख ऐश्वर्य सब कुछ उत्कृष्ट होता है और तीन लोक में जिसका माहात्म्य फैले ऐसा उनका प्रताप होता है।

वीतरागता का आकर्षण—प्रभु भगवान् होने के पश्चात् हम और आप लोगों की तरह बीच में बैठे हुए नहीं मिलते हैं कि कुछ भी उनसे बातें करलें। वे इस पृथ्वी तल से कितनी दूर ऊपर आकाश में अधर विराजते हैं। उनका विहार होता है तो आकाश में ही होता है। जहाँ वे स्थित होते हैं वहाँ देवेन्द्र क्षण मात्र में विशाल रचना करा लेते हैं जिसका नाम है समवशरण। सम् अब शरण, जहाँ पहुँचने पर जीव को भला शरण प्राप्त होता है उसे कहते हैं समवशरण। वहाँ मनुष्य क्या, देव क्या, तिर्यंच क्या, सभी समझदार विवेकी प्राणी आकर्षित होते चले आते हैं। वीतरागता का निर्दोषता का सत्य प्रभाव दूसरों पर पड़ता है, खुदगर्जियों का, विषयी कषायी का, मलिन पुरुषों का प्रभाव दूसरों पर नहीं पड़ता। प्रभु की वीतरागता के कारण तीनों लोक के प्राणी उनकी शरण में आते हैं और उनके गुणानुराग के बल से अपने आपके भव-भव के कमाये हुए पाप धो डालते हैं।

दिव्य भाव, दिव्य प्रभाव, दिव्य देह, दिव्य उपदेश—प्रभु का शरीर इतना स्वच्छ है कि अपनी कांति के द्वारा दसों दिशाओं को स्नान करा देते हैं। इतना स्वच्छ जिनका रूप है कि आकर्षक और प्रिय बनकर मनुष्यों के दिल को चुरा लेते हैं अर्थात् उनकी ही ओर यह मन आकृष्ट होता है। जिनका दिव्यरूप इतना पवित्र हितकारी होता है कि सुनने वालों के मन में मानो अमृत-सा झरता हुआ अनुपम आनन्द प्रदान करता है। जिनके शरीर में, जिनके अवयवों में शुभ लक्षण विराज रहे हैं ऐसी दिव्यकाय प्रभु अरहंत देव की हो जाती है। वे चाहे मुनि अवस्था में हों, बूढ़े हों, कोई अंग कुछ टूट गया हो, लचक गया हो, तकलीफ भोग चुके हों, कोढ़ हो, कुछ भी रोग हो, पर परमात्मत्व प्राप्त होने के बाद वह शरीर युवावस्था सम्पन्न जैसा कान्तिमान पुष्ट हो जाता है। यह भी सब उस वीतरागता का प्रताप है।

चमत्कार के मूल की दृष्टि—जैसे मंदिरों में बड़ी सजावट हो, कीमती स्वर्ण रत्नों के आभूषणों से बड़ी सजावट की गयी हो तो उस सजावट को देखकर उस सजावट की आलोचना नहीं करना है किन्तु वीतरागता की और ध्यान देना होता है कि धन्य है वह वीतरागता की महिमा कि वीतराग प्रभु के चरणों में बड़े-बड़े धनिक देव इन्द्र अपना सर्वस्व लगाकर ऐसी शोभा और श्रृङ्गार किया करते हैं। ऐसा आप्तदेव का वर्णन करके अब शास्त्र का लक्षण कहते हैं, तत्वार्थ का लक्षण कहते हैं।

गाथा 8

तस्स मुहुग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था।।8।।

शरणभूत परमागम—आप्तदेव के मुख से निकले हुए जो वचन हैं ध्वनि है जो गणधर देव के द्वारा झेली जाती है, जिनके वाच्य अर्थ में पूर्वापर कोई दोष नहीं रहता है, ऐसा जो शुद्ध उपदेश है उसका नाम आगम है। उस आगम के द्वारा कहा हुआ जो कुछ तत्त्वार्थ है उसके श्रद्धान से सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। उस परमेश्वर के मुख कमल से निर्गत चतुरवचनों की रचनाओं का समूह जो कि पूर्वापर दोष से रहित है वह आगम है। उस भगवान् के राग का अभाव होने से कोई अशुद्ध पाप क्रिया का पोषक वचन नहीं निकलता है किन्तु हिंसा आदिक पाप कार्यों का परिहार करते हुए शुद्ध वचन होते हैं और वे वचनसमूह परमागम कहलाते हैं। उस परमागमरूप में अमृत को भव्यजन अपने कानों की अंजुलि से पीकर अपने आपमें शुद्धतत्त्व का दर्शन किया करते हैं।

अमृतपान—भैया ! जैसे कहते हैं ना अमृतपान करो, वह अमृत कहाँ से पिया जाय ? मुँह से पिया जाय क्या ? मुँह से नहीं पिया जाता है। विलक्षण अमृत है। कानों से पिया जाता है। कोई ऐसी दवा नहीं समझना कि जैसे कोई दवा कान में डाल देते हैं, किन्तु अमृत नाम है ज्ञानभाव का। जो न मरे वह अमृत है। यदि मुख से कोई चीज खा ली जिसे अमृत कहा करते हैं तो वही चीज यदि नस गयी तो वह दूसरे को क्या अमर करेगी ? अमृत नाम है ज्ञान का। जो न मरे, सतत् हो उसका नाम है अमृत। मेरे लिए मेरा अमृत ज्ञानभाव है। विपत्तियाँ चारों ओर से घेर रही हों उस समय जरा ज्ञानभाव को संभाला कि सब विपत्तियाँ दूर हो जाती हैं। यह आत्मा अमर है, कभी मरता नहीं है ऐसा ज्ञान जग जाय तो यह अमर हो गया और जहाँ यह संशय लगा है कि कहीं मैं मर न जाऊँ तो ऐसे संशय वाला तो मरा हुआ सा ही है। ज्ञान ही परम अमृत है। जिसके ज्ञान होता है वह कहीं जाय, किसी समय हो, किन्हीं घटनाओं में हों वह ज्ञानबल से अपने आपमें प्रसन्न रहा करता है।

अमृतरूप हुआ ज्ञान कहते किसे हैं ? अपना ज्ञानस्वरूप अपने ज्ञान में आए तो उस ज्ञानवृत्ति का नाम ज्ञान है, यही अमृत है और अज्ञान स्वरूप को अपने ज्ञान में आत्मरूप से ग्रहण करें तो उसका नाम अज्ञान भाव है। शुद्ध लौकिक ज्ञान को ही जब लक्ष्य में लिए होते हैं तो उसकी भी बड़ी महिमा विदित होती है, फिर अलौकिक ज्ञान का तो कहना ही क्या है ?

ज्ञानबल का एक लोकदृष्टान्त—एक वृद्ध ब्राह्मण था। सो वह और उसकी बुढ़िया पत्नी, लड़का और बहू–ये चारों प्राणी किसी गाँव को जा रहे थे। चलते-चलते एक गाँव से निकले और एक मील जाकर एक जंगल में से गुजरने लगे। वहाँ लोगों ने कहा कि आप लोग अभी लौट जाइए, एक मील पीछे गाँवहै, इसके बाद 6-7 मील तक गाँव नहीं है और यह एक भयानक जंगल है जिसमें एक प्रेत रहता है। सो वह प्रेत पहिले प्रश्न करता है। उसका उत्तर यदि देते न बने तो वह मार डालता है। तो सबने सलाह की कि अब चल दिये तो चल दिये पीछे मुड़ने का काम नहीं है। जो होगा देखा जायेगा। वे आगे बढ़ते ही गए। देर हो जाने से एक भयानक जंगल में वे ठहर गए। उन्होंने रात्रि के चार प्रहरों का बँटवारा कर लिया कि पहिले प्रहर में बुड्ढा जगेगा, दूसरे प्रहर में बुढ़िया जगेगी, तीसरे प्रहर में लड़का जगेगा और चौथे पप्रर में बहू जगेगी।

शिक्षापूर्ण प्रश्नोत्तर—अब पहिले प्रहर में प्रेत आया दांत निकाले हुए और बुड्ढे से प्रश्न किया–एको गोत्रे,

यह व्याकरण का एक सूत्र है, शब्द सिद्धि में यह काम देता है। पर वहाँ तो कोई शिक्षाप्रद बात कही जाय तो योग्य उत्तर होगा। तो वह बूढ़ा तुरन्त कविता बनाता है–'एको गोत्रे भवति स पुमान् यः कुटुम्बं बिभर्ति।' जो सर्व कुटुम्ब का भरण पोषण करता है वही कुटुम्ब में श्रेष्ठ पुरुष होता है। शिक्षारूप उत्तर सुनकर प्रेत प्रसन्न हुआ और मारना तो दूर रहा कोई आभूषण इनाम में दे गया। उसके बाद दूसरे प्रहर में बुढ़िया जगी। उससे भी प्रेत ने प्रश्न किया–'सर्वस्य द्वे' यह भी व्याकरण का सूत्र है। इसका भी अर्थ करना चाहिए। सो वह तुरन्त कविता बनाती है 'सर्वस्य द्वे सुमति-कुमति संपदापत्तिहेत।' सब जीवों को ये दो बातें, कौन-कौन–सुमति और कुमति ये सम्पदा और आपदा के कारण होती हैं। सुमति तो सम्पदा का हेतु है और कुमति आपदा का हेतु है। ऐसे शिक्षाप्रद उत्तर को सुनकर प्रेत प्रसन्न हुआ और उसे भी कुछ इनाम दे गया। अब तीसरे प्रहर में जगा लड़का। प्रेत आया तो उससे भी प्रश्न करता है 'वृद्धो यूना' यह भी व्याकरण का एक सूत्र है। इसे भी शिक्षारूप में लेना है। तो लड़का उत्तर देता है–'वृद्धो यूना सह परिचयात्त्यज्यते कामिनीभिः' उसके उत्तर को भी सुनकर वह प्रेत इनाम दे गया। किसी स्त्री का वृद्ध पुरुष हो तो किसी युवक से स्नेह होने पर कामिनी उस वृद्ध को त्याग देती है। अब चौथे प्रहर में जगी वह बहु। प्रेत उसके पास आया और उससे प्रश्न किया। 'स्त्री पुंवत्' यह भी एक सूत्र है। इसका भी शिक्षारूप में उसने अर्थ लगाया। 'स्त्री पुंवत् प्रभवति यदा तद्धि गेहं विनष्टम् ।' स्त्री जिस घर में पुरुष की तरह स्वच्छन्द चलाने वाली हो जाती है वह घर नष्ट हो जाता है। प्रेत इस तरह का उत्तर सुनकर उसे भी कुछ इनाम देकर चला गया। सुबह हुआ, चारों के चारों अपने इष्ट स्थान पर पहुँच जाते हैं।

विद्याधन की विशेषता—मनुष्य का धन एक विद्या ऐसा धन है कि जिसको परिवार के लोग बाँट नहीं सकते, डाकू चोर चुरा नहीं सकते, गवर्नमेंण्ट कुछ टैक्स नहीं लगा सकती। पर और सब धन ऐसे हैं कि जिनका कल का भी विश्वास नहीं होता। विद्या ही निर्बाध धन है और उन विद्याओं में आत्मविद्या एक ऐसी विलक्षण विद्या है कि जिसकी होड़ किसी भी अन्य विद्या से नहीं हो सकती। परीक्षा हुआ करती है योग्य पुरुषों की। अयोग्य की परीक्षा क्या ? कष्ट आया करते हैं तपस्वीजन और संयमीजनों पर, असंयमी के लिए कष्ट क्या ? क्या असंयमियों को कष्ट नहीं है ? उनको जब कष्ट आते हैं तब एकदम बेहद ही कष्ट आते हैं, पर जिसे लोग मानते हैं इस मनुष्य जीवन में कष्ट वे कष्ट असंयमियों को नहीं होते। जैसे भूखे प्यासे रहना, ठंड गरमी सहना ये कष्ट असंयमीजनों को कहाँ है ? जब भूख लगे तब खा लें, जो ओढ़ने को दिल चाहा ओढ़ लिया। तो परीक्षा तो संयमी, योग्य पुरुषों की ही हुआ करती है।

प्रगति में ही परीक्षा—यहाँ यह जानना है कि भाई जो आत्मविद्या में रत होते हैं, जिन्हें धर्म से प्रेम होता है, सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह जिसको प्रिय हैं ऐसे लोगों की तो आज की दुनिया में कुछ अच्छी दशा नहीं दिखती, उन्हें आपत्ति आती है, कोई विशेष पूछता भी नहीं है, यों लोगों को आशंका रहती है। सो भाई यह तो एक परीक्षा है। ज्ञान हमें कितना प्रिय है, धर्म हमें कितना प्रिय है ? इसकी यह परीक्षा है। हम थोड़े लाभ में आकर धर्म और ज्ञान को खो बैठे, बस यही तो परीक्षा की बात है। इस संसार में कौन मेरा प्रभु है, किसको क्या दिखाना है, किसकी निगाह में हम भले बन जायें हमारा उद्धार हो जाय, ऐसा कोई लाकर खड़ा कर दीजिए फिर उसकी ही हम गुलामी करते रहेंगे। कोई ऐसा दूसरा नहीं है कि जिसको

हम अपना समर्पण कर दें, जिसकी हम शरण में जायें तो मुझे दु:ख रहित कर दे। ऐसा दुनिया में कोई दूसरा नहीं है।

अपने परिणामों के संभाल की प्रथम आवश्यकता—भैया ! अपनी ही श्रद्धा, अपना ही ज्ञान, अपना ही आचरण यदि उत्तम रहता है तो समझ लीजिए कि मुझको दु:खी करने वाला कोई दूसरा नहीं हो सकता है। सुखी भी वह स्वयं अपने आपके उत्तम आचरण के प्रसाद से होता है। एक पुस्तक है सुशीला उपन्यास। हमने उसे पढ़ा तो नहीं है पर कहीं थोड़ा प्रकरण देखने में आया कि किसी एक पुरुष से स्त्री ने कोई दूर्भाव बताया और उसने इस प्रकार बाध्य किया कि यदि तुम इच्छा की पूर्ति न करोगे तो हम देशभर में तुम्हारी बदनामी करेंगी। उस पुरुष का उत्तर सुनिये, वह पुरुष कहता है माँ दुनिया मुझे बुरा जान जाय उससे मेरे में बुरा परिणमन नहीं बनेगा किन्तु मैं ही अपने को जब बुरा जानता रहूँगा, मैं ही अपने ज्ञान में बुरा बना रहूँगा तो उससे मेरा अकल्याण होगा। दुनिया की दृष्टि में मैं बुरा भी कहलाऊँ तो भी मेरा अकल्याण न होगा।

भावनानुसार सोते जागते वृत्ति—आप देखो कि जब कोई पुरुष स्वयं बुरा होता है तो अपनी वृत्ति स्वयं ऐसी बनाता है कि उसकी बुराई सबके आगे स्पष्ट हो जाती है। कोशिश यह करो कि अपने भाव स्वप्न में भी बुरे न हो सकें। जागृत अवस्था की तो बात क्या, क्योंकि जगती हुई अवस्था में यदि हम भले रहते हैं तो सोये हुए में भी भली ही बात आयेंगी। जो अध्यात्म की बात बहुत-बहुत ध्यान में रखते हैं उनको सोते हुए में भी अध्यात्म के ज्ञान के स्वप्न आते हैं। यह बात असम्भव नहीं है, ऐसा होता है, जिसका चित्त तृष्णा में रहता है उसको स्वप्न तृष्णा की बातों के आते हैं। जिसका शुद्ध ज्ञान की चर्चा में उपयोग रहता है उसको स्वप्न में भी शुद्ध ज्ञान का स्मरण होता है।

तृष्णावासित पुरुष का एक स्वप्न—एक पुरुष सोते हुए में स्वप्न देखता है कि वह एक गाँव में गया, तो उस गाँव में ज्वार 1)रुपये की मन भर बिक रही थी और उसके खुद के गाँव में 2)रुपया मन थी। एक रुपया की मन भर ज्वार। ऐसे ही पुराने भाव हुआ करते थे। सो उसने सोचा कि 2 मन ज्वार खरीद लें और गाँव में 20 सेर बेच देंगे और 20 सेर अपने खाने को बच जायेगी, सो 1 मन ज्वार खरीदकर एक बोरे में भरकर सिर पर लादे जा रहा है। स्वप्न की यह बात है। इतने बड़े बोझ को लादे हुए सिर में पीड़ा हो गयी। उसकी गर्दन दुखने लगी। तो उसने सोचा कि अब तो बड़ी मुश्किल है, सो उसमें से आधी ज्वार निकालकर उसने फेंक दीया रास्ते में, अब 20 सेर ज्वार लिए हुए जा रहा है। उतने में भी गर्दन दु:ख गयी। सोचा कि आधी ज्वार और फेंक दें, सो उसने 10 सेर ज्वार और फेंक दी, अब तो 10 सेर ही ज्वार उसके पास रह गई। फिर भी वह 10 सेर ज्वार गर्दन को दु:ख दे रही थी। सो उसमें से 5 सेर और फेंक दी, अब रह गयी 5 सेर, 5 सेर ज्वार से भी दु:ख बंद न हो तो उसने सब ज्वार फेंक दी। अब वह रीता होकर चला। फिर भी गर्दन तो दु:ख ही रही थी। बाद में वह देखता है कि अभी सिर में तो कोई दाना नहीं अटका जो कष्ट दे रहा हो, सो वह अपने सर को भी टटोलता है।

इज्जत और धन की तृष्णा में विडम्बना—जो लोग लोभ करते हैं उनको अन्त में कष्ट ही उठाना पड़ता है। जो अपनी पोजीशन की लालसा रखते हैं उनका भी ऐसा ही हाल होता है। एक कोई बहुत बड़ा पुरुष था,

किसी कारण से कुछ घाटा आ गया तो वह अपने घर का गहना गिरवी रखने लगा। वह खुद न गिरवी धरने जाय, सो किसी दूसरे के हाथ से वह गिरवी रखवाया करे। उस बड़े पुरुष के दिन ऐसे आए कि वह जो गहने गिरवी में रख दे उसे उठा न पाये। उसने जितने भी छोटे बड़े आभूषण थे सब गिरवी में रख दिये। जब कुछ न रहा और खपरों के बिकने का नम्बर आया तो अब जब खपरा बेचने लगा तो खपरा अपने हाथ से गिनकर देता है कि कहीं 100 के 105 न चले जायें। सो कहाँ तो बड़े-बड़े गहने आभूषण दूसरों के अपने यहाँ गिरवी रखते थे और कहाँ अब खपरियाँ गिनने लगे। तो जहाँ तृष्णा होती है, चाहे धन की हो चाहे इज्जत की हो, तृष्णा में विवेक काम नहीं देता है।

अज्ञानी पर पर्यायतृष्णा का बड़ा बोझ—अज्ञानीजनों के तो पर्याय की तृष्णा निरंतर रहा करती है, मैं पुष्ट हूँ, मैं दुर्बल बन गया हूँ, मैं सबल बन गया हूँ, मैं सुन्दर हूँ, मैं कुरूप हूँ आदिक बातों का तो उसके उपयोग पर बोझा रूप रहा ही करता है। उसके दु:ख का तो ठिकाना ही क्या है ?

सुन्दरता के अर्थ का रहस्य—भैया ! सुन्दर जानते हो किसे कहते हैं ? कहते हैं ना लोग कि यह बड़ा सुन्दर है। सुन्दर में तीन शब्द हैं–सु उन्द् अर। सु तो उपसर्ग है उन्द् धातु है और अर प्रत्यय लगा है। उन्द् धातु का अर्थ है जो क्लेश दे और अर लग गया कृदन्त का प्रत्यय और सु लग गया भली प्रकार। जो अच्छी तरह से क्लेश दे उसका नाम है सुन्दर। जो अत्यन्त कष्ट दे यह है सुन्दर शब्द का अर्थ। मगर मोहीजन आसक्त हैं ना अपनी इष्ट वस्तु में, इसलिए उन्हें सुन्दर शब्द के कहते ही बहुत अच्छा लगता है। वाह-वाह मुझे कहते हैं लोग कि तुम बड़े सुन्दर हो और कहा क्या है कि तुम तड़फा-तड़फाकर बुरी तरह से कष्ट देकर मारने वाले हो, पर लोग खुश-खुश होते हैं कि मुझे बहुत सुन्दर कहा। सो इसका अर्थ ठीक ही है–जो सुन्दर लगता है वह दूसरे के कष्ट के लिए होता है और उसका काम ही क्या है ?

यह जीव अपने को सुन्दर मानता, कुरूप मानता, निर्धन मानता, धनी मानता, अनेक परिणमनोंरूप मानता है। यह इसका अज्ञान इसके समस्त कष्टों का बीज बन गया है। नहीं तो बतलाओ कि किसे क्या कष्ट है ? जरा अपने उस सहजस्वरूप को तको कि मैं तो केवल ज्ञानज्योतिमात्र हूँ, बस यही पर्यायबुद्धि दु:ख देती है।

आगमज्ञान का बल—आप्त आगम और तत्त्वार्थों के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है। इस प्रसंग में आप्त का लक्षण तो बता चुके थे, इस गाथा में आगम और तत्त्वार्थों का स्वरूप कहा जा रहा है। जो आप्तदेव हैं उनके मुख कमल से निर्गत जो दिव्यध्वनि है उससे जो गणधर देवों ने रचना की है और उसी परम्परा की जो रचना है वह परमागम कहलाता है। यदि परमागम न होता तो आज लोग कहाँ से वस्तुस्वरूप का अवगम कर पाते ? परमागम भव्य जीवों के कर्णों द्वारा पीने योग्य अमृततत्त्व है। मुक्ति का क्या स्वरूप है इसको बताने के लिए यह परमागम दर्पण है। जैसे दर्पण को देखकर बहुत-सी चीजें ज्ञात कर ली जाती हैं, इसी तरह परमागम एक ऐसा आइना है कि जिसके बल पर आप नरक स्वर्ग द्वीप समुद्र सब रचनाएँ ऐसी दृढ़ता से बोलते हैं जैसे मानलो आप वहीं होकर आए हैं।

परमागम की भक्ति से स्पष्ट ज्ञान—कैसे नरकों की रचना अपन बता देते हैं कि पहिला नरक इतना लम्बा चौड़ा है, उसमें इतना पोल है, उसमें ऐसे नारकी रहते हैं और वहाँ तक क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव भी पहुँच

सकते हैं, फिर उससे कुछ आकाश छोड़कर दूसरा नरक है। कोई दूसरा यदि गलत कह दे तो बीच में टोक देते हैं, अजी ऐसा नहीं है। तीसरे नरक तक असुरकुमार के देव जाकर खूब भिड़ाते हैं कैसी दृढ़ता से सब बातें बताते जाते हैं, जैसे नरक से अभी आ रहे हों और बता रहे हों और स्वर्गों की भी बातें खूब बताते हैं। तो यह परमागम एक ऐसा दर्पण है जिसमें पदार्थ का हम आप परिज्ञान करते हैं।

परमागम में मुक्ति मुखबिम्ब का दर्शन—अथवा यह परमागम मुक्तिरूपी सुन्दरी के मुख को झलकाने वाला दर्पण है। अर्थात् जैसे कोई युवती मुख देखती है दर्पण में तो दर्पण सामने रखती है। देखती है तो दर्पण में भी मुख प्रतिबिम्बित हो जाता है इसी प्रकार आत्मा का पूर्णस्वरूप मोक्ष किस वस्तु का नाम है, वह कहाँ स्थित होता है ? यह सब इस परमागम दर्पण में देखते जाओ। इस परमागम का कितना महोपकार बताएँ ? कितना संसार में क्लेश है, मानो संसाररूपी महान समुद्र की भंवरों फँसे हुए हम आप जीव हैं, इस जीव को हस्तावलम्बन देने वाला विशुद्ध परमागम है।

परमागम का निर्भ्रान्त हस्तावलम्बन—भैया ! बड़ी-बड़ी कठिन स्थितियाँ आ जाती है। कुछ कठिनाई नहीं आती। कल्पना में बना लेते हैं। जैसे मानलो किसी का कोई इष्ट गुजर गया, तो चिल्लाते, प्राण देते, कैसी भयंकर स्थिति है इस संसार में ? है नहीं कष्ट कुछ भी पर सब कल्पना से कष्ट बना लिए जाते हैं। तो ऐसे महान् उपद्रवों में भी अगर कोई शुद्ध हस्तावलम्बन देने वाला है तो यह परमागम है। और आज के जमाने में जबकि कुछ समय का ऐसा फेर है कि गुरुजन भी ऐसे नहीं मिलते कि जिनके वचनों का तुरन्त विश्वास किया जा सके। ये ठीक कहते हैं, ये जानते हैं, ये निर्दोष बात बोलेंगे–ऐसा विश्वास नहीं बैठ पाता। कठिन है गुरुजनों का मिलना। गुरुओं के नाम पर बहुत मिलते हैं पर उनके वचनों का पूर्ण विश्वास हो सके, ऐसी बात आज बहुत कठिन है। कोई किसी को गलत बताता है, कोई पूर्वाचार्यों की ही गलती बताने लगते हैं, कोई अपने मनगढ़ते सिद्धान्त रचने लगता है। कोई ऐसी बात लिख देते हैं जो शास्त्रों में नहीं मिलती ताकि लोगों पर प्रभाव पड़े। अब कहाँ विश्वास करें ? ऐसे संदेह वाले वातावरण में यदि कोई हस्तावलम्बन की चीज है तो यही है परमागम।

परमागम का एकमात्र शरण—आचार्यों के वचन झूठे न निकलेंगे, वे धोखा न देंगे, उनका अर्थ समझ लो, श्रद्धान करो। तो आज जैसे समय में जहाँ धर्म के ह्रास का समय आ रहा है तो यह परमागम ही एक हस्तावलम्बन है। हमारा कल्याण कैसे हो, ऐसा किसी की ओर से प्रश्न आये कि इसका उपाय तो बताओ। तो आप क्या उपाय बताएंगे ? इसका सीधा एक ही उपाय है कि खूब स्वाध्याय करो, ज्ञानार्जन करो तो परमागम का शरण हम आप सबके लिए महान् हस्तावलम्बन है।

बोध बिना वैराग्य की विडम्बना—यह परमागम वैराग्य महल के शिखर का शिखामणि है। परमागम का बोध न हो तो वैराग्य भी अटपट रहता है। सिलसिलेवार ढंग से फिट बैठता ही नहीं है।

बोध बिना वैराग्य की विडम्बना का एक उदाहरण—एक भाई जी थे। सागर की बात है। सो उनका यह नियम था कि हरीसाग न छौंकना, हरी साग छौंकने का त्याग था। चक्कू से तो काट लें, पर पतेली में न छौंकने का नियम था और एक दिन खाना व एक दिन न खाना, यह दूसरा नियम था। सो जिस दिन खाने की बारी आए उस दिन सारा दिन लग जाता था। एक दिन दोपहर के 10, 11 बजे से सागभाजी

बनाकर बैठे हुए सोच रहे हैं कि कोई आए तो छौंकवा लें क्योंकि उनके छौंकने का त्याग था। इतने में बड़े वर्णी जी पहुँचे। उस समय वे ब्रह्मचारी ही थे। तो भाई जी बोले अरे पंडित जी तनिक हमारा साग छौंक दो। कहा कि तुम काहे नहीं छौंकते ? भाई जी ने कहा कि हमारा छौंकने का त्याग है। तो वर्णीजी बोले कि, हम छौंक तो देंगे पर यह कह देंगे कि इसमें जो पाप लगे वह भाई जी को लगे। कहा वाह वाह फिर छौंका ही क्या ? तो बहुत मनाया सो पंडितजी साग छौंकने लगे, परन्तु छौंकते हुए वर्णीजी ने कह ही दिया कि इसका पाप भाई साहब को लगे। सो भाई जी उचक कर खड़े हो गए। बोले–वाह जी तुमने तो हमारा नियम तोड़ दिया। अरे परिणाम में आया सो वह तो छौंके की ही तरह हो गया।

परमागम की सेवा का प्रयोजन—भैया ! बिना ज्ञान के वैराग्य की विडम्बना बता रहे हैं। और आगे आप देखते जाओ दसों जगह ऐसी बात मिलेगी बिना ज्ञान के वैराग्य की विडम्बना की। तो यह परमागम वैराग्य रूपी महल के शिखर पर शिखामणि की तरह है। परमागम पढ़ने का प्रयोजन है कषायों को मिटाना। जैसे एक दोहे में कहते हैं कि 'धन को पाय दान नहीं दीन्हा, आगम पढ़ नहीं मिटी कषाय। काय पाय के व्रत नहीं कीन्हा, कहा किया नरभव में आय।' तो परमागम के अभ्यास का प्रयोजन है कषाय का मिटना। यह कषाय कैसा है ? बुढ़िया, जवान, बच्चे, बूढ़े सभी में यह कषाय भरा हुआ है। इस कषाय के मिटाने का मूल उपाय है ज्ञान। और ज्ञान में ज्ञान है वह जहाँ वस्तु की स्वतंत्रता का भान हो, और उस ज्ञान में भी ज्ञान है वह जहाँ ज्ञान ज्ञान को ही जानने में लगा हो। और बाकी तो सब अज्ञान के खेल हैं।

अज्ञान के खेल—बड़े रईस लोग अपने बांस बल्ला का खेल खेलें, बौल उचकाने में लग जायें और जो गरीब आदमी हैं वे कबड्डी ही खेल लेंगे। मगर हैं तो वे दोनों खेल ही। पुण्यवान् हो तो और तरह खेल खेले, पापवान् हो तो और तरह खेल खेले, पर हैं तो सब अज्ञान के खेल। इस परमागम की महत्ता बतायी जा रही है। जिसकी ओर आज सामूहिक रूप में समाज की दृष्टि नहीं है और धर्म के नाम पर ईंट महल पत्थर बड़े से बड़े खड़े कर देंगे। धर्म के नाम पर बाजे वगैरह बजवायेंगे पर पूछो कि इस समारोह में तुम्हारे 5 लाख रुपय लगे हैं तो परमागम की सेवा में क्या 5 हजार भी खर्च नहीं कर सकते ? 5 हजार तो जाने दो, 500 का भी अनुपात नहीं मिलता। और कहीं तो 5) भी खर्च नहीं होते तो इसकी क्या वजह है कि जब आज सभी के सिद्धान्त देश विदेश में भारी पैमाने पर और अच्छे ढंग में दर्शकों के हाथ में पहुँच रहे हैं और तुम्हारे क्या हाल है ? सो जरा पढ़े लिखे पुरुषों से जाकर पूछो कि आपके सिद्धान्त का कोई संचार है ?

मुक्तिमंदिर का प्रथम सोपान परमागम—उस परमागम की बात कही जा रही है जिसकी सेवा बड़े-बड़े आचार्यों ने अपनी जीवन भर की बड़ी तपस्याओं के अनुभव करके जिन्होंने ऐसा लिख दिया कि आपको बना बनाया भोजन तैयार है, फिर भी इसकी ओर दृष्टि कम है। यह परमागम निर्दोष मोक्ष महल की पहिली सीढ़ी है। जैसे सीढ़ी पर चढ़े बिना महल में नहीं पहुँच सकते इसी प्रकार यदि मोक्ष महल में पहुँचना है तो सबसे पहिली सीढ़ी परमागम का अभ्यास है। सब बातें यहाँ से शुरू होती हैं। परमागम के अभ्यास बिना आगे धर्म में प्रगति नहीं होती।

रागसंताप शान्ति में परमागम का योग—यह परमागम अशुभ राग आग के अंगारों से जलते हुए जीव को

मेघ का काम करने वाला है। वन में आग लग जाय तो वहाँ बाल्टियों से काम न चलेगा, वहाँ म्यूनिसिपैलिटी के औजारों से काम न चलेगा, वहाँ तो मेघ ही बरष जायें तो आग बुझ सकती है और दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसी प्रकार कामवासना आदिक अशुभ परिणामों से उत्पन्न हुए अप्रशस्त राग के अंगारों द्वारा पच रहा जो यह जीवलोक है, इसके इस राग संताप को मिटाने में समर्थ यह परमागमरूप मेघ है। इस परमागम के अभ्यास द्वारा ज्ञान बरष जाय तो ये क्लेश दूर हो सकते हैं। ऐसे इस परमागम के द्वारा कहे गये जो तत्त्व हैं उन्हें कहते हैं तत्त्वार्थ।

तत्त्वार्थ के अवगम का लक्ष्य—तत्त्व कितने हैं जिनके जानने से सम्यग्ज्ञान की दिशा मिलती है। वे तत्त्व 3 हैं, वे तत्त्व 6 हैं, 7 हैं, 9 हैं, किन्हीं भेदों के सहारे आत्मतत्त्व का सहजस्वभाव पहिचाना जाता है और सर्वपरिज्ञानों का मर्म एक ही है कि अपने सहजस्वभाव का परिचय हो जाय। तीन तत्त्व हैं, बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा। उन्हीं का ही विश्लेषण करते जाइए सब बातें आ जायेंगी, 7 तत्त्व, 9 पदार्थ सब उसमें गर्भित हो जायेंगे अथवा 6 द्रव्य –जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इनका वर्णन जानिये, प्रयोजनभूत सहजस्वभाव का मर्म आ जायेगा। 7 तत्त्वों का श्रद्धान तो बताया ही गया है और पुण्यपाप सहित 9 पदार्थ होते हैं। ये ही तत्त्वार्थ कहे गए हैं।

आवश्यक व्यवहार श्रद्धान—जैसा जो पदार्थ है, न उससे कम, न ज्यादा, न विपरीत, जैसा है तैसा नि:संदेह जानना यही है तत्त्वार्थ का परिज्ञान। सो आप्त आगम और तत्त्वार्थ के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है। यह बात यहाँ बतायी जा रही है। किन्हीं शास्त्रों में देव, शास्त्र, गुरु के श्रद्धान की बात कही गयी है। उससे और इससे विरोध कुछ नहीं है। आप्त में देव आ जाते हैं और गुरु आंशिक आप्त गुरु हैं और सर्वदेश देव आप्त सर्वज्ञदेव हैं। शास्त्र में आगम और तत्त्वार्थ ये दोनों गर्भित किए जाते हैं। वाचक और वाच्य। शास्त्र वाचकरूपता की प्रमुखता से वाच्य रूप शास्त्र में तत्वार्थ आया, यों आप्त आगम और तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना, सो व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

परमागम की वास्तविक भक्ति—कैसा है यह परमागम अथवा यह श्रुत ज्ञान जो परमागम निर्वाण के कारण का कारण है, मोक्ष का कारण है रत्नत्रय और रत्नत्रय के पाने का कारण है परमागम। यदि यह वीर वाणी का प्रकाश न होता तो कहाँ ये जीव शांति पाया करते ? कहाँ यह निर्वाण का मार्ग पाते ? यह परमागम सदा योगी पुरुषों के द्वारा वंदनीय है और परमागम की वास्तविक वंदना तो उसमें लिखे हुए अर्थ का मनन करने में है और उस मनन द्वारा ऐसी प्रसन्नता पाये कि उस पर गद्गद् होकर परमोपकार सूचक अनुराग जगे। तो यही है परमागम की वास्तविक भक्ति और केवल शास्त्र को उठाया, दो लकीर पढ़ा, चल दिया, यह परमागम की भक्ति नहीं है।

स्वाध्याय की निरुद्देश्य रुढ़ि से शास्त्र की आफत—यदि किसी मंदिर में बिना जिल्द का बिना सिया हुआ शास्त्र हो तो उसकी तो आफत आ जाती है। एक महिला उस शास्त्र को धरे स्वाध्याय कर रही हो तो एक ने तो नीचे से पन्ना निकाल कर पढ़ लिया, किसी ने बीच में से एक पन्ना निकालकर पढ़ लिया। खुले शास्त्र की बात कह रहे हैं। तब उस शास्त्र में पृष्ठ नम्बर भी क्रम से नहीं रह पाते हैं। और वे शास्त्र इसीलिए हैं कि अनेक पुरुष एक शास्त्र का एक साथ स्वाध्याय करलें। तो यह परमागम की सेवा नहीं है।

विधिवत् पढ़ो, विद्यार्थी बनकर पढ़ो।

विद्यार्थी बनने में जो वैभव भरा है उसको विद्यार्थी ही जान सकते हैं। थोड़ी देर को मान लो यहाँ क्लास लगाते होते और बूढ़े, जवान, बच्चे सभी अपना-अपना बस्ता ले आते, अपनी-अपनी पोथी दबाकर आते, कलम, कागज, पेंसिल लेकर आते और चलते कि अब पढ़ने जा रहे हैं तो चाहे कैसे ही बूढ़े हों पर एक बार तो बालकपना झलक ही जायेगा। बालक की विशेषता है निर्विकारता और कषाय की मंदता। यदि अवस्था के प्रतिकूल हो तो भी ये गुण कुछ उस क्षण आ जायेंगे। विद्यार्थी बनकर किसी गुरु के समक्ष पढ़ो तो क्रोध कषाय का तो काम रहेगा नहीं क्योंकि विनयपूर्वक अध्ययन करना बताया गया है। मान नहीं है, मायाचार नहीं है, लोभ तृष्णा का ध्यान नहीं है, एक ही लक्ष्य है कि मुझे पढ़ना है।

भावपूर्वक विद्यार्थी के बाने का असर—जैसे आजादी का सूत्र निकल गया था कि चर्खा चलाओ। तो क्या चर्खा चलाने से आजादी मिल जायेगी ? अरे चर्खे की कमाई से आजादी नहीं मिलती, पर चर्खा जो चलायेगा रईस हो, बाबू हो उसके अन्दर से रईसी की ऐंठ तो गायब ही हो जायेगी और एक अनुभव होगा जनता की तरफ का, गरीबों की तरफ का। ऐसी स्थिति में लोगों की बुद्धि बढ़ेगी और अक्ल ठिकाने आयेगी। फिर उससे जो योजना बन गयी उसने आजादी दिलायी। चर्खे ने सीधी आजादी नहीं दिलायी। इसी तरह यह पढ़ने का जीवन है। कितनी ही उम्र हो जाय यदि यह भाव आ गया कि अब हमें पढ़ने जाना है तो पोथी लेकर चलें, बस्ता बाँधकर चलें, एक दो साथी भी जा रहे हैं। तो जो बचपन की खेलकूद बहुत दिनों से भूल चूके हैं उसकी कला थोड़ी तो आ ही जायेगी। निर्विकारता और मंद कषायता तो कुछ हो ही जायेगी और फिर विनयपूर्वक क्रम से अध्ययन करने में जो मार्ग मिलता है उस मार्ग से फिर शांति के पाने में उसे संदेह नहीं रहता।

तत्त्वार्थपरिज्ञान से लाभ—इस प्रकार आगम और आगम के द्वारा कहे गए तत्त्वार्थ का वर्णन इस गाथा में किया गया है और तत्त्वार्थों में तीन तत्त्व, 7 तत्त्व और 9 पदार्थ के रूप से प्रयोजनभूत बातें सब बतायी गयी हैं। यही सब तत्त्वभूत 6 पदार्थों का वर्णन इस गाथा में आया है। जिस किसी भी प्रकार यह ज्ञान में आ जाय कि मेरा परमाणुमात्र भी नहीं है, बस ज्ञान का फल पा लिया और जब तक यह समझ नहीं बैठती है तब तक समझो कि विद्या और ज्ञान उतनी ही कीमत रख रहा है जितनी कि धन और वैभव। धन वैभव से जैसे हम लोग पोजीशन बढ़ाते हैं, इसी तरह इस शब्द की विद्या से भी अपनी पोजीशन बढ़ाते हैं। इससे अधिक अपने आपमें मौलिक कोई लाभ होता हो सो नहीं हो पाता है।

भगवती प्रज्ञा का बल प्रदान—भैया ! करने के लिए बात तो सीधी है, कहते हुए तो बात सुगम है पर अज्ञान में यह बात कठिन क्या असम्भव है। परिग्रह के संग में ममता के रंग में तेज रंगा हो उसको यह बुद्धि कहाँ से आये कि जरा अपने ज्ञानस्वरूप की दृष्टि करके कुछ अपना बल तो बढ़ा लें। कितनी ही परेशानियाँ हों और ऐसी कठिन परेशानियाँ हों जिनसे पिण्ड छुड़ाना कठिन हो, फिर भी इस भगवती प्रज्ञा के प्रसाद से इस ज्ञानभावना के प्रसाद से बीच-बीच में ऐसा बल प्राप्त होता है कि वे परेशानियाँ महसूस नहीं होतीं। जैसे किसी की कोई चीज नष्ट हो गयी हो तो उसे समझाते हैं अपना क्या है ? क्यों रोते हो ? तो समझाने पर क्षणिक शांति की बात मन में आती है। समझाने वाले हटे कि वे ही परेशानियाँ फिर

आ गयीं, फिर समझाने वाले मिले कि वे ही परेशानियाँ फिर कम हो गयीं। इसी प्रकार जैसे ही ज्ञानभावना जगी कि संकट कम हो जाते हैं, और फिर ज्ञानभावना शिथिल हुई कि संकट फिर बढ़ जाते हैं। तो संकटों के मिटाने का उपाय एक ज्ञानभावना ही है।

तत्त्वार्थ 6 होते हैं, उनका वर्णन अब इस 9वीं गाथा में कहा जा रहा है।

गाथा 9

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता।9।।

अनन्त पदार्थों में प्रत्येक पदार्थ का परिमाण—दृश्य और अदृश्य समस्त पदार्थ 6 जातियों में बँटे हुए हैं। पदार्थ तो 6 नहीं होते हैं। पदार्थ अनन्तानन्त हैं, द्रव्य अनन्तानंत हैं क्योंकि एक द्रव्य वह कहलाता है जो अपने में अपना परिणमन करता हुआ रहे, अपने से बाहर जिसका कभी परिणमन नहीं होता और अपना जितना एक परिपूर्ण प्रदेश में परिणमन हो उसको एक कहते हैं। इस एक की व्याख्या से निगाह करके देखें तो अनन्त जीव ज्ञात होते हैं क्योंकि एक का परिणमन दूसरे जीव में नहीं पहुँचता है।

स्वरूपदृष्टि से आत्मा का एकत्व—जो सिद्धान्त एक ही आत्मा को मानने वाला है उसके मंतव्य में यह आपत्ति आती है कि जो विचार एक आत्मा में हुआ, जो सुख या दु:ख एक आत्मा में हुआ ठीक वही परिणति समस्त आत्माओं में हो तब तो एक कहा जायेगा। जब भिन्न-भिन्न परिणमन होते हैं तब सबको एक कैसे कहा जा सकता है ? हाँ स्वरूप की दृष्टि से एक है, अर्थात् जितने भी आत्मा हैं समस्त आत्माओं का स्वरूप एक है वे भिन्न नहीं है। यहाँ तक कि चाहे मुक्तजीव हों, चाहे संज्ञीपंचेन्द्रिय हों, चाहे निगोद हों, चाहे भव्य हों अथवा अभव्य हों, समस्त जीव एक स्वरूप वाले हैं। स्वरूप की दृष्टि से किसी जीव से किसी अन्य जीव में कोई अन्तर नहीं है। ऐसे स्वरूप की दृष्टि से आत्मा एक है। परवस्तु की दृष्टि से, अर्थक्रियाकारिता की दृष्टि से आत्मा एक नहीं है किन्तु जितने आधारों में जितने अनुभाव हैं उतने आत्मा है। इस प्रकार अनन्तानन्त आत्मा हुए।

दृश्यमान अनगिनते कायिक जीव—भैया ! पहिले तो जो शरीर दिख रहे हैं उनसे ही अंदाज कर लो कितने जीव हैं ? जहाँ कीड़ियाँ निकल आती हैं एक जगह ही हजारों चींटियाँ उमड़ जाती हैं। ऐसे ही सब जगह देख लो–एक-एक पेड़ में असंख्यात जीव है, यद्यपि मूल जीव एक है फिर भी जितने पत्ते हैं उनसे भी असंख्यात गुने एक पेड़ में जीव हैं। ऐसे सारे पेड़ देखलो। जानने वाले शरीरों को ही देख लो। कुछ परिमाण है क्या ? फिर अब आगमदृष्टि से निरखो, जितने जीव मनुष्यगति में है, उनसे असंख्यातगुणे जीव देवगति में हैं, उनसे असंख्यातगुणे जीव नरकगति में हैं, उनसे असंख्यातगुणे जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय में हैं। जितने कि पंचेन्द्रिय व विकलत्रय हैं और उनसे भी असंख्यातगुणे जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और

प्रत्येक वनस्पति हैं। उनसे अनन्तगुणे जीव सिद्धभगवान् हैं और उनसे अनन्तगुणे जीव निगोद जीव हैं। ऐसे अनन्तानन्त सभी जीव स्वरूपदृष्टि से एक जाति में सम्मिलित हो जाते हैं।

जीव के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग—जीव का स्वरूप है शुद्ध ज्ञायकपना, स्वच्छता, प्रतिभासशक्ति। यह स्वरूप सबमें एक समान है। जीव शब्द के अनेक अर्थ हैं और उन अर्थों से जीव की विशेषताएँ विदित होती हैं। जीव शब्द का अर्थ है 10 प्राणों करके जो जीता है, जिया था, जीवेगा उसको जीव कहते हैं। आत्मा शब्द का अर्थ है जो निरन्तर जानता रहता है उसे आत्मा कहते हैं। ब्रह्म शब्द का अर्थ है–जो अपने गुणों से बढ़ने का स्वभाव रखता हो उसे ब्रह्म कहते हैं। चेतन शब्द का अर्थ है जो चेतता है, दर्शन ज्ञान गुण के द्वारा जो प्रतिभासता रहता है उसे चेतन कहते हैं। यहाँ जीव शब्द का प्रयोग किया गया है। चूँकि पदार्थ को बताना है। सो पदार्थ को बताते हुए में जितने व्यावहारिक शब्द हैं उनका प्रयोग किया जाता है।

जीव, आत्मा व ब्रह्म शब्द के विभिन्न पदों में प्रयोग की उपयुक्तता—जीव शब्द आत्मा शब्द की अपेक्षा कुछ व्यावहारिक है। यदि योग भाषा में, बुद्धिमान लोगों की भाषा में जीव आत्मा और परमात्मा अथवा जीव आत्मा और ब्रह्म इन तीन शब्दों की मुख्यता की दृष्टि से प्रयोग करे तो बहिरात्मा का नाम तो जीव है और अन्तरात्मा का नाम आत्मा है और परमात्मा का नाम ब्रह्म है। यद्यपि जीव ही सबका नाम है, आत्मा ही सबका नाम है और ब्रह्म ही सबका नाम है, फिर भी शब्दों में जो अर्थ भरा है उसकी दृष्टि प्रमुख करके विचारा जाय तो जीव शब्द का प्रयोग बहिरात्मा के लिए अधिकतर होना चाहिए।

वचनव्यवहार—यह जीव संसार परिभ्रमण कर रहा है। ऐसा ही तो लोग बोलते हैं। ऐसा तो नहीं कहते हैं कि यह ब्रह्म संसार में परिभ्रमण कर रहा है। यद्यपि उस ही पदार्थ का नाम जीव है, उसी पदार्थ का नाम ब्रह्म है फिर भी तीनों शब्दों के बोलने की शैली तो देखो–यह जीव 84 लाख योनियों में भ्रमण करके जन्म मरण के संकट भोग रहा है यों तो बोलेंगे, पर ऐसा बोलते हुए नहीं सुना है कि यह ब्रह्म 84 लाख योनियों में भ्रमण करके दु:ख भोग रहा है। इससे ज्ञात होता है कि यद्यपि ये सभी शब्द चेतन पदार्थों के नामांतर हैं, फिर भी जो इसमें अर्थ भरा है जो इसमें पद्धति भरी है उस दृष्टि से बहिरात्मा के लिए तो जीव शब्द का बोलना अधिक उपयुक्त है और ज्ञानीसंत अन्य आत्माओं के लिए आत्मा शब्द का बोलना अधिक उपयुक्त है और प्रभुमुक्त जीवों को ब्रह्म शब्द बोलना अधिक उपयुक्त है। यह अन्य लोगों की भाषा में समन्वय करते हुए इस दृष्टि से बताया गया है।

जीव शब्द की व्याख्या—विभिन्न पदवियों वाली यह दृष्टि इस गाथा में नहीं अपनायी गयी है। यह जो जीव शब्द के लिए कहा गया है। जीव किसे कहते हैं ? जो दश प्राणों करि जिया था, जी रहा व जीवेगा उसे जीव कहते हैं। प्राण 10 होते हैं। 5 इन्द्रिय, 3 बल और 1 श्वासोच्छास और 1 आयु। इन 10 प्राणों में जो 5 इन्द्रिय प्राण हैं इनमें भावेन्द्रिय की मुख्यता है, द्रव्येन्द्रिय की मुख्यता नहीं है। तभी तेरहवें गुणस्थान में कितने प्राण होते हैं ? ऐसा प्रश्न किए जाने पर उत्तर आता है कि चार प्राण होते हैं। 5 इन्द्रिय प्राण नहीं रहे और एक मनोबल नहीं रहा तो यह भावेन्द्रिय में उपयुक्त होता है। कोई एकेन्द्रिय जीव मरकर मनुष्य होने जा रहा है तो विग्रहगति में प्राण कितने होते हैं ? ऐसा प्रश्न किया जाने पर उत्तर आता है कि 7 प्राण होते हैं। 5 इन्द्रिय 1 आयु और 1 कायबल। तो वहाँ इन्द्रियों का निर्माण तो हुआ नहीं। एकेन्द्रिय

से मरकर जा रहा है। मनुष्य बनेगा, वहाँ क्षयोपशमरूप इन्द्रियाँ आ गयीं इस लिए पाँच इन्द्रिय प्राण माने हैं। तो उसके विग्रहगति में 5 इन्द्रिय प्राण होते हैं अर्थात् सुनने की शक्ति, चखने की शक्ति, सूँघने की शक्ति, देखने की शक्ति, भोगने की शक्ति, इस तरह 5 इन्द्रिय प्राण होते हैं तथा एक काय वाले व एक आयु यों 7 प्राण कहे गये हैं। पाँच इन्द्रिय, तीन बल, मनोबल, वचनबल, कायबल और श्वासोच्छवास तथा आयु तो 10 प्राणों करके जो जी रहा है या जीता था उसका नाम जीव है। भगवान् के तो 10 प्राण ही नहीं है। पर भगवान् भी 10 प्राणों करके जीते थे तो उनका भी नाम जीव है। जीव अनन्त होते हैं।

जीव शब्द का निश्चयदृष्टि से अर्थ—व्यवहार से तो यह जीव 10 द्रव्यप्राणों को धारण करने से है, किन्तु निश्चय से भावप्राणों के धारण करने से यह जीव है। अर्थात् जो चैतन्यप्राणों करके जीवे उसका नाम जीव है। यह लक्षण सब जीवों में सीधा चला जाता है। और जो द्रव्य प्राणों के धारण करने से जीवे उसे जीव कहते हैं। यह कथन व्यवहारदृष्टि से है। अब इस ही जीव को कई भागों में बाँटते चले जाइए।

तीन पद्धतियों में जीव तत्त्व का अवगम—कार्यशुद्ध जीव, अशुद्ध जीव और कारणशुद्ध जीव। इन तीनों की व्याख्या कर रहे हैं। कार्य शुद्ध जीव तो अरहंत सिद्ध हैं। केवल ज्ञानादिक शुद्ध गुणों के जो आधारभूत हैं उनको शुद्ध कार्यजीव कहा जाता है। यह निश्चयनय से नहीं कहा जा रहा है, व्यवहार से कहा जा रहा है, किन्तु यह व्यवहार शुद्ध सद्भूत है। जैसा व्यक्त है और पवित्र शुद्ध है, वैसी बात कही जा रही है और वही जीव।

जीव की अवस्थाएँ—जो अशुद्ध जीव है वह अशुद्ध जीव कहलाता है अर्थात् जो विभाव परिणमन वाला है, विभाव से परिणत है, मतिज्ञानादिक के जो आधार हैं उनको अशुद्ध जीव कहते हैं। रागद्वेष मोह सभी ले लो, यह अशुद्ध सद्भूत व्यवहार से है। परिणमन सब जीवों के हैं। चाहे सम्यग्दृष्टि जीव के रागादिक हों तो भी राग परिणमन जीव के ही है, पुद्गल की अवस्थाएँ नहीं हैं और चाहे मिथ्यात्व दशा में हो तो भी वे परिणमन जीव के ही हैं पुद्गल के नहीं होते हैं।

कारणशुद्ध जीव—ज्ञानी व अज्ञानी में अन्तर यह हो जाता है कि अज्ञान दशा में तो विभाव का परिणमन भी है व उनका उपयोग से कर्ता भी है। किन्तु ज्ञानी छद्मस्थ पुरुष की हालत इसमें एक अंग की रह गयी। अर्थात् परिणमन तो वहाँ विभावों का होता है, पर उपयोग से कर्ता नहीं रहा और वीतराग प्रभु में न परिणमन ही है और न कर्तृत्व ही है। पर जहाँ भी विभावरूप यह परिणमन है रागादिक का वह जीव के ही गुणों का विभाव परिणमन है, वह अशुद्ध है किन्तु सद्भूत है। अशुद्ध सद्भूत व्यवहार से यह अशुद्ध जीव है, और शुद्धसद्भूत व्यवहार से कार्यशुद्ध जीव है।

कारणशुद्ध जीव कौन है जो रागादिक परमस्वभावरूप गुणों का आधारभूत है वह कारणशुद्ध जीव है। यह शुद्ध निश्चय से कहा जा रहा है अर्थात् किसी अन्य की अपेक्षा न रखकर केवल जीव के अंतसतत्त्व को निरखकर कहा जा रहा है। यह अनादि अनन्त अहेतुक सहज स्वभावरूप कारण शुद्ध जीव है।

चेतन के गुण—यह जीव चेतन है और इसके चेतन गुण है। चेतन के गुण चेतन होते हैं लेकिन अर्थपरत्त्व दृष्टि से देखा जाय तो इस जीव में चेतने वाले गुण दो ही है–ज्ञान और दर्शन। बाकी श्रद्धा, आनन्द अस्तित्त्वादिक साधारण गुण अमूर्तता सूक्ष्मता आदि ये सब अचेतनगुण हैं अर्थात् ये चेतते नहीं हैं, किन्तु इन

चेतन पदार्थों का असाधारण गुण चेतन है ज्ञान दर्शन है, इसलिए बाकी सब गुण इस असाधारण गुण के ही मानो रक्षक हैं, इसमें ही तन्मय हैं सो जो असाधारण गुण में तन्मय हैं, असाधारण गुणवान के साथ तन्मय हैं वे सब चेतन गुण ही कहलाए।

चेतन के असाधारण गुण की रक्षासूचक गुण—अथवा इस दृष्टि से देखो। जीव का जो चैतन्यगुण है उस चैतन्य गुण की रक्षा करने के लिए ही अन्य सब साधारण और असाधारण गुण है। कैसे कि इस जीव में सूक्ष्मत्व गुण नहीं होता तो ज्ञान दर्शन का रूप ही क्य बनता ? जीव के रूप, रस, गंध, स्पर्शता होती, तो क्या यह जानने देखने का काम कर सकता था ? नहीं। इसी प्रकार सब गुणों की बात देखते जायें तो सब गुण चेतन के चेतन हैं। यह अमूर्त है, रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित है और इसके सारे गुण अमूर्त है। ज्ञान अमूर्त, दर्शन अमूर्त।

पदार्थ में विभुत्व शक्ति की विशेषता—देखो भैया ! यद्यपि गुण के काम अपने-अपने जुदा-जुदा हैं पर एक गुण सब गुणों को अपना गुणात्मक बना लेता है। यह विशेषता द्रव्यों में पायी जाती है। इस शक्ति का नाम है विभुत्वशक्ति। आत्मा में अमूर्तिक गुण हैं, तो लो सारे गुण अमूर्तिक हो गए। ज्ञान अमूर्त, दर्शन अमूर्त श्रद्धा अमूर्त। कोई गुण है ऐसा जो अमूर्त न हो ? कोई नहीं है। आत्मा में एक सूक्ष्मत्व गुण है। सो देखो सारे गुण सूक्ष्म हैं। कोई गुण स्थूल है क्या कि हाथ में पकड़कर दूसरों को दे दें। लो आत्मा का एक गुण हम रखलें। कोई गुण स्थूल नहीं है। इस आत्मा में जो गुण हैं वे अमूर्त गुण है। यह जीव शुद्ध भी है अशुद्ध भी है। जब शुद्ध है तब इसका शुद्ध गुण है, इसकी शुद्ध पर्याय है और जब अशुद्ध पर्याय है तो इसका अशुद्ध गुण है अर्थात् अशुद्ध पर्याय परिणत है। इस तरह समग्र जीव इस लोक में अनन्तानन्त पाये जाते हैं। वे सब जीव प्रत्येक जीव से परस्पर अत्यन्त भिन्न है।

मोही का वस्तुस्वरूप से विरुद्ध अपलाप—भैया ! राग और मोह का उदय बड़ा विचित्र है। देखो सब जीव यद्यपि एकस्वरूपी हैं परंतु उनका स्वभाव समान है फिर भी उन जीवों में यह मोही ऐसी छटनी कर लेता है कि लो ये दो जीव तो मेरे हैं, खास हैं, मेरे बिल्कुल मिले हुए हैं, मुझमें इनका बड़ा स्नेह है, ये दूसरे के हो भी नहीं सकते हैं। ये मेरे खिलाफ बन ही नहीं सकते हैं, ये मेरे अहितरूप हो ही नहीं सकते–ऐसा विश्वास यह व्यामोही जमाये हुए हैं।

धर्मपालन के समय का साहस—भैया ! धर्मपालन के समय तो मोह को छोड़ो। अन्य समयों में नहीं छोड़ा जा सकता तो कम से कम जब हम धर्म के पालन करने की अपने में डींग या कल्पना करते हैं, संकल्प बनाते हैं उस समय दिल में ऐसा उदार गम्भीर होना चाहिए कि मेरे लिए सब जीव समान हों, उन जीवों में अमुक मेरा है, अमुक पराया है यह भेद नहीं करना चाहिए।

कर्तव्यपरायणता का एक दृष्टान्त—एक ऐसा ही पुराण में वृत्तान्त आता है कि एक राजा पर एक दिशा से दुश्मनों ने चढ़ाई की। राजा अपनी सेना लेकर उस शत्रु से भिड़ने चला गया और सिंहासन पर रानी को बैठा दिया कि तुम राज्य की व्यवस्था बनाओ। इतने में दूसरी दिशा से दूसरे शत्रु ने आक्रमण कर दिया। सो रानी ने सेनापति को बुलाया कि ऐ सेनापति तुम शीघ्र ही सेना सजाकर मुकाबला करो। सेनापति जैन था। वह बड़ी सेना सजाकर लड़ने के लिए चल दिया। रास्ते में शाम हो गई। रास्ते में वह हाथी पर बैठा-

बैठा ही सामायिक करने लगा। और वही सब पाठ बोलने लगा। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पंचइन्द्रिय सब जीव मुझको क्षमा करो। इस प्रकार से फूल पत्ती सबसे क्षमा मांगी, सामान्यकथन में सभी जीव आ गये। सो मानो गधा, कुत्ता, सभी से क्षमा माँगी। यहाँ एक चुगलखोर ने आकर रानी से चुगली कर दी कि तुमने अच्छा सेनापति भेजा जो पेड़ पौधों से, छोटे-छोटे जीवों से भी क्षमा माँगता है, वह शत्रु से मुकाबला क्या करेगा ?

पाँच दिन के अन्दर ही सेनापति विजय प्राप्त करके लौटा। रानी से मिला तो रानी पूछती है कि ऐ सेनापति ? हमने सुना है कि तुम छोटे-छोटे कीड़ों से, पेड़-पौधों से भी क्षमा माँगते हो, तुम कितने कायर हो ? तुमने उस पर विजय कैसे प्राप्त कर ली ? तो सेनापति उत्तर देता है कि महारानी जी, हम आपके नौकर दिन में 23 घंटे के हैं। एक घंटे को हम अपने नौकर हैं। उन 23 घंटे में चाहे हम सो रहे हों, चाहे खा रहे हों, किसी समय जो हुक्म हो, राज्य का कोई काम आए फौरन तैयार रहता हूँ, किन्तु जो एक घंटा अपनी सेवा का हमने रखा है उस एक घंटे में सब विकल्प छोड़कर केवल अपने आत्मा की सेवा करता हूँ। तो वह शाम के टाईम पर आत्मसेवा का समय था और आत्मसेवा इसी में है कि सारे जीवों को अपने समान माना जाय। न कोई शत्रु है और न कोई मित्र है सब जीवों का स्वरूप एक समान है। तो मेरे प्रमाद से किसी भी जीव को कोई कष्ट पहुँचा हो तो उसकी क्षमा हम प्रतिदिन माँगते हैं। सो अपनी सेवा के समय हमने अपना काम किया और जब आपकी सेवा का समय आया तो युद्ध में डटकर मुकाबला किया। इस तरह विजय प्राप्त करके आया।

धर्मसाधना का पूर्ण अवधान—भैया ! तो वह तो था लड़ाई का प्रसंग। यहाँ तो सिर पर लट्ठ भी नहीं बरस रहा है। हम 24 घंटे में एक घंटा जो धर्म के लिए निकालते हैं उसमें हम किसी पर का विकल्प न करके सच्ची लगन से यदि आत्मा की सेवा करें तो वह हमारा धर्म पालन सही दिल से है। पर होता कहाँ है ? चाहे अन्य मंदिरों में या मस्जिदों में या गिरजाघर में शांति मिल जाय, पर यहाँ न मिलना चाहिए। मंदिर की देहरी में घुसते ही मौन का व्रत हो जाता है। गिरजाघर में जिसने देखा हो, एक सूई की भी आहट नहीं होती है जब उनकी स्तुति का टाईम होता है। पर यहाँ देखो तो धर्मसाधना के अनुकूल भी हम वातावरण बनाए रहें, ऐसी बात रखने की कोशिश नहीं करते। शांति से दर्शन करें, चुपके से रहें, मौन से दर्शन हो, मौन से पूजन हो।

मौन का प्राधान्य—भैया ! आपके ग्रन्थों में भी बताया है कि पूजा मौन से होनी चाहिए। 7 स्थानों में मौन बताया है ना, उसमें एक पूजा भी आ गयी। वहाँ यह अर्थ कर डालते हैं कि पूजा की बात तो जोर-जोर से करना, बाकी बातें न करना इसका नाम मौन है। भोजन के समय भी मौन बताया, वहाँ क्यों नहीं भोजन की बात बोलते ? टट्टी, पेशाब के समय में भी मौन बताया है वहाँ भी आप प्रसंग की बात जोर से क्यों नहीं चिल्लाकर कहते कि टट्टी का लोटा ले आओ। अरे भाई थोड़ा-थोड़ा बढ़-बढ़कर बात रखी तो अब चिल्लाकर पूजन करते हुए में कभी कहो लड़ाई भी हो जाती, कभी-कभी घर की बातें भी पूछने लगें, कोई लड़का आकर पूछने लगे कि दद्दा चाबी कहाँ धरी है ? तो पूजन करते हुए में बोल देते हैं कि जाओ भंडरिया में चाबी धरी है, वहाँ जाकर देखो।

धर्म की एकाग्रता—एक बार सहारनपुर में चातुर्मास किया, वहाँ पर जैन बाग का जो बड़ा मंदिर है ना, उसमें हमने कहा कि भाई 15 दिन को यह नियम रख लो कि इस मंदिर की देहरी में पैर धरते ही सभी लोग सुबह से 10 बजे तक मौन से रहेंगे। सो प्रात:काल से 10 बजे तक जो भी लोग दर्शन पूजन करने वाले आएँ, सभी मौन से दर्शन पूजन करते थे। जब यह 10-12 दिन तक क्रम चला तो जो लोग पूजा कर रहे थे, अभिषेक कर रहे थे उन लोगों से हमने शाम को पूछा कि भाई होहल्ला करके पूजन करने से ज्यादा आनन्द मौन से पूजन करने में आता है या नहीं ? तो उन्होंने कहा कि हाँ आता तो है। तो यों धर्म के समय में हमें धर्म का ही ख्याल करना चाहिए और विकल्पों को तोड़ देना चाहिए।

आत्मचतुष्पदी—जो जीव बाह्य पदार्थों में आत्मरूप से श्रद्धान कर रहे हैं उन्हें बहिरात्मा कहते हैं और जो अपने अंत:स्वरूप को आत्मरूप से मानते हैं उन्हें अन्तरात्मा कहते हैं और जो निर्दोष पूर्ण विकासमय हो गए हैं उन्हें परमात्मा कहते हैं। इन तीन अवस्थाओं में जो सहजस्वरूप हैं उसे समयसार कहते हैं अथवा कारणशुद्ध जीव कहते हैं। इस कारण शुद्ध जीव के आश्रय से शुद्ध परिणतियाँ प्रकट होती हैं। अपने आपमें कैसी शक्ति है, क्या स्वभाव है ? यह जाने बिना शक्ति की व्यक्ति नहीं होती। इस प्रयोजन का पूरक जीव के सम्बन्ध में वर्णन चला था।

जीव की शुद्धता और अशुद्धता—यह जीव पर्यायरूप से शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार से होता है। जब तक जीव अशुद्ध है, इसकी पर्याय अशुद्ध है और इसी कारण गुण भी अशुद्ध है यद्यपि गुणों को स्वरूपदृष्टि से निरखा जाता है। तो शक्ति न शुद्ध होती, न अशुद्ध होती, गुण तो जो हैं सो ही हैं, किन्तु पर्याय कोई गुणों से भिन्न नहीं हुआ करती है। इस कारण गुणों को भी अशुद्ध कह सकते हैं। पर्याय तो अशुद्ध है ही और जब यह जीव शुद्ध हो जाता है तो इसके गुण शुद्ध थे ही और सर्वथा शुद्ध हो गए, इसकी पर्याय भी शुद्ध होती है। इस जीवतत्त्व को जानकर यहाँ इस बात पर बल देना है कि इस जीव की सब अवस्थाओं में रहने वाला जो सहज स्वभाव है उस सहज स्वभाव का परिचय अनुभव आश्रय हुए बिना जीव की शुद्धवृत्ति प्रकट नहीं होती।

दुर्लभ समागम के सदुपयोग का अवसर—भैया ! आज बड़ी योग्यता वाले भव में हम आप आए हैं और ऐसे उत्कृष्ट समागम को पाकर भी विषय कषायोंरूप बने रहते हैं और इस परिणति से यह दुर्लभ नरजीवन यों ही व्यतीत हो जाता है। जो समय व्यतीत हो चुकता है वह कितना ही उपाय किया जाय वापिस नहीं आया करता है। जिसकी जो उम्र हो चुकी है, उससे पहिला समय चाहे कि वापिस आ जाये तो क्या आ सकता है ? नहीं आ सकता है। छोटे बच्चों को उछलते कूदते देखकर आप भी यह सोचें, चाहें कि यह स्थिति जरा देर को आ जाये तो मरकर चाहे आ जाय पर जिन्दगी में वह बचपन की अवस्था कहाँ से लाओगे ? बचपन की अवस्था तो दूर जाने दो–एक मिनट को भी एक समय पहिले की अवस्था नहीं ला सकते। तो कितने वेग से हम आपके जीवन के क्षण गुजर रहे हैं और उन क्षणों में हम विकार विकल्प ममता जिनसे सिद्धि नहीं है उनमें उपयोग निरन्तर बनाए रहते हैं।

हमारा प्रयोजन—परवस्तु के प्रति जो निरन्तर विकल्प बनते हैं उन विकल्पों के कारण परपदार्थों के परिणमन हो जाते हैं क्या ? उनमें अपने विचार के अनुसार कार्य होता है क्या ? नहीं। उनसे तो कुछ भी

सम्बन्ध नहीं है। बाह्य में उनका जो कुछ होना है वह होता है। उनमें हमारे विचार का कार्य कारण सम्बन्ध भाव नहीं है, किसी पर की दशा सुधारने बिगाड़ने की क्षमता नहीं है, फिर भी हम अपने को कर्ता मानने का आशय अन्तर में बनाए हुए हैं उससे ही विपत्तियाँ आती हैं। इस जीवतत्त्व को जानकर इस बात पर आना है कि हम बाह्य के विकल्पों को तोड़कर और अपने आपके सम्बन्ध में भी अध्रुव भाव के विकल्प को तोड़कर सहजस्वभाव की दृष्टि बनाएँ, इस पद्धति से जीवतत्त्व को जानें तो यह तत्त्वार्थ श्रद्धान का काम करेगा।

पुद्गल तत्त्वार्थ—दूसरा द्रव्य है पुद्गल, जो गलन और पूरण का स्वभाव रखता है उसे पुद्गल कहते हैं। जो विशाल बन जाये, गलकर टुकड़े हो जाये ऐसा बिछड़ने का और जुड़ने का जिसमें स्वभाव पड़ा हुआ हो उसे पुद्गल द्रव्य कहते हैं। कोई दो जीव मिलकर एक पिण्ड नहीं बन सकते हैं और जब मिलते ही नहीं है तो उन जीवों के बिछुड़ने का उपाय ही कहाँ से कहा जाय ? जीव-जीव न तो मिलता है और न बिछुड़ता है। पुद्गल-पुद्गल तो मिल जाते हैं और बिछुड़ जाते हैं अर्थात् वे एक पिण्ड रूप हो जाते हैं और फिर अलग-अलग हो जाते हैं। परमार्थ से तो उन पुद्गलों में भी एक अणु दूसरे अणु का सत्त्व नहीं रखता है, लेकिन ऐसा पिण्ड रूप हो जाता है कि वे मिलकर एक हो जाते हैं और बिछुड़कर अलग हो जाते हैं।

पुद्गल को छोड़कर अन्य द्रव्य में पूरण गलन का अभाव—पुद्गल को छोड़कर अन्य किसी भी द्रव्य में यह बात नहीं है। धर्मद्रव्य एक है वह भी किसी द्रव्य में मिल नहीं सकता। अधर्मद्रव्य भी एक है, वह भी अन्यद्रव्य से मिल नहीं सकता। आकाश काल ये भी अन्य किसी द्रव्य में नहीं मिलते और जीव भी किसी अन्य द्रव्य से नहीं मिल सकता। पुद्गल पुद्गल के साथ ही बंधन को प्राप्त होकर एक पिण्ड होता है। दृश्यमान् ये समस्त पदार्थ जैन सिद्धान्त में पुद्गल शब्द से कहे गए हैं।

पुद्गल शब्द की उपयुक्तता—पुद्गल छोड़कर और कोई शब्द ऐसा फिट नहीं बैठता है इस चीज को व्यपदिष्ट करने में कि पूरा भाव आ जाय और वह अर्थ किसी दूसरे पदार्थ में न जाय। बताओ कौन-सा ऐसा नाम है ? एक नाम प्रसिद्ध है भौतिक पदार्थ। रूढ़िवश नाम धर लें, पर भौतिक का अर्थ क्या है कि जो होवे सो भूत और भूतों की जो अवस्था है उसे भौतिक कहते हैं। होता क्या नहीं है? सभी हैं और उनकी अवस्था चलती है ? कौन-सा शब्द है जिससे हम इसका ठीक नाम कह सकें ? पुद्गल शब्द एक ऐसा व्यापक अर्थ भरा शब्द है कि सब द्रव्यों को छोड़कर समस्त परमाणुओं में इसका अर्थ मिलता है। जो पूरे और गले सो पुद्गल है। पूरने का अर्थ है कि बहुत से पुद्गल मिलकर एक पिण्ड बन जायें और गलने का अर्थ है कि वे बिखर जायें। ऐसे पूरने गलने के स्वभाव से युक्त पुद्गल द्रव्य होते हैं।

पुद्गल द्रव्य की विशेषता—पुद्गल द्रव्य की विशेषता है मूर्तपना। रूप, रस, गंध, स्पर्श इन शक्तियों का इनके परिणमन का आधारभूत जो होता है उसे मूर्त कहा करते हैं। रूप, रस, गंध, स्पर्श केवल पुद्गलद्रव्य में ही पाये जाते हैं। जीव में कोई रंग नहीं होता कि कोई नीला हो, पीला हो, काल हो, सफेद हो, न कोई इसमें रस है कि खट्टा हो, मीठा हो और न स्पर्श है कि कोई जीव चिकना हो, रूखा हो, ठंडा हो या गर्म हो। न किसी प्रकार की गंध है। यह तो केवल ज्ञान द्वारा ही ज्ञान में आ सकने योग्य है जीव, किन्तु पुद्गल में रूप, रस, गंध, स्पर्श ये चारों शक्तियाँ पायी जाती हैं। इनके समस्तगुण मूर्त हैं। जैसे

चेतन में बताया गया था कि चेतन के समस्तगुण चेतन हैं, पर गुण के निजी स्वरूप को देखकर यह भेद किया जा सकता है कि चेतने वाले गुण तो इसमें दो ही हैं और शेष गुण सब न चेतने वाले हैं अर्थात् अचेतन हैं। इसी तरह पुद्गलद्रव्य में जो अस्तित्व गुण पाया जाता है वह क्या मूर्त है ? मूर्त पुद्गल में पाया जाता है इसी कारण मूर्त है, पर अस्तित्व का निजी स्वरूप निरखें तो अस्तित्व तो कोई रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं रख रहा है, उसका काम तो ''है'' करना है। लेकिन वह अस्तित्व रूपादिकमयता से पृथक् नहीं है। इस कारण पुद्गल में जितने भी गुण हैं वे सब मूर्त गुण हैं, ये अचेतन हैं और इनके जितने भी गुण हैं वे सब अचेतन हैं। पुद्गल में चेतनगुण कोई नहीं है।

पुद्गल की गति शक्ति—पुद्गल में क्रियावती शक्ति भी पायी जाती है। वैसे देखने में तो क्रिया पुद्गल में मालूम होती है, जीव में नहीं मालूम होती है, पर कुछ विचारने से क्रिया जीव में मालूम होती है, पुद्गल में मालूम नहीं होती है। लेकिन क्रिया दोनों द्रव्यों में है। भले ही पुद्गल की क्रिया में अन्य कोई पुद्गल अथवा जीव निमित्त होता है, लेकिन क्रिया रूप से परिणत द्रव्य ही अपनी क्रिया को करता है। पुद्गल में यह गमन करने की शक्ति है, मोटे रूप से देखने पर ऐसा लगता है कि यह पुद्गल जब पिण्ड रूप बनता है तो इसमें अन्य के प्रयोगवश इसकी गति हुआ करती है, पर बात ऐसी नहीं है। यह भी बात, पर पुद्गल में गति स्वभाव से पड़ी हुई है। एक अणु जितनी तीव्रगति कर सकता है उतनी तीव्र गति पुद्गल स्कंध नहीं कर सकता है। एक परमाणु 1 समय में 14 राजू तक गमन कर सकता है पर कोई पुद्गल स्कंध 1 समय में 14 राजू गमन नहीं कर पाता है। कदाचित् ऐसा हो सकता है कि कोई जीव नीचे से गुजर कर लोक के अंत में उत्पन्न होवे, अशुद्ध जीव की बात यह हो सकती है तो वह एक समय में 14 राजू पहुँच जायेगा और उसके साथ जो तैजस स्कंध हैं, कार्माण स्कंध हैं वे एक समय में पहुँच जायेंगे पर स्वतंत्र जीव का सम्बन्ध न पाकर पुद्गल स्कंध गमन न कर पाये, पर परमाणु में इतनी शक्ति है कि एक समय में वह 14 राजू तक गमन करता है। तो यह गति क्रिया पुद्गल में पायी जाती है और जीव में भी पायी जाती है।

जीव और पुद्गल के विवरण की विशेषता—इन 6 द्रव्यों में दो द्रव्यों का अधिक परिचय है और ये ही दो द्रव्य बोलने चालने में चर्चा में सब काम आते हैं। इन ही दो द्रव्यों का वर्णन शास्त्रों में विस्तार से है। धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य के सम्बन्ध में कभी थोड़ा-सा वर्णन आता है और जितने ग्रन्थ भरे पड़े हैं वे सब जीव और पुद्गल की बात बताने से भर गए हैं।

पदार्थ का एकत्व इस पुद्गलद्रव्य को जानकर हमें शिक्षा की बात क्या मिलती है ? प्रथम तो ज्ञानकला से पुद्गल को जाना जाय। एक-एक अणु ही वास्तव में पुद्गलद्रव्य है, और उन अणुओं का केवल अपने आपमें ही परिणमन है। उस प्रत्येक अणु में रूप, रस, गंध, स्पर्श चार शक्तियाँ हैं। वे अपने उपादान कारण से परिणमते हैं और कदाचित् अन्य अणु का निमित्त पाकर वह बंधनरूप भी हो जाय, एक पिण्ड भी बन जाय, किसी भी परिस्थिति में हो तो भी प्रत्येक अणु का उस-उस अणु में ही अपना-अपना परिणमन है।

वस्तु के एकत्व के दर्शन में हितोद्गम—कोई अणु किसी दूसरे अणु में परिणमन नहीं करता है और ऐसे पुद्गल को स्वतंत्र दृष्टि से देखा जाय और अणु ही अणु आपके उपयोग में रह जाय तो फिर यह भींत

और ये मकान ये सब चीजें आपके उपयोग से जायेंगी। आपके घर में ये मायारूप स्थान नहीं पा सकते, जबकि पुद्गल की स्वतंत्रता की दृष्टि उपयोग में वर्त रही हो। अच्छा है, सब ढा जाओ। इन सबके उपयोग में रहने से मेरी बरबादी ही है, कुछ हित नहीं हो रहा है, व्यर्थ की बातों में समय गुजरता है। व्यर्थ की कल्पनाओं में यह जीवन व्यतीत होता है। न आये यह माया रूप कुछ उपयोग में यह बहुत भली बात है। किन्तु ऐसी स्थिति कहाँ बन पाती है ? गृहस्थावस्था में तो अनेक बातें, अनेक झंझट, अनेक कर्तव्य हैं, सबकी ओर निगाह रखना होता है। फिर भी कुछ समय जरूर ऐसा होना चाहिए कि जिस समय केवल अपने में अपने ही नाते का कार्य हो। अपने से भिन्न समस्त पदार्थों का विस्मरण करदें। ऐसा एक आध मिनट भी समय व्यतीत हो तो इस तरह प्राप्त होन वाली शुद्धि का प्रभाव रात दिन रह सकता है।

शुद्ध दर्शन का प्रभाव—भैया ! बिजली का कितना परिमाण है पर उसका असर कितना व्यापक है ? उससे भी अधिक शुद्ध अंतस्तत्त्व की सत्तामात्र देखने का भी असर इस रात दिन में रह सकता है। जैसे किसी विलक्षण बात के निरखने से घंटों तक उसकी याद और उसका असर रहा करता है। तो सर्व लोक से विलक्षण एक निज अपूर्व अनुभूति का असर, प्रभाव, संस्कार और आनन्द का तांता बहुत काल रह आये तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

पदार्थों की भूतार्थपद्धति से अभिगतता—पदार्थों को हम भूतार्थ पद्धति से निरखा करें। ये परिणमन हैं, ये परिणमन अमुक-अमुक गुण के हैं और वे समस्त गुण एक भेदमात्र हैं, वे सब एक द्रव्यरूप हैं, अमुक द्रव्यरूप है। इस तरह पर्यायों को जानकर गुणों में विलीन कर डालें और फिर गुणों को जानकर गुणों को द्रव्य में विलीन कर सकें तो इस प्रकार से पदार्थ का निरखना सम्यक्त्व का कारण बनता है और यही तत्त्वार्थ श्रद्धान कहलाता है। यों तो सभी श्रद्धा रख रहे हैं यह भींत है, यह मकान है, यह दरी है और जो जैसी चीज है वैसी सब जान रहे हैं पर ऐसा जानना सम्यक्त्व का कारण नहीं है किन्तु स्वरूपविपर्यय, कारणविपर्यय, भेदाभेद विपर्यय इन–तीन विपरीत आशयों से रहित भूतार्थ पद्धति से विचारो तो जो ये ज्ञान विकल्प हैं, वे सम्यक्त्व का कारण हुआ करते हैं।

सम्यक्त्व का भाव—सम्यक्त्व का अर्थ है समीचीनता, भलापन। यह समीचीनता विधिरूप से हम कैसे ज्ञात करें ? विधिरूप से जो ज्ञात होगा वह ज्ञान में शामिल हो जायेगा। तब उसको आचार्यों ने विपरीत अभिप्राय रहित आशय को सम्यक्त्व कहा है। इस प्रकार निषेध के रूप से वर्णन किया है।

रत्नत्रय में गुणत्रयी—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों को हम उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की मुख्यता से निरखा करें तो इसका स्वरूप शीघ्र ध्यान में आता है। सम्यग्दर्शन है विपरीत अभिप्राय के व्यय का नाम। सम्यग्ज्ञान है तत्त्व के निर्णय का नाम और सम्यक्चारित्र है ज्ञान की ध्रुवता का नाम। तो सम्यक्चारित्र ध्रौव्य का मापक है और सम्यग्ज्ञान उत्पाद का और सम्यग्दर्शन व्यय का मापक है। चीज आत्मा में एक होती है, तीन नहीं होती हैं। पर वह एक ऐसी विलक्षण परिणति है कि उस परिणति को हम यथार्थ एक शब्द में नहीं बता सकते हैं। तब जितने कार्य होते हैं याने परिणमन विदित होते हैं उन परिणमनों के द्वारा हम वस्तु के स्वरूप पर पहुँचते हैं तो जो श्रद्धा का परिणमन है वह दर्शन, जो जानन

का परिणमन है वह है ज्ञान और जो स्थिरता का परिणमन है वह है चारित्र।

उद्देश्य की व्यक्ति—भैया ! जिस व्यक्ति के जो अन्दरूनी इच्छा होती है वह व्यक्ति किसी भी जगह पहुँचे वह बातचीत में अपनी ही मुद्दई की बात रख देता है। जैसे जिसको खाने की ही मन में लगी है ऐसा पुरुष चार आदमियों में बैठकर जहाँ थोड़ी गुणियों की कथा भी हो रही हो, तीर्थयात्रा की चर्चा हो रही हो तो बीच में वह अपनी भोजन सम्बन्धी भी किसी न किसी रूप में बात रख देगा। वहाँ अच्छा भोजन बनता है, फलाने के संग में अच्छा भोजन मिलता है, अमुक महाराज के संग में सूखा रूखा ही भोजन मिलता है। ऐसी कोई न कोई झलक निकाल ही देगा। जिसको धर्म की रुचि है वह पुरुष कदाचित् चार आदमियों की गप्पों में भी फंस गया हो, थोड़ा बोलना भी पड़ता हो तो कोई धार्मिक बात कहे बिना उससे रहा न जायेगा। क्योंकि उसकी धर्म में ही रुचि और मंसा है। इसी प्रकार जिस ग्रन्थ की जो मंसा होती है, जो ग्रन्थ जिस विषय को लेकर चलता है उस ग्रन्थ में जो कुछ भी वर्णन किया जायेगा उन वर्णनों के बीच में अपने उद्देश्य की बात रखे बिना नहीं रह सकता। यदि अपने उद्देश्य की पुष्टि न हो रही हो तो वह उस ग्रन्थ का भाग ही नहीं है।

शुद्धोत्तरी पद्धति का प्रयोग—इसमें जो गुण और पर्यायों का वर्णन किया गया है उस वर्णन से हमें ऐसी रीति और पद्धति अपनानी चाहिए और उस पद्धति से ही सुनना चाहिए कि जिससे पर्याय गुणों में विलीन हो और गुण द्रव्य में विलीन हो और हमारी दृष्टि एक अभेद रूप बन सके। इस पद्धति और रीति से पुद्गल तत्त्व को जान जाय तो यह भी तत्त्वार्थ कहलाता है। इस तरह तत्त्वार्थ का श्रद्धान हमारे सम्यक्त्व का कारण होता है। इस प्रकरण में पुद्गलद्रव्य का संक्षिप्त वर्णन हुआ।

प्रकरण प्राप्त धर्मद्रव्य का स्वरूप—आप्त, आगम और तत्त्वार्थ के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, इस प्रसंग में आप्त और आगम का स्वरूप तो बता चुके थे। इस समय तत्त्वार्थों का वर्णन चल रहा है। तत्त्वार्थ 6 होते हैं जिनका यथार्थ श्रद्धान करने से सम्यक्त्व होता है उनमें जीव और पुद्गल इन दो तत्त्वार्थों का वर्णन हो चुका है, अब धर्मद्रव्य के सम्बन्ध में कहा जा रहा है। धर्मद्रव्य उसे कहते हैं जो जीव और पुद्गल की गति में निमित्तभूत हो। गति क्रिया केवल जीव और पुद्गल की होती है अन्यद्रव्य निष्क्रिय होते हैं और साथ ही वैभाविकी शक्ति भी जीव और पुद्गल में होती है। जिससे गति दो-दो प्रकार की हो गयी–एक जीव की स्वभाव गति और दूसरी जीव की विभाव गति। इसी तरह पुद्गल की दो प्रकार की गतियाँ हो जाती हैं–एक तो पुद्गल की स्वभावगति और दूसरी पुद्गल की विभाव गति। चाहे स्वभावगति में परिणत हों, चाहे विभावगति में परिणत हों, गति परिणमन जीव पुद्गल की उस प्रकार की स्वभावगति अथवा विभावगति में जो निमित्तभूत है उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं।

जीव और पुद्गल में गतिद्वैविध्य—जीव के स्वभावगति होती है, जब जीव अत्यन्त शुद्ध हो जाता है अर्थात् द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म तीनों प्रकार के नयों से सर्वथा रहित हो जाता है अर्थात् सिद्ध होता है। तो उसकी गति स्वभावगति कहलाती है। वह 7 राजू प्रमाण क्षेत्र में एक समय में उल्लंघकर लोकाकाश के शिखर पर विराजमान हो जाता है, और सिद्ध प्रभु की गति को छोड़कर शेष समस्त संसारी जीवों की गति विभाव गति कहलाती है। जब तक जीवास्तिकाय के साथ पौद्गलिक कर्मों का सम्बन्ध बना हुआ है

तब तक जीव की जो गति होती है वह विभावगति होती है। इसी प्रकार पुद्गल में जो शुद्ध अखण्ड अणु है उन अणुओं की जो गति होती है वह स्वभावगति कहलाती है और वह अणु दूसरे अणुओं में बद्ध होकर पुद्गल स्कंध का रूप ले ले तब उनकी जो गति होती है वह विभावगति होती है। दोनों प्रकार की गतियों से परिणत जीव पुद्गल के गमन में जो हेतुभूत है उसे धर्मद्रव्य कहते हैं।

निमित्त और उपादान के सम्बन्ध की सीमा—पुण्य से अथवा आत्मधर्म से प्रयोजन नहीं है, किन्तु एक ऐसा विशाल अमूर्त द्रव्य अखण्ड पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त है जिसका निमित्त पाकर जीव व पुद्गल अपनी गति क्रिया से परिणत होता है। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध में यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि निमित्तभूत पदार्थ अपनी द्रव्यगुण पर्याय क्रिया कुछ भी अपने से बाहर कहीं फेंकता नहीं है, अन्य द्रव्य में देता नहीं है उसमें प्रेरणा का उपचार किया जाता है। इसका कारण यह है कि परिणममान उपादान ऐसी अपने में कला रखता है कि अनुकूल निमित्त को पाकर वह उपादान स्वयं की परिणति से उस प्रकार परिणम लेता है। इस ही तथ्य को लोक में शीघ्र प्रसिद्ध करने के लिए इन शब्दों में कहा जाता है कि अमुक जगह ऐसा किया।

प्रेरणा वाली बात का उदाहरण—पानी गरम हो गया अग्नि का सन्निधान पाकर या सूर्य का सन्निधान पाकर गरमी फैल गयी, इससे और बढ़कर प्रेरणा वाला दृष्टांत क्या दिया जा सकता है ? यहाँ भी स्वरूप दृष्टि करके निहारें तो अग्नि ने अपने द्रव्य गुण पर्याय को अपने से निकालकर पानी में नहीं डाला, किन्तु ऐसा ही सम्बन्ध है कि अग्नि का निमित्त पाकर यह पानी अपनी शीत पर्याय को छोड़कर उष्णपर्यायरूप परिणम गया। जैसे कोई कभी गाली देने वाला सामने आ खड़ा हो और नाम लेकर गालियाँ दे दे तो यह सुनने वाला क्रुद्ध हो जाता है। तो खूब आँखों से देख लो, क्या गाली देने वाले ने उसके क्रोध पर्याय पैदा की ? क्या वहाँ से कोई क्रोध की किरणें निकली हैं और इस सुनने वाले में आयी है ? हुआ क्या वहाँ कि यह सुनने वाला स्वयं कषाय की योग्यता रख रहा था, सो अपने आपमें कल्पना बनाकर उस गाली देने वाले को लक्ष्य में लेकर स्वयं क्रोध रूप से परिणम गया है।

धर्मद्रव्य की उदासीननिमित्तता—इसी प्रकार प्रत्येक निमित्त अपने आपमें ही वे अपने सर्वस्व परिणमन किया करते हैं। यह तो उपादान की ही ऐसी कला है कि योग्य परिणममान उपादान अनुकूल निमित्त को पाकर स्वयं अपनी परिणति से परिणम जाता है। जीव और पुद्गल के गमन में धर्मद्रव्य इसी भाँति निमित्तभूत है और कई जगह तो निमित्त पाकर परिणमना अवश्य करके हो जाता है। जैसे अग्नि का सन्निधान पाकर जल का गर्म होना। योग्य समय पर सूर्य के सन्निधान में पत्थर का तेज गरम हो जाना, परन्तु धर्मद्रव्य और जीव पुद्गल के गमनरूप कार्य में यह अवश वाली बात नहीं होती है। जीव पुद्गल चले, वह अपनी गति का यत्न करे तो वहाँ धर्मद्रव्य निमित्तभूत है।

धर्मद्रव्य के निमित्तत्व का उदाहरण—धर्मद्रव्य की निमित्तभूतता बताने के लिए उदाहरण जल और मछली का उपयुक्त बैठता है। मछली के गमन करने में जल निमित्त है किन्तु वह जल वैसा निमित्त नहीं है जैसा कि अग्नि का सन्निधान पाकर जल गरम हो ही जाता है। इस तरह उस मछली को चलना ही पड़ता है ऐसा नहीं है। वह मछली चलना चाहे चलने का यत्न करे तो जल का निमित्त पाकर खुशी-खुशी अच्छी

कलापूर्ण चाल से लटक मटक कर चला करती है। जल के बिना जमीन पर पड़ी हुई मछली चलना चाहती है, यत्न करती है और बहुत बड़ा यत्न करती है क्योंकि तकलीफ और मरना किसे पसंद है, किन्तु मछली वहाँ नहीं चल पाती है। तो जैसे मछली के चलने में जल निमित्तभूत है इस ही प्रकार समस्त जीव पुद्गल के चलने में यह धर्मद्रव्य निमित्तभूत है।

धर्मद्रव्य की विशेषता—यह धर्म अमूर्तिक है, पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त है। कुछ युक्तियों से अंदाज होता है और आगम में इसका विशेष वर्णन भी पाया जाता है। है कोई ऐसा सूक्ष्म तत्त्वार्थ कि जिसका आश्रय करके ये जीव पुद्गल गमन करते हैं ? एक धर्मद्रव्य एक अखण्ड वस्तु है, वह अपने आप में आपको लिए हुए है। उसका असाधारण लक्षण क्या है यह नहीं बताया जा सकता है क्योंकि वह व्यवहार्य ही नहीं है, फिर भी वह किसी कार्य में निमित्तभूत होता है, ऐसी दृष्टि करके इस धर्मद्रव्य का असाधारण लक्षण गतिहेतुत्व कहा गया है। असाधारण लक्षण वह होता है जो निरन्तर परिणमता रहे। तो धर्मद्रव्य में असाधारण स्वभाव वह होगा जो निरन्तर अगुरुलघुत्व गुण के द्वार से परिणमता रहता है। यह गतिहेतुत्व असाधारण लक्षण व्यवहारदृष्टि से है दो द्रव्यों का या अनेक द्रव्यों का सम्बन्ध बताकर कोई वर्णन करना व्यवहारदृष्टि का कार्य है। हो, पर जिस किसी भी उपाय से द्रव्य की पहिचान हो सके उसको लक्षण कहते हैं।

धर्मद्रव्य की व्यापकता—यह गतिहेतुत्व धर्मद्रव्य में ही पाया जाता है अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता है, इसलिए यह असाधारण चिह्न तो है ही, ऐसा गति हेतुत्व लक्षण से परिचय में आने वाला धर्मद्रव्य लोकाकाश में सर्वत्र व्यापक है। कैसा व्यापक ? कि जैसे घड़े में पानी भरा हो। उस पानी के बीच में कोई अंश ऐसा नहीं रहता कि जहाँ पानी न रहे और आसपास रहे। वह तो जितने में पानी है खूब व्याप करके है। तत्त्वार्थ सूत्र में धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य की विशेषता बताने में एक सूत्र कहा है। 'धर्माधर्मयो: कृत्स्नो।' धर्म और अधर्मद्रव्य का आवास कृत्स्न लोक में है। कृत्स्न का अर्थ है सर्व। यह सूत्र आप किसी से पढ़ायें तो कोई विरला विद्वान् ही शुद्ध बोल पायेगा। कृत्स्न शब्द इतना क्लिष्ट है कि बिलकुल शुद्ध जिह्वा चल सके ऐसा बहुत कठिन होगा और अर्थ उसका है सब, सबमें। तो कृत्स्न शब्द के पर्यायवाची और भी शब्द हैं, उन्हें न रखकर पूज्यपाद उमास्वामी ने कृत्स्न शब्द रखा है। इसका यह अर्थ है कि जैसे कोई व्याख्यान देता है तो व्याख्यान का आधा मतलब व्याख्यानदाता के मुख से या हाथ से ज्ञात हो जाया करता है। तो कृत्स्न शब्द के प्रयोग में जैसे जीभ सारे मुँह में व्याप करके चल उठी तो आधा ज्ञान लोगों को इससे हो जाता है कि धर्म और अधर्मद्रव्य इस तरह व्यापकर हैं जैसे कृत्स्न शब्द कहकर जीभ सारे मुँह में व्याप जाती है। यह धर्मद्रव्य समस्त लोक में व्यापक है। अमूर्त अखण्ड है। अंश-अंशरूप से बीच-बीच में धर्मद्रव्य अंश अंशरूप से रहे, ऐसा नहीं है।

अमूर्तपदार्थ के परिणमन के परिचय की दुर्गमता—यह धर्मद्रव्य भी निरंतर उत्पाद व्यय कर रहा है। कैसे उत्पाद व्यय करता है ? कौन-सी परिस्थिति नई बनती है और पुरानी विलीन होती है ? हम नहीं बता सकते। ऐसे मूलतत्त्व को आगम में श्रुत परम्परा से बताकर अंत में यह कहना पड़ेगा कि वह साक्षात् तो केवली गम्य है और आगमानुसार श्रुतकेवलियों द्वारा भी गम्य है। अमूर्त पदार्थ का क्या परिणमन होता है

और पुराना परिणमन कैसे विलीन होता है, इस बात को बताया नहीं जा सकता, किन्तु केवल जीवद्रव्य की बात स्पष्ट समझ में आती है कि क्या नया परिणमन होता है और क्या पुराना परिणमन विलीन होता है ?

अमूर्त जीव के परिणमन परिचय की सुगमता का कारण—जीवद्रव्य की बात इस कारण समझ में आती है कि इसकी बात खुद पर पड़ रही है। यदि यह अमूर्त खुद अपन न होता तो जीव की बात भी समझ में न आती। बल्कि द्रव्यकर्म का परिचय नहीं हो सकता, पर भावकर्म का परिचय हो सकता है। द्रव्यकर्म यद्यपि मूर्तिक है स्थूल है और भावकर्म तो अमूर्त है, सूक्ष्म है और द्रव्यकर्म भी इस जीव में ठसाठस पड़ा है और भावकर्म भी इस जीव में ठसाठस भरा है, लेकिन द्रव्यकर्म का हम परिचय नहीं कर पाते और भावकर्म का हम परिचय कर लेते हैं क्योंकि वह बात तो खुद पर बीत रही है।

धर्मद्रव्य का भूतार्थपद्धति से अवगम—ऐसा यह अमूर्त धर्मद्रव्य भूतार्थ पद्धति से जानो कि यह धर्मद्रव्य है, वह अनन्त शक्तियों से सम्पन्न है और उसका प्रतिसमय परिणमन चलता है। हम यद्यपि परिणमन भी नहीं जान रहे है कि धर्मद्रव्य का क्या परिणमन है और उन परिणमनों के आधारभूत गुण भी नहीं समझ रहे हैं किन्तु आगम और युक्ति बल से हम उसे पहिचान रहे हैं। फिर भी है कोई ऐसा पदार्थ जो जीव और पुद्गल के गमन में निमित्तभूत है ? तो जो भी है वह गुण पर्यायवान अवश्य होता है। उसमें गुण है और उनका परिणमन है। वह परिणमन गुण है और वह गुण एक धर्मद्रव्यरूप है। ऐसा इस अमूर्त धर्मद्रव्य का संक्षेप में स्वरूप जानना।

अधर्मद्रव्य का स्वरूप—इसके बाद अधर्मद्रव्य का वर्णन किया जा रहा है। जो जीव और पुद्गल की स्थिति में निमित्तभूत हो उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं। स्थिति के मायने ठहरना। ठहरना और रहना इन दोनों में अन्तर है। ठहरना कहलाता है गमन कार्य में परिणत पदार्थ का रुकना इसका नाम ठहरना कहलाता है और फिर सदाकाल वही रहा करे, वह रहना कहलाता है। रहने की बात नहीं कही जा रही है, ठहरने की बात कही जा रही है। स्वभावस्थिति और विभावस्थिति की क्रिया में परिणत जीव पुद्गल की स्थिति में जो निमित्तभूत है उसको अधर्मद्रव्य कहते हैं।

स्वभावस्थिति व विभावस्थिति—भैया ! जीव की स्वाभाविक स्थिति भी होती है। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म–इन तीनों से रहित होने पर यह जीव एक समय में लोक के अंत में पहुँचता है तो उस एक समय की गति को स्वभावगति कहते हैं और वहां ठहर जाने को स्वभाव स्थिति कहते हैं। उस दशा के अतिरिक्त अन्य समस्त दशाओं में जो जीव का ठहरना हुआ करता है वह सब विभावस्थिति है। इसी प्रकार शुद्ध अणु गति करके ठहरे वह है पुद्गल की स्वभावस्थिति और पुद्गल स्कंधों का गति करके ठहरना यह सब है विभावस्थिति। स्वभावस्थिति और विभावस्थिति में परिणत जीव, पुद्गल के ठहरने में जो हेतुभूत है उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं। इस अधर्मद्रव्य का भी अन्य समस्त वृत्तान्त धर्मद्रव्य की ही तरह है। यह अमूर्त है, अगुरुलघुत्व गुण के द्वार से निरन्तर परिणमता रहता है। इसका व्यावहारिक असाधारण लक्षण स्थिति में निमित्तभूत होना है ये धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य बराबर के विस्तार के हैं। पूरे लोकाकाश में सर्वत्र व्यापक हैं। यहाँ तक जीव, पुद्गल, धर्म और अधर्म चार तत्त्वार्थों का वर्णन हुआ है।

आकाशद्रव्य का स्वरूप—अब आकाशद्रव्य का लक्षण किया जा रहा है। जो पाँचों द्रव्यों को अवगाह दे, पाँचों द्रव्यों के अवगाह का जो बाह्य आधार हो, निमित्त हो उसे आकाशद्रव्य कहते हैं। पाँचों द्रव्यों का मतलब है जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और काल। आकाश तो यह स्वयं ही है। इसका तो लक्षण ही किया जा रहा है। ये समस्त द्रव्य आकाशद्रव्य में अवगाहित है। तिस पर भी स्वभावदृष्टि से देखा जाय तो आकाश में तो केवल आकाश ही है। आकाश में जीव पुद्गलादिक अन्य द्रव्य नहीं हैं। यह बात जरा कठिनता से पहिचानी जा सकेगी, क्योंकि एकदम लोगों के सही परख में आ रहा है कि वाह हम यह आकाश में ही तो पड़े हुए हैं।

परमार्थत: प्रत्येक के स्वयं का स्वयं में अवगाह—भैया ! आकाश का और हम लोगों का ऐसा सम्बन्ध योग हुआ तो है फिर भी हमारा स्वरूपास्तित्व हममें ही है। किसी का स्वरूपास्तित्व किसी अन्य में नहीं है। कभी ऐसा भी नहीं हुआ कि हम आकाश से अलग पड़े थे तो किसी ने कृपा करके हमें आकाश में धर दिया हो कि भाई तुम आकाश बिना गड़बड़ ढंग में क्यों पड़े हो ? आकाश में कलात्मक ढंग से रहो, ऐसा तो किया नहीं गया। अनादि से ही आकाश है और वे ही के वे ही अनादि से हम आप हैं। तो परमार्थ से किसे आधार कहा जाय और किसको आधेय कहा जाय ? निश्चय से यद्यपि ऐसा है, फिर भी हम जब बाह्य प्रसंग को देखते हैं तो यह बात भी सत्य है कि पाँचों द्रव्यों का अवगाह आकाश में है। और आकाश कहते उसे हैं जो पाँचों द्रव्यों को अवगाह देने में समर्थ हो।

कालद्रव्य का विवरण—अंतिम तत्त्वार्थ है कालद्रव्य। कालद्रव्य उसे कहते हैं जो पाँचों द्रव्यों की वर्तना का निमित्तभूत हो। काल तो यह स्वयं है ही। यह स्वयं भी परिणमता रहता है अपने ही उपादान और निमित्त से और अन्य द्रव्यों के परिणमन में निमित्तभूत होता है। यह कालद्रव्य लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक पूर्ण कालद्रव्य ठहरा हुआ है और वह कालद्रव्य अपने प्रदेश पर स्थित द्रव्य के परिणमन का हेतुभूत है। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि यह कालाणु पर स्थित परिणमन वाली बात जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म में घटित हो जाती है, पर यह आकाशद्रव्य जो इतना विस्तृत है लोकाकाश भी है और अलोकाकाश भी है। अलोकाकाश में कालद्रव्य नहीं है, फिर वहाँ का आकाश कैसे परिणमेगा ? एक यह समस्या आ जाती है। किन्तु यह जानना कि आकाश एक ही अखण्ड द्रव्य है, लोकाकाश में व्याप्त कालद्रव्य का निमित्त पाकर आकाश परिणमता है। उसे परिणमने के लिए अपने समस्त प्रदेशों पर निमित्त के सन्निधान की आवश्यकता नहीं है। एक अखण्डद्रव्य का निमित्तभूत चाहिए। सो कालद्रव्य यह है ही।

तत्त्वार्थों की श्रद्धाविधि—इस तरह इन 6 तत्त्वार्थों का सामान्यस्वरूप से वर्णन किया है। जब सब बातें स्पष्ट विदित हो जाती हैं तो एक दृढ़ता से अवगम और श्रद्धान किए हुए इन तत्त्वार्थों के यथार्थ श्रद्धान से सम्यक्त्व जगता है। इसका यथार्थ श्रद्धान यही है कि इन समस्त द्रव्यों की स्वतंत्रता हमारे उपयोग मं विदित हो जाय।

तत्त्वार्थों के वर्णन का उपसंहार—छ: तत्त्वार्थों में जीव एक है और अजीव 5 हैं। मूर्त 1 है और अमूर्त 5 हैं। जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल–ये 5 द्रव्य अमूर्त हैं। इनमें जीवद्रव्य के तो शुद्धगुण शुद्धपर्याय भी है, और अशुद्धगुण अशुद्धपर्याय भी है किन्तु शेष चार अमूर्तद्रव्यों के शुद्ध गुण हैं और शुद्धपर्यायें हैं।

इस प्रकार इन 6 तत्त्वार्थों का वर्णन हुआ। इनका श्रद्धान सम्यक्त्व का कारण होता है। जिनेन्द्र भगवान के मार्गरूपी समुद्र के बीच यह 6 द्रव्यों का वर्णन रत्न की तरह है। जो पुरुष इन 6 तत्त्वार्थों का यथार्थस्वरूप अपने उपयोग में लेता है उसे शांति का मार्ग मिलता है और निकट भविष्य में वह सर्वसंकटों से मुक्त हो जाता है। इन 6 तत्त्वार्थों में से इस अधिकार में जीवतत्त्व का वर्णन कर रहे हैं। अजीवतत्त्व का वर्णन दूसरे अधिकार में होगा। इससे जीवतत्त्व का विशेष वर्णन करने के लिए कुन्दकुन्दाचार्य कह रहे हैं।

गाथा 10

जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होई।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विभावणाणं त्ति।।10।।

जीव का स्वरूप—यहाँ जीव का वर्णन जीव के असाधारण गुणरूप उपयोग की अपेक्षा से किया जा रहा है। जीव उपयोगमय है। उपयोग किसे कहते हैं ? आत्मा के चैतन्यगुण के अनुकूल वर्तने वाला जो परिणाम है उसे उपयोग कहते हैं। यही उपयोग जीव का धर्म है। वस्तु एक अखण्ड रूप है फिर भी वस्तु की पहिचान के लिए उसमें धर्म धर्मी का भेद किया जाता है। जीव तो धर्मी है और उपयोग धर्म है। यह उपयोग ज्ञान दर्शन स्वरूप है। ज्ञानदर्शनात्मक चैतन्य का अनुविधान करने वाला परिणमन उपयोग है।

उपयोग और आत्मा में धर्मधर्मीभाव का भेदीकरण—उपयोग और आत्मा का सम्बन्ध धर्मधर्मीरूप से बताया गया है। जैसे प्रदीप और प्रकाश। प्रकाश प्रदीप से कहीं अन्यत्र नहीं है और प्रकाश को छोड़कर प्रदीप कहीं अन्यत्र रहता नहीं, फिर भी प्रकाश धर्म है और प्रदीप धर्मी है। जैसे प्रकाशात्मक प्रदीप में धर्म धर्मी का भेद किया जाता है इस ही प्रकार चैतन्यात्मक आत्मा में चैतन्य और आत्मा में धर्म धर्मी के रूप से भेद किया गया है।

उपयोग के मूल में भेद—यह उपयोग ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के भेद से 2 प्रकार का है, जिसमें ज्ञानोपयोग का तो अर्थ है पदार्थ का ग्रहण जानन विकल्प और दर्शनोपयोग का अर्थ है सामान्य प्रतिभास। उसमें स ज्ञानोपयोग 2 प्रकार का है–स्वभावज्ञान और विभावज्ञान। जीव उपयोगात्मक है। उपयोग के 2 भेद हैं–ज्ञान और दर्शन। ज्ञान के दो भेद हैं–स्वभावज्ञान और विभावज्ञान अर्थात् ज्ञान के स्वभावरूप ज्ञान और विभाव रूप ज्ञान ऐसे दो भेद हैं। स्वभाव का ज्ञान और विभाव का ज्ञान ऐसा अर्थ नहीं लगाना किन्तु कर्मधारय रूप अर्थ है स्वभावरूप ज्ञान और विभावरूप ज्ञान। शब्द के उपयोगी समास को छोड़कर अन्य प्रकार का समास लगाया तो अर्थ से अर्थांतर हो जायेगा। जैसे–शुद्धोपयोग। शुद्धोपयोग के दो अर्थ हैं–शुद्धउपयोग और शुद्ध का उपयोग। इन दोनों अर्थों में कितना अन्तर हो गया ? शुद्ध का उपयोग पहिले हो जाता है और शुद्धउपयोग बाद में होता है। शुद्ध तत्त्व का ज्ञान करना सो शुद्ध का उपयोग है और उपयोग के अतिरिक्त अन्य भावों से रहित उपयोग का बन जाना इसका नाम है शुद्धोपयोग। स्वभाव शब्द का अर्थ है स्वभावरूप ज्ञान और विभाव ज्ञान का अर्थ है विभावरूप ज्ञान।

समासों में इष्टानिष्टता—कुछ पुरानी घटना है कि बनारस में एक छोटी उम्र का बालक था, किन्तु था बहुत

विद्वान् । बड़े-बड़े विद्वानों को अपनी विद्या से छका देता था। एक बार विद्वानों का बहुत बड़ा सम्मेलन हुआ। उस सभा के अध्यक्ष बनाए गए गंगाधर गुरु और वह छोटी उम्र का विद्वान उस सम्मेलन में न आ पाया। इसके लिए टिकटों की व्यवस्था की गई। जिस विद्वान के पास टिकट होगा वही इसमें आ सकेगा और उसको टिकट न दिया गया जो छोटी उम्र का विद्वान् था व कुमार अवस्था का नटखटी विद्वान था जो सबको अपनी विद्या से छका देता था। उसने सोच लिया कि सम्मेलन में मैं पहुचूँगा जरूर, किसी भी तरह पहुचूँ। उसने एक पालकी मँगवाई, चार कहार आ गए और एक आदमी चमर ढोने वाला, दो आदमी छत्र लिए हुए अगल बगल में खड़े हुए। वह पालकी पर सवार हुआ और पालकी के चारों ओर खूब श्रृङ्गार किया जिससे उसकी शक्ल न साफ-साफ दीखे। वह पालकी में बैठ गया और सबको समझा दिया कि यह कहते जाओ कि गंगाधर गुरु की जय। सो वे सब कहते जायें–गंगाधर गुरु की जय। पहरे पर जो टिकिटचेकर खड़े हुए थे, उन्होंने सोचा कि गंगाधर गुरु आ रहे हैं इन्हें टिकिट की क्या पूछना है ? कितने ही लोग साथ में हों, इन्हें जाने दो।

जब सम्मेलन में वह कुमार विद्वान् पहुँचा तो उन सब विद्वानों को यह दिख गया, सो उनमें जो बूढ़े विद्वान् थे वे बोले कि तुम यहाँ कैसे आ गए ? तुम्हें तो टिकिट भी नहीं मिली थी। तो बोला वाह गंगाधर गुरु की जय कहा कि इसका मतलब। बोला कि गंगाधर गुरु की जय बोलते हुए हम पालकी में आ गये। लोग कहते हैं कि तुमने झूठ क्यों बोला ? क्या तुम्हारा गंगाधर गुरु नाम है जो लोगों से बुलवाते हो ? वह बोला कि जिसने जय बोला है वे सत्य बोलते हैं, झूठ नहीं बोलते हैं। लोग कहते हैं कि कैसे है सत्य ? बालक बोला कि देखो–गंगाधरगुरु का अर्थ क्या है–गंगाधर: गुरु:यस्य स गंगाधरगुरु:। गंगाधर गुरु है जिसका उसका नाम है गंगाधरगुरु। लोग कहते हैं वाह गंगाधर गुरु का तो सीधा अर्थ है गंगाधर गुरु। इसमें कर्मधारयसमास है। यह तो विशेष्यविशेषणभाव है, तुमने यह नया समास कहाँ से ढूँढ़ निकाला ? गंगाधरगुरु कहते हैं–गंगाधर है गुरु जिसका उसका नाम है गंगाधर गुरु। संस्कृत जानने वाले यह समझ जायेंगे कि इसका अर्थ अशुद्ध नहीं है। लोग कहते हैं कि इसमें कर्मधारय समास को छोड़कर बहुब्रीहि समास का अर्थ क्यों किया ? तो वह बालक बोला–गत्यन्तराभावात् । तुम्हारे इस सम्मेलन में मेरे आ सकने का कोई दूसरा उपाय ही न था। इसलिए इसका बहुब्रीहि समास करके डंके की चोट से आप लोगों के बीच में आ गया तो भैया ! समासों में ऐसा अद्भुत अर्थ हुआ करता है कि उनकी अपेक्षा को न जानें तो विवाद कर बैठें।

स्वभावज्ञान के लक्ष्य—यहाँ बताया जा रहा है कि ज्ञान दो प्रकार के हैं–स्वभावज्ञान और विभावज्ञान। स्वभावज्ञान जो होगा वह बाधारहित अतीन्द्रिय अविनाशी और दोषरहित होगा। स्वभावज्ञान कहने से दो जगह दृष्टि देनी चाहिए। एक तो केवल ज्ञान पर और दूसरे आत्मा के सहज ज्ञानस्वभाव पर। यह सहजज्ञानस्वभाव भी स्वभाव ज्ञान है और निर्दोष पवित्र अत्यन्त स्वच्छ केवल ज्ञान भी स्वभावज्ञान है। इसको स्वभाव कार्यज्ञान और स्वभाव कारणज्ञान–इस तरह से दो भेदों में रखे। स्वभावकार्यज्ञान तो निर्मल केवलज्ञान हैं जो कि सकलप्रत्यक्ष है और स्वभावकारण ज्ञान स्वभावकार्यज्ञान का कारण है।

स्वभावज्ञान की निरावरणता—यह ज्ञान त्रिकाल निरुपाधि है। स्वभाव में आवरण आ जाय तो स्वभाव का

ही विनाश हो। स्वभाव निरावरण है। स्वभाव स्वभावरूप ही तो है। उसमें आवरण मानने की क्या आवश्यकता है ? विभावरूप परिणमन के समय भी चूँकि स्वभाव स्वभाव ही रूप रहता है, शक्तिरूप है। अब उस शक्ति में आवरण की आवश्यकता नहीं है जिससे कि विभाव सिद्ध करने में सुविधा हो। विभाव दशा में आवरण है और वह आवरण व्यक्ति का आवरण है शक्ति का आवरण नहीं है। जैसा जीव का स्वभाव है तैसा प्रकट न होने देने में आवरण निमित्त होता है, पर शक्ति का आवरण नहीं होता है। यह सहज कारणज्ञान परमपारिणामिक भाव में स्थित है जो त्रिकाल निरुपाधि रूप है। इस सहजज्ञान का आश्रय करके ही सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति और पूर्णता होती है। इस सहजज्ञान के पोषण के प्रताप से, दर्शन और अवलम्बन के प्रताप से ज्ञान की वृत्ति ऐसी शुद्ध होती है कि उस ज्ञान–व्यक्ति के द्वारा यह चेतन तीन लोक, तीन काल के समस्त पदार्थों को एक साथ स्पष्ट ज्ञान में ले लेता है।

कारणस्वभावज्ञान के अवलम्बन से कार्यस्वभावज्ञान—भैया ! जानन का परिश्रम कर करके कोई सर्वज्ञ नही बन सकता। जैसे धन का संचय करते-करते कोई धनी बन जाया करता है। इसी तरह यह ज्ञान पूर्ण करने की धुन में ज्ञान को पैदा करके ऐसे विविध ज्ञानों का संचय करके कोई सर्वज्ञ नहीं बन सकता है, किन्तु वह ज्ञान के संचय करने की बुद्धि त्यागकर मात्र सहजज्ञान जो सामान्यस्वरूप है, निर्विकल्प है उसका अवलम्बन ले तो ऐसे ज्ञान की स्फूरणा होती है कि जिसके द्वारा यह समस्त विश्व का ज्ञाता हो जाता है। ऐसा यह सहज ज्ञानस्वभाव कारण ज्ञान कहलाता है। स्वभावज्ञान को स्वभावकार्यज्ञान और स्वभावकारण ज्ञान–इन दो रूपों में बताया है, किन्तु विभावज्ञान शेष पर्यायरूप ज्ञान कहलाता है।

कुज्ञानों में केवलविभावरूपता—विभावज्ञानों में से कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ज्ञान ये तो केवल विभावरूप हैं और मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान विभावरूप तो है, पर इसमें स्वभाव प्रत्यय का सम्बन्ध होने से ये सब स्वभावरूप भी कहे जाते हैं और अपूर्ण व औपाधिक होने से विभावरूप भी कहे जाते हैं। चूँकि ये पूर्ण प्रकट नहीं हुए हैं और नैमित्तिक हैं। इस कारण ये भी विभावरूप ज्ञान कहे जाते हैं। इस विभावरूप ज्ञान में जो कि केवल विभावरूप बताया गया है कुमतिज्ञान कुश्रुतज्ञान ओर कुअवधिज्ञान–इनमें विभावरूपता जो आयी है वह अन्यगुणों के विकार के कारण आयी हैं, ज्ञान के विकार के कारण नहीं आयी। इस आत्मा के जो मोह कलंक लगा हुआ है उसके सम्बन्ध से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान में कुत्सितपना आया है।

ज्ञान की विकृतता का अभाव—भैया ! ज्ञान आवृत तो होता है, परन्तु विकृत नहीं होता है। श्रद्धा और चारित्र गुण विकृत हुआ करते हैं ज्ञान गुण विकृत नहीं होता है। जीव का असाधारण स्वरूप है ज्ञान और दर्शन। ये ज्ञान दर्शन भी यदि विकाररूप हो जाया करते होते तब बड़ी कठिन नौबत आती, किन्तु ऐसा नहीं होता है। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव के भी ज्ञान और दर्शन विकाररूप नहीं हुआ करते, पर उसके साथ जो मोह कलंक लगा है सो वह विकार भी कुछ अलग तो नहीं है ना, एक ही आधार में तो हैं। इस कारण ज्ञान में कुत्सितपना आ जाता है।

विभावपरिणति के प्रसंग में अचेतक–अचेतकों का निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध—विभावपरिणमन में निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध अचेतक अचेतक में हुआ करते हैं, चेतन-चेतन में नहीं होता है। जैसे पुद्गलद्रव्य

में अग्नि का सम्बन्ध पाकर पानी उष्ण हो जाता है, सूर्य का सन्निधान पाकर पदार्थ उष्ण हो जाता है, वह अचेतक है और ये जल, पत्थर भी अचेतक है। यहाँ एकेन्द्रिय जीव से मतलब नहीं है, क्योंकि जीव में स्पर्श गुण नहीं हुआ करता है। जिस स्पर्शगुण का निमित्त पाकर दूसरे पदार्थ का स्पर्श विकृत हो गया उस स्पर्श के आरधारभूत अचेतन के नाते से ही इस दृष्टान्त में देखना। तो एक विकृत अचेतन का निमित्त पाकर दूसरा अचेतक पदार्थ विकृत हो गया, इसी प्रकार आत्मा में विकार लाने के निमित्तभूत है पुद्गल कर्म। वह पुद्गल कर्म अचेतक है, पुद्गल ही तो है आखिर और उन पुद्गलकर्मों के उदय का निमित्त पाकर श्रद्धा और चारित्रगुण विकृत हो जाते हैं। सो यह श्रद्धा और चारित्रगुण भी अचेतक हैं अर्थात् चेतने वाले नहीं हैं। प्रतिभास इनका स्वरूप नहीं है। जो चेतकगुण है प्रतिभासने का स्वरूप रखते हैं उन गुणों में विभाव नहीं आता। वे केवल आवृत होते हैं। न हो ज्यादा ज्ञान, इतना ही ज्ञानावरण कर्म का निमित्त है, पर हो जाय उल्टा ज्ञान ऐसा कोई निमित्त नहीं है। जानते हुए के साथ-साथ जो राग और मोह लगा हुआ है वह सब ही बिगड़ी हुई श्रद्धा और चारित्र का प्रताप।

ज्ञान की यथार्थता का प्रभाव—भैया ! कम जानना घातक नहीं है किन्तु उलटा जानना घातक है। कितने ही शास्त्र और विद्याएँ पढ़कर यदि ज्ञान की मोड़ उल्टी है तो उससे जीव का अकल्याण है और कोई विद्या शास्त्र में अधिक निपुण नहीं है, किन्तु ज्ञान की मोड़ सीधी है तो वह कल्याण का पात्र बनता है। एक बुढ़िया के दो लड़के थे। एक को तो दिखता था थोड़ा-थोड़ा, किन्तु जैसा का तैसा और एक लड़के को दिखता था तेज बड़ी दूरी की भी चीज किन्तु दिखता था पीला-पीला। दोनों लड़कों को बुढ़िया वैद्य के यहाँ ले गयी। तो वैद्य ने दोनों को एक दवा बतायी। यह मोती भस्म ले जाओ और चाँदी के गिलास में गाय के दूध में इसे घोल करके पिला देना। कुछ दिन में इनकी ज्योति ठीक हो जायेगी। बुढ़िया दवा ले गयी। पहिले कम दीखने वाले को दवा दी। चाँदी का ही कटोरा ले गाय के ही दूध में मोतीभस्म मिलाकर दी तो लड़का उस दवा को पी गया। किन्तु, जब पीला-पीला दीखने वाले लड़के को दवा दी जाने लगी तो वह बोलता है कि माँ क्या मैं ही तुम्हारा दुश्मन हूँ जो पीतल के गिलास में गाय के मूत्र में यह डालकर दे रही हो ? उसे तो सब पीला-पीला ही दिखता था। उसने दवा नहीं पी। तो कम दीखने वाला तो औषधि सेवन करके स्वस्थ हो गया, किन्तु जो तेज देखने वाला जिसे पीला-पीला ही दिखाई देता था उसने औषधि का स्पर्श नहीं किया, फिर रोग कैसे दूर हो ?

ज्ञान की विभावरूपता का कारण—तो ज्ञान के साथ जो मोह कलंक लगा रहता है उससे इसकी दशा बदल जाती है। वह मोह रागभाव इसको संभाल में नहीं आने देता। हालांकि विद्या पढ़ी है, जानकारी बढ़ी है तो भी उस मोह राग की तीव्रता के कारण यह सीधा ज्ञान नहीं करता और जिसका मोह दूर हो गया है, सम्यक्त्व जग गया है ऐसा जीव मेढक हो, बैल हो, हाथी घोड़ा सिंह हो या कम पढ़ा लिखा भी मनुष्य हो वह अपने वर्तमान विकसित ज्ञान के बल से सन्मार्ग पर चल लेगा और सन्मार्ग पर चलने के प्रताप से चूँकि यह भी बड़ी तपस्या है सो ज्ञानावरण का क्षयोपशम विशेष होने लगेगा और उसका ज्ञान बढ़ जायेगा। कम ज्ञानी पुरुष के केवलज्ञान नहीं हुआ करता है किन्तु सम्यक्त्व हो जाता है। यह सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व और चारित्र के बल से जब श्रेणी में चढ़ता है तो श्रेणी में श्रुतज्ञान की पूर्णता हो जाती है

और उसके बाद फिर उसके केवलज्ञान होता है। यों जानना कि कुमति, कुश्रुत, कुअवधि तो केवल विभावरूप हैं और शेष चार ज्ञानस्वभाव के उन्मुख है, किन्तु विभावरूप हैं।

जीव के लक्षणभूत उपयोग के दो भेद बताये हैं–ज्ञान और दर्शन। उन भेदों में से ज्ञान के भेद का अब दो गाथाओं में वर्णन करते हैं।

गाथा 11 - 12

केवलमिंदियरहियं असहायं तुं सहावणाणं ति।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवै दुविहं।।11।।
सण्णाणं चउभेयं मदिसुद ओही तहेव मणपज्जं।
अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई भेददो चेव।।12।।

स्वभावज्ञान की इन्द्रियरहितता—ज्ञान के दो भेद बताये गये थे–एक स्वभावज्ञान और एक विभावज्ञान। उस ही आधार पर उन भेदों का विस्तार इन गाथाओं में किया गया है। जो केवल है, इन्द्रियरहित है, असहाय है वह तो होता है स्वभावज्ञान। उस स्वभावज्ञान में कार्यस्वभाव ज्ञान भी आ गया और कारणस्वभावज्ञान भी आ गया। कार्यस्वभाव ज्ञान केवल है, अकेला है। उसके साथ किसी भी प्रकार की न द्रव्यात्मक उपाधि है और न भावात्मक उपाधि है। उपाधियों से रहित वह ज्ञान का स्वरूप है। इस कारण वह केवलज्ञान केवल है। यह केवलज्ञान ज्ञानावरण के अत्यन्त क्षय से उत्पन्न होता है। वहाँ आवरण कोई नहीं रहता है, ऐसा निरावरणस्वरूप होने के कारण वह ज्ञान इन्द्रिय से रहित है अर्थात् क्रम और व्यवधान से रहित है।

इन्द्रियज्ञान का एक दोष—भैया ! इन्द्रियज्ञान होता है तो उससे दो आपत्तियाँ आती है। एक तो ज्ञान का क्रम बन जाता है और दूसरे उसमें व्यवधान आ जाया करता है तो ज्ञान बंद हो जाया करता है, दूसरे प्रकार होने लगता है। ये दो आपत्तियाँ इन्द्रियजज्ञान में हैं। इन्द्रियों से जो कुछ जाना जाता है वह सब एक साथ नहीं जाना जा सकता है। रस भी चखते जायें, सुगंध भी लेते जाएँ और राग भी सुनते जायें, स्पर्श भी करते जायें और देखते भी जायें ये पाँचों बातें एक साथ नहीं होती है। एक समय में एक बात होगी।

इन्द्रियज्ञान में सर्वत्र क्रमविषयता—यहाँ आप शंका कर सकते हैं कि हम तो पाँचों ही बातें एक साथ दिखा दें तो। हाँ दिखाओ भाई। अच्छा तो तुम बेसन की कड़ी-कड़ी तेल की पपड़ियाँ बनाओ पापड़ सरीखी पूरी पपड़ियां, आप मुँह में रखें, पूरी तो मुँह में न आयेगी किन्तु उसका कोई हिस्सा ही आये। तो उस समय देख लो कि कड़ी-कड़ी पपड़ियां हैं, सो मुँह में कड़ी लग रही हैं, स्पर्श में आ ही रही है, खा रहे हैं सो स्वाद भी आ रहा है और खूब अच्छी बास देने वाले तेल की बनी है, सो खूब खुशबू आ रही है, पपड़ियों को देख भी रहे हैं, उसके खाने में कानों को आवाज भी सुनाई पड़ रही है। देखो पाँचों इन्द्रियों ने एक साथ कामकर लिया कि नहीं ? समाधान इसका यह है कि सिद्धान्त से यह मत है कि पाँचों काम एक समय में नहीं हो रहे हैं। जैसे बिजली का पंखा जब हाई स्पीड से चलता है तो क्या किसी को यह भी ज्ञात होता है कि ये पंखुड़ियां बेथा-बेथा दूर पर हैं और ये क्रम से चक्कर काट रही हैं। शीघ्र चलने के

कारण उनका क्रम नहीं मालूम होता है। तो बिजली के पंखों से भी तेज गति उपयोग की है। यह उपयोग पंचेन्द्रिय के विषयों में क्रम से चलता रहता है। पर इतनी द्रुतगति से उपयोग चलता है कि स्थूलरूप में यह लगता है कि एक साथ जाना। वस्तुत: वहाँ पर भी क्रम से जाना गया है।

इन्द्रिय ज्ञानों की क्रमभाविता का एक अन्य दृष्टान्त—अथवा दस, बीस, पचास पान लो। एक के ऊपर एक पान धरा हुआ है और बड़े जोर से उस पान की गड्डी पर एक पैना तेज सूजा मारा तो वे पचासों पान एक साथ छिदे या क्रम से छिदे ? स्थूलरूप में तो यह मालूम पड़ेगा कि वाह एक बार में ही तो सभी पान छिद गए, पर वे सभी पान क्रम-क्रम से छिदे। तो जो द्रुतगति से चलता है उसका क्रम चाहे मोटे रूप में विदित न हो सके, पर वहाँ क्रम होता है।

कार्यस्वभावज्ञान में क्रमरहितता व व्यवधानरहितता—केवलज्ञान में ज्ञान का कोई क्रम नहीं रहता। जो कुछ जाना जाता है तीन लोक, तीन काल के समस्त पदार्थ वे सब एक साथ स्पष्ट जाने जाते हैं। चूँकि वहाँ पर इन्द्रियाँ नहीं रहीं, इसलिए सब एक साथ स्पष्ट ज्ञात होता है। कोई आवरण ही नहीं रहा। तो स्वभावज्ञान कार्यस्वभाव ज्ञान क्रम के दोष से रहित हैं। साथ ही उस स्वभाव ज्ञान में व्यवधान की कभी आशंका नहीं। हम और आपके सामने कोई चीज आड़े आ जाय तो आगे का ज्ञान नहीं हो पाता। जब व्यवधान नहीं होता तब तो ज्ञान होगा और व्यवधान आ गया तो ज्ञान न हो सकेगा। पर केवलज्ञान में व्यवधान की कभी शंका ही नहीं। किसी वस्तु का व्यवधान होता ही नहीं क्योंकि निरावरण ज्ञान है, वह ज्ञान अपने आपमें रहता हुआ पूर्ण विकास में पड़ा है, सो अपनी कला से समस्त पदार्थों को बिना किसी शंका के स्पष्ट जानता है। तो यह स्वभाव कार्य ज्ञान इन्द्रियरहित है।

स्वभावज्ञान की असहायता—यह केवलज्ञान असहाय है। असहाय होना अच्छी बात है या बुरी बात है ? लोग तो यों मानेंगे कि असहाय होना बुरी बात है। वह बेचारा असहाय हो गया। यहाँ असहाय का अर्थ है कि जहाँ किसी की सहायता की आवश्यकता ही नहीं है। स्वयं समर्थ है और यह अकेला ही अपनी समस्त क्रियाएँ करने में परिपूर्ण समर्थ है। ऐसा असहाय यह केवलज्ञान है। यह प्रत्येक वस्तु में जुदा-जुदा नहीं व्यापता है, किन्तु एक साथ समस्त वस्तुओं में व्यापता है अथवा वस्तु का या अन्य स्वभाव का सहारा लेकर वस्तु-वस्तु में अपना लक्ष्य ले जाकर यह स्वभाव-कार्य-ज्ञान नहीं जानता है, किन्तु यह अपने आपके स्वरूप में ठहरता हुआ अपने स्वभाव से जो कुछ भी सत् है उस सबको जानता है। हमारा ज्ञान एक-एक वस्तु में डोलता रहता है, इसलिए अनेक सहायों की आवश्यकता रहती है। पर केवलज्ञान सहायता की अपेक्षा से रहित है।

सहायता की निन्दा गर्भता—भैया ! किसी के बहुत सहायक हों तो यह उसकी प्रशंसा है या निन्दा ? परमार्थ से वह निन्दा है अर्थात् वह स्वयं समर्थ नहीं है, स्वयं में इतनी प्रभुता नहीं है इसलिए इसके दसों सहायक हैं और तभी काम चल पाता है। यह तो लोक की बात है। यों तो असहाय सहायों से भी लोक में बुरे माने जाते हैं और उन्हें कहते हैं बेचारे। जिनका चारा नहीं है, गुजारा नहीं है, सहारा नहीं है उन्हें कहते हैं बेचारे और कभी-कभी तो दया करके साधु संतों के प्रति भी लोग कह बैठते हैं कि बेचारे बड़े सीधे हैं। तो बेचारे माने असहाय, जिनका कोई चारा नहीं। तो लौकिक दृष्टि में असहाय बुरा माना जाता

है और ससहाय ऊँचा माना जाता है, पर वस्तुस्वरूप की ओर से देखा जाय तो ससहाय हल्का है और असहाय सर्वोच्च है। यह केवलज्ञान असहाय ज्ञान है। इस तरह कार्यस्वभाव ज्ञान केवल है, इन्द्रियरहित है और असहाय है।

कारणस्वभावज्ञान व कार्यस्वभावज्ञान में विशेषणों की समानता—स्वभावज्ञान के दो भेद किए गये थे–एक कार्यस्वभावज्ञान और एक कारणस्वभाव ज्ञान। कार्यस्वभाव ज्ञान तो केवल ज्ञान का नाम है और कारणस्वभाव ज्ञान इस आत्मा के उस ज्ञान प्रकाश का नाम है, जो अनादि अनन्त अहेतुक अंत:प्रकाशमान है। उस कारणस्वभाव ज्ञान में क्या विशेषता है, जिन विशेषणों से हम उसका परिचय पायें ? ऐसा प्रश्न होने पर खास उत्तर है कि जो विशेषण कार्य में लगते हों, स्वभावज्ञान में लगते हों वे ही विशेषण कारणस्वभाव ज्ञान में लगते हैं।

कारणस्वभाव व कार्यस्वभाव में समानता का दृष्टान्त—कोई पूछे कि निर्मलजल कैसा होता है जिसके अन्दर कीच न हो, रंग न हो, मैल न हो, चम्बल नदी जैसा निर्मल पानी हो–उसे कोई पूछे कि यह निर्मल जल कैसा होता है ? तो वह सब बताएगा कि स्वच्छ है, कीचड़ रहित है, किसी रंग से रंगीला नहीं है, निर्दोष है। जो भी शब्द वह कहे–बतायेगा निर्मल जल का गुण और फिर पूछे कि जल का स्वभाव कैसा होता है, चाहे गंदे कीचड़ भरे मलिन जल को कटोरी में भरकर पूछे कि बताओ इस जल का स्वभाव कैसा है ? तो उतनी ही बातें कहेगा जितनी कि निर्मल जल को बताने में कही है। निर्मल जल गंदगी से रहित है। तो क्या जलस्वभाव गंदगी से सहित है? जलस्वभाव भी गंदगी से रहित है। निर्मल जल स्वच्छ है तो जल का स्वभाव भी स्वच्छ है। जितनी बातें निर्मल जल का स्वरूप बताने में कही गयीं उतनी ही बातें जल का स्वभाव बताने में कही जायेंगी।

कार्यस्वभावज्ञान व कारणस्वभावज्ञान में समानता का निरूपण—यहाँ कार्यस्वभाव ज्ञान केवल है तो यह ज्ञायकस्वभाव अर्थात् कारणस्वभावज्ञान भी केवल है। क्या यह दुकेला है ? इसके साथ कोई अन्य द्रव्यात्मक या भावात्मक उपाधि लगी है क्या ? किसमें ? ज्ञानस्वभाव में ? ज्ञानव्यक्ति की बात नहीं कही जा रही है किन्तु सहजज्ञानस्वभाव की बात कही जा रही है। यह कारणस्वभाव ज्ञान भी केवल है। कार्यस्वभाव ज्ञान इन्द्रिय रहित है तो कारण स्वभावज्ञान भी इन्द्रियरहित है। क्या सहज ज्ञानस्वभाव में इन्द्रियाँ हैं ? नहीं। वहाँ तो केवल ज्ञान ज्योतिमात्र है। तो यहां भी इन्द्रियरहित है। कार्यस्वभाव ज्ञान जैसा निरावरण स्वरूप है उस ही प्रकार सहजज्ञानस्वभाव भी निरावरणस्वरूप है। फिर पूछेंगे कि संसारी जीवों के ये ज्ञान आविर्भूत क्यों नहीं हैं ? तो प्रकट यह पर्यायों का कार्य है। और पर्याय कार्य के लिए इस संसारी जीव में आवरण लगा हुआ है। पर ज्ञानस्वभाव में आवरण कुछ नहीं है।

स्वभावज्ञान में सामर्थ्य—स्वभाव तो शक्ति मात्र है। प्रकट हो तो क्या, न प्रकट हो तो क्या, शक्ति तो शक्ति ही है। जैसे कार्यस्वभावज्ञान असहाय था अर्थात् स्वतंत्र था, प्रभु था, समर्थ था। इसी प्रकार कारणस्वभावज्ञान भी स्वतंत्र है, समर्थ है, शक्तिरूप है, वह किन्हीं परवस्तुओं में नहीं व्यापता है, वह तो अपने स्वरूप मात्र है। यों कारणस्वभावज्ञान भी कार्यस्वभावज्ञान की तरह एक साथ अपनी जाननवृत्ति करने में समर्थ है। कार्यस्वभावज्ञान तो तीन लोक, तीन काल के समस्त पदार्थों को एक साथ जानने में समर्थ है

और यह ऐसे समस्त पदार्थों को एक साथ जानने में सदा सामर्थ्यरूप है। निज परमात्मतत्त्व में स्थित सहज गुणोंरूप जो निज कारणसमयसार है उस स्वरूप से उस स्वभाव को स्वभावित करने में समर्थ है। इसका जानन प्रकट आकाररूप नहीं है। प्रकट आकाररूप जानन तो कार्यरूप जानन बन जायेगा। यही है स्वभावकारणज्ञान। इस तरह स्वभाव ज्ञान का स्वरूप कहा गया है।

आत्मचर्चा—वह ज्ञान कार्यरूप भी है और कारणज्ञानरूप भी है। यह चर्चा चल रही है अपने आपके स्वरूप की। यह दूसरे की चर्चा नहीं है। जो मन को बाहर दौड़ाये या इन्द्रियों को बाहर चलाये उससे समझ में आ जाय ऐसी बात नहीं है। ध्यान देने से ये सब बातें धीरे-धीरे समझ में आ ही जाती है और ध्यान न दिया जाय, रोज ही ध्यन न दिया जाय तो कभी समझ में नहीं आ सकता है। फिर तो एक आदत का शास्त्र सुनना रह गया।

लापरवाह श्रोताओं की योग्यता—किसी ब्रह्मचारी जी ने कहीं पूछा किसी ऐसे श्रोतागण से जो सुनने तो खूब आता हो, किन्तु ज्ञान न हो, अत्यन्त अपरिचित पुरुष की बात कह रहे हैं। क्यों भैया ! जानते हो ना इन्द्रियाँ 5 होती हैं। हां हां जानते हैं। अच्छा बताओ पंचेन्द्रिय जीव कौन है ? तो एक श्रोता ने कहा कि पंचेन्द्रिय जीव तो हाथी है जिसके चार-चार पैर हैं और एक सूंढ़ है। बहुत ठीक और चारइन्द्रिय कौन है चार इन्द्रिय, अच्छा जरा सोच लें फिर बताएंगे। अच्छा सोच लो। सोच लिया चार इन्द्रिय तो घोड़ा है क्योंकि चार पैर हैं और सूंढ़ नदारत है। ठीक है और तीन इन्द्रिय क्या है ? श्रोता कहते हैं कि तीन इन्द्रिय है तिपाई। जिसमें तीन पाये लगते हैं, लालटेन धनरे के काम आती है। तीन पाये का स्टूल अथवा खलिहान में जिस पर चढ़कर भुस भरकर बिखेरते हैं तो भुस अलग हो जाता है और अनाज अलग हो जाता है। ठीक है, अच्छा बताओ दो इन्द्रिय जीव कौन है ? श्रोता बोला दो इन्द्रिय तो हम हैं, कैसे कि हम हैं और हमारी घरवाली है। दो जनें हैं हम। ठीक है और एकेन्द्रिय जीव कौन है ? तो श्रोता बोले कि महाराज तुम हो। तुम अकेले ही तो हो। यह तो बात एक आप लोगों की नींद हटाने के लिए कही है। इतने अपरिचित आप होंगे ऐसी आशा नहीं है, पर कठिन से कठिन बात हो और जो किसी न किसी रूप में रोज-रोज कही जा रही हो, ध्यान से सुनने पर कभी तो समझ में आयेगी ही ना।

ज्ञानभेदविस्तार—यहाँ अभी यह बताया है कि ज्ञान दो प्रकार के हैं। वे हैं स्वभावज्ञान और विभावज्ञान। ऐसे दो प्रकार के ज्ञान हैं। उनमें से स्वभावज्ञान दो प्रकार का है। एक कार्यरूप स्वभावज्ञान, जो भगवान् के हुआ करता है और एक कारणरूप स्वभावज्ञान जो सभी जीवों के अपने आपके स्वरूप में सनातन प्रकाशमान् रहता है। प्रभु में भी है, संसारी जीवों में भी है। ऐसे उस शुद्ध ज्ञान की चर्चा करके अब विभावज्ञान की बात कही जा रही है। उन विभावज्ञानों में से कुछ ज्ञान तो सम्यक् विभाव है और कुछ ज्ञान मिथ्याविभाव है। सम्यग्ज्ञानरूप विभावज्ञान और मिथ्याज्ञानरूप विभावज्ञान, या यों कह लो, शुद्धाशुद्ध विभावज्ञान और केवल अशुद्ध विभावज्ञान।

केवल शब्द का विशेषण विशेष्य शब्द के साथ भावदर्शिता—''केवल अशुद्ध'' कहने से कहीं यह खुशी नहीं मनाना है, केवल शब्द लग गया जो केवल भगवान् के भी लगता है वह केवल शब्द लगा दिया। केवल अशुद्ध विभावज्ञान कुमति, कुश्रुत और कुअवधि हैं। जैसे दूसरे गुणस्थान का नाम क्या है ?

सासादनसम्यक्त्व तो सुनकर लोग खुश होते कि चलो यहाँ सम्यक्त्व तो है कुछ। सासादन ही सही, पर सम्यक्त्व तो वहाँ है ही नहीं। सम्यक्त्व नष्ट होने पर ही सासादनसम्यक्त्व होता है। फिर सासादन के साथ सम्यक्त्व शब्द क्यों लगाया ? निर्धन शब्द के साथ धन शब्द जुड़ा है तो उससे कोई धन की बात आयी क्या ? उसके साथ निर तो लगा है। निर्धन का अर्थ धनरहित है। तो सासादन का अर्थ–विनाश सहित। आसादन मायने विनाश नष्ट हो गया है सम्यक्त्व जिसका उसे कहते हैं सासादन सम्यक्त्व। तो इस प्रकार केवल विभावज्ञान की बात है। अर्थात् जहाँ सिर्फ अशुद्धता ही अशुद्धता है शुद्धता का नाम भी नहीं है, उसे कहते हैं केवल अशुद्ध विभावज्ञान।

विभावज्ञान के प्रकार—विभाव ज्ञान 7 होते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञान। इनमें शुरू के चार शुद्धाशुद्ध विभावज्ञान हैं अथवा सम्यग्ज्ञान रूप विभावज्ञान हैं और अंत के जो 3 मिथ्या विभावज्ञान हैं वे केवल अशुद्ध विभावज्ञान हैं। अब इनका वर्णन क्रम से आयेगा।

विभावज्ञान—ज्ञान के भेद में से विभावज्ञानों का वर्णन चल रहा है। विभावज्ञान, सम्यक्विभाव और मिथ्याविभाव इस तरह दो रूपों में है। सम्यक्विभाव ज्ञान चार हैं–मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान। उनमें से जो मतिज्ञान है और श्रुतज्ञान है ये दो ज्ञान प्रत्येक संसारी जीव के होते हैं। किसी के सम्यक्रूप हैं, किसी के मिथ्यारूप है। जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो तब तक मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रत्येक संसारी जीव के रहा करता है। उनमें से मतिज्ञान अनेक भेदरूप है। मतिज्ञान इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है। सो यह लब्धिरूप और उपयोगरूप दो प्रकार से होता है। लब्धिरूप मतिज्ञान का अर्थ यह है कि उसका क्षयोपशम हुआ, योग्यता हुई और उपयोगरूप मतिज्ञान का अर्थ यह है कि उसके जानन में लग गए। जैसे किसी मनुष्य को 5 भाषाएँ आती हैं, हिन्दी भाषा का वह पत्र पढ़ रहा है तो हिन्दी भाषा तो उपयोगरूप हो रही है और चार भाषाएँ उसकी लब्धिरूप हैं।

मतिज्ञान के भेद—अब मतिज्ञान के भेद देखो, मूल में इसके चार भेद हैं–अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। विषय अर्थात् ज्ञेयपदार्थ और विषयी अर्थात् इन्द्रिय–इन दोनों का योग्य सम्यग्ज्ञान होने पर, ऐसे वातावरण में आने पर कि जहाँ विषयों का ग्रहण हो सकता है, उस समय जो सर्वप्रथम ज्ञान होता है उसे अवग्रह ज्ञान कहते हैं। और अवग्रह से जानते हुए ही पदार्थ का कुछ विशेषरूप से जानन होना किन्तु निश्चय नहीं है, है जानन सच्चा उस ही पदार्थरूप जो संदेह की कोटि से ऊपर उठ गया है ऐसे ज्ञान को ईहा ज्ञान कहते हैं। और उसका निश्चय हो जाये सो अवायज्ञान है, फिर उस ज्ञान को भुला न देना धारणा ज्ञान है।

दृष्टान्तपूर्वक मतिज्ञान के भेदों का विवरण—अमूमन ये चार ज्ञान जीवों के क्रम से प्राय: होते हैं। पहिले किसी प्रकार से जाना तो सामान्यरूप से जान पाया, थोड़ा रूपसा, थोड़ा आकार सा कुछ समझ में आया। उसके बाद में कुछ विशेष बात समझ में आती है। फिर उसका निश्चय होता है। इतनी पक्की धारणारूप ज्ञान बने कि उसे फिर कभी भूलें नहीं। जैसे कहीं घूमने चले जा रहे हो, सुबह का टाइम हो, कुछ अंधेरा और कुछ उजेला हो। बहुत दूर पर कोई सफेद झंडी फहरा रही हो वह देखने में आयी सो

पहिले यह ज्ञान हुआ कि यह सफेद इस जगह इस प्रकरण की कोई चीज है। थोड़ा और चले तो ज्ञान हुआ कि अरे यह पताका है। फिर थोड़ी देर बाद निर्णय हुआ कि यह पाताका ही है। फिर उसे नहीं भूलता। इस प्रकार चार कोटियों में ज्ञान हुआ।

मतिज्ञान के भेदों की उत्पत्ति का क्रम—भैया ! किसी के कभी अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इस क्रम से होता है अवग्रह, अवाय, धारणा इस तरह, किसी के अवग्रह और धारणा इस तरह हो जाते हैं। जो चीज अपने परिचय में नहीं आयी उसके बारे में तो अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारें क्रम से होते हैं, किन्तु जिस चीज को हम रोज-रोज देखते हैं, हमारे परिचय में आती है ऐसी चीज उस अवग्रह के होते ही निश्चित हो जाती है और धारणा होती है, वहाँ ईहा नहीं आती, ईहा ज्ञान कुछ अपरिचित सी चीज के ज्ञान के समय होती है। जैसे रोज मंदिर आते हैं और मंदिर में जितनी चीजें हैं, वेदी है, प्रतिमा है उनको आप रोज देखते हैं वहाँ ईहा की क्या जरूरत है ? देखा और निश्चय किया यह अमुक है तो कहीं अवग्रह, अवाय और धारणा इस तरह तीन ज्ञान होते हैं और किसी चीज में अत्यन्त निर्णीत है, उस चीज के ज्ञान के प्रति सम्मुख हुए कि तुरन्त धारणा हो जाती है। तो इस मतिज्ञान के ये चार भेद हैं–अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

मतिज्ञान के प्रभेद—ये चारों प्रकार के ज्ञान 12 प्रकार के पदार्थों के होते हैं। बहुत चीजों का जानना एक चीज का जानना, बहुत प्रकार की चीजों का जानना, एक प्रकार की चीजों का जानना, शीघ्र जानना, देर से जानना, न निकले हुए को जानना, निकले हुए को जानना, न कहे हुए को जानना, कहे हुए का जानना, ध्रुव को जानना और अध्रुव को जानना। यह सब अपने व्यवहार में आने वाले ज्ञान की कहानी है कि हम किस प्रकार जानते हैं ? कैसे जानते हैं ? ऐसे जानन की यह कहानी है।

मतिज्ञान के प्रभेदों का विवरण—कहीं हम बहुत-सी चीजों को एक निगाह से परख लेते हैं। गेहुओं का ढेर रखा है, उनको देखकर जो जानन हुआ वह बहुत प्रकार का ज्ञान कहलाता है। होता है ना आप हम सबका ज्ञान कि बहुत-सी चीजें हैं और हम एकदम जान गए। और एक का भी ज्ञान होता है। एक ही चीज है, हम उसे जान गए। बहुत प्रकार की चीजें हैं और हम जान जाते हैं। चना, जौं, गेहूँ का कितना ही मिला हुआ ढेर हो, जिस आप बिर्रा कहते हैं तो वह अनेक प्रकार का है, उसे जान गए, यह हुआ बहुविध ज्ञान और एक प्रकार का ज्ञान। जैसे एक से गेहुंओं की राशि लगी है, तो जान गए हम बहुत को किन्तु वे सब एक प्रकार के हैं। तो यह भी एक ज्ञान होता है। शीघ्र जाती हुई चीज को हम जान लेते हैं, धीरे जाती हुई चीज को हम जान लेते हैं और कभी किसी बात को हम शीघ्र जान लेते हैं, कभी किसी के जानने में विलम्ब लगता है, तो इस तरह भी इस प्रकार से ज्ञान होता है। देखा होगा कभी एकदम प्रकट हुई चीज को जानते हैं, कोई प्रकट नहीं है। कुछ एक देश ही प्रकट हैं उसे जान लेते हैं उससे सबको जान लेते हैं। जैसे पानी में हाथी डूबा है और उसकी सिर्फ सूढ़ ऊपर है, हाथी ही एक ऐसा जानवर है कि सारा शरीर पानी में डूब जाय फिर सुंढ़ की नोक जरा-सी बाहर रहे तो उसका कोई नुकसान नहीं है। सांस लेने की जो नाक है वह पानी से ऊपर रहे। केवल उसकी सूंढ़ को देखकर यह जान जायें कि यह हाथी है ऐसा भी तो ज्ञान होता है। और कभी एकदम प्रकट पूरा निकले हुए का ज्ञान होता है उसे जानन

वह भी ज्ञान होता है। कभी बात नहीं कही गयी, कहने को था ही कि बड़ी भारी बात जान गए, ऐसा भी ज्ञान होता है। कभी पूरा कहा जाय तब जाने, ऐसा भी ज्ञान होता है। इसे कहते हैं अनुक्त और उक्त ज्ञान।

अनुक्त और उक्त अर्थ के ज्ञान का विशेष रहस्य—अनुक्त और उक्त का दूसरा अर्थ यह भी है कि जिस इन्द्रिय द्वारा जो बात जानी जाती है उस इन्द्रिय द्वारा उतनी बात को जानकर फिर दूसरी बात भी जान जाय इसे कहते हैं अनुक्त ज्ञान और जिस इन्द्रिय से जो बात जानी जाती है केवल वही जानी जाय इसे कहते हैं उक्त ज्ञान। जैसे आँख से निंबू देखा। आँख से देखते ही निम्बू की खटास का भी ज्ञान हो गया। अभी खाया नहीं पर हो गया ज्ञान। ऐसा भी ज्ञान हुआ करता है। कोई आँख मींच ले और आँख मींचने में ही कहे कि लो यह चीज खाओ। वह मुख से खा रहा है, आँखों से नहीं देख रहा है। फिर भी उसके स्वाद के कारण यह ज्ञान हो गया कि यह खीर है, चावल की है, सफेद है, इसमें बूरा पड़ा है, दूध पड़ा है अथवा अंधेरे में आम चूसते हुए में आम का पूरा ज्ञान रहता है। यह सब अनुक्त ज्ञान कहलाता है। और जितनी बात सामने प्रकट हुई है उतना ही जानें यह उक्त ज्ञान है।

प्रथम प्रभेदों का योग—यह सब हम और आप जिस रीति से जान रहे हैं उसकी यब सब कहानी है। हम किस-किस ढंग से जाना करते हैं ? हम जानते हैं और जानने के ढंगों का ही पता नहीं रहता। आचार्यदेव ने हमारे और आपके जानने के ढंगों को बताया है। एक ध्रुव पदार्थ का ज्ञान होता है और एक अध्रुव पदार्थ का ज्ञान होता है। जो स्थिर है उसका भी ज्ञान हो रहा है, जो स्थिर नहीं है बिजली चमकी, तुरन्त खत्म हो गई उसका भी ज्ञान होता है। तो इस तरह 12 प्रकार के पदार्थों का हमें अवग्रह होता है, ईहा होता है, अवाय और धारणा ज्ञान होता है। इस तरह मतिज्ञान के भेद हुए $12 \times 4 = 48$।

मतिज्ञान के प्रभेदों के भेदों की प्रस्तावना—यह हमारे और आपके उस ज्ञान की बात कही जा रही है जो इन्द्रियों के द्वारा और मन के द्वारा सीधा जो कुछ जानता है। इसको 48 भेदों में से जो अवग्रह के 12 भाग हैं सो अवग्रह कई तो अधबीच में टूटे से हो जाते हैं और कई अवग्रह पूरे होते हैं। जैसे रास्ते में चले जा रहे हैं, कोई चिड़िया की आवाज आयी या किसी अन्य चीज की आवाज है तो थोड़ा ज्ञान में आया, पर उसके बारे में और कुछ ज्यादा ऐसा न जान सके कि जिसके ऊपर हम कुछ निश्चय भी कर सकें। ऐसे टूटे अवग्रह को व्यंजनाव्यग्रह कहते हैं और जो इतना सा समर्थ अवग्रह होता है कि जिसके बाद हम पदार्थ के निर्णय करने के पात्र बनते हैं उसे अर्थाविग्रह कहते हैं। ऐसा होता है ना हम आपका ज्ञान।

अब 5 श्रेणियों में मतिज्ञान को रखो। व्यञ्जनावग्रह, अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा–ये पाँचों ज्ञान 12 प्रकार के पदार्थों में होते हैं।

मतिज्ञान की उत्पत्ति के साधन—यह ज्ञान इन्द्रियों द्वारा और मन द्वारा होता है। 5 तो हैं ये इन्द्रियाँ–स्पर्शन जिससे ठंडा गरम आदिक स्पर्श किया जाता है। रसना–जिसके द्वारा खट्टा मीठा आदिक रस जाने जाते हैं। घ्राण–जिससे गंध जाना जाता है। नेत्र–जिससे रूप जाना जाता है। कर्ण–जिससे शब्द जाना जाता है और मन जो अनेक विकल्प किया करता है। यह मतिज्ञान इन 6 साधनों से उत्पन्न होता है–5 इन्द्रियाँ और मन।

व्यञ्जनावग्रहादिक भेद—इनमें से व्यञ्जनावग्रह तो 4 साधनों से होता है। नेत्र से और मन से व्यञ्जनावग्रह उत्पन्न नहीं होता है। इसका कारण यह है व्यञ्जना है अधटूटा अवग्रह। चक्षु से हम जो जानेंगे वह पूरा जान जायेंगे, उसमें अधूरी बात नहीं रहती। इसी तरह मन से जो जाना वह भी अधूरा नहीं रहता और शेष जो स्पर्शन, रसना, घ्राण, कर्ण इन चार इन्द्रियों से जो जानेगा वह अस्पष्ट भी जान सकता है और स्पष्ट भी जान सकता है पर आँखों से जो जाना जायेगा वह तो तुरन्त ही स्पष्ट हो जायेगा और मन से जो जाना जायेगा वह भी स्पष्ट हो जाता है। तभी तो लोग आँखों से देखी हुई चीज का ज्यादा भरोसा रखते हैं। कान से सुनी हुई चीज का पक्का भरोसा नहीं रखते हैं। कारण यह है कि आँखों से जो ज्ञान होता है वह स्पष्ट ज्ञान होता है। तो व्यञ्जनावग्रह जो 12 प्रकार का है वह चार साधनों का हुआ, इसलिए व्यञ्जना के 12×4=48 भेद हो गए। अर्थावग्रह 6 ही साधनों से हुआ करते हैं। 5 इन्द्रियाँ और 1 मन से अर्थवग्रह के 72 भेद हुए, ईहा के 72, अवाय के 72 और धारणा के 72। इस तरह सब मिलाकर मतिज्ञान के 336 भेद हो जाते हैं।

ज्ञानों के ज्ञान का प्रयोजन—इन सब ज्ञानों के बताने का प्रयोजन यह है कि हम ज्ञान को ढंग से पहिचानें और यह परिणमन किस स्वभाव से, किस गुण से उत्पन्न होता है उस शक्ति पर दृष्टिपात करें और उस शक्तिमात्र अपने आपका विश्वास करें जिससे यह सुविदित हो जाय कि मेरे आत्मा का अन्य समस्त परपदार्थों से रंच सम्बन्ध नहीं है। मैं हूँ और अपने कारण अपने आपमें सदा परिणमता रहता हूँ। इस श्रद्धा का कारण बने ऐसे ज्ञान की यह चर्चा की जा रही है। जो बात जिस विधि से ज्ञात हो सकती है उसको उस विधि से जानना सो सम्यग्ज्ञान का सम्यक् उपाय है।

आप्रायोजनिक विधि से विडम्बना—एक अंधा आदमी था। उससे एक बालक ने कहा कि बब्बा आज तुम खीर खाओगे ? बब्बा तो जन्म के अंध थे उन्हें क्या पता था कि खीर कैसी होती है ? सो बब्बा बोले कि बेटा खीर कैसी होती है ? तो लड़का बोला की बब्बा खीर सफेद होती है सफेद। अब बब्बा ने सफेद कभी देखा हो तो जानें। उन्हें क्या पता कि सफेद कैसा होता है ? सो पूछा कि सफेद कैसा ? लड़का बोला बगले जैसा सफेद होती है। बगुला कैसा होता है ? लड़के ने बब्बा के सामने बगुला जैसा टेढ़ा हाथ करके कहा कि देखो बगुला ऐसा होता है। बब्बा ने हाथ से टटोलकर देखा तो कहा कि अरे हम ऐसी टेढ़ी खीर नहीं खायेंगे यह तो हमारे पेट में गड़ेगी। एक कहावत भी बन गयी है कि यह तो टेढ़ी खीर है याने बात कुछ समझ में नहीं आती, बुद्धू आदमी है उसके लिए तो टेढ़ी खीर है। तो खीर के समझाने का यह कोई ढंग था क्या ? अरे खीर का रस उसे बताना चाहिए था, किन्तु धीरे-धीरे बढ़-बढ़कर आकार सामने धर दिया तो उसको खीर का ज्ञान कैसे हो सकता है ?

निर्मोहता के प्रयोजक ज्ञान की दृष्टि—इसी तरह निर्मोहता की तो बात सीखनी चाहते हैं और जैसे निर्मोहता आए उस प्रकार का हम ज्ञान करना नहीं चाहते। निर्मोहता से प्राप्त होने वाला चारित्र और चारित्र के फल के बजाय आकांक्षा की कोशिश करने पर निर्मोहता के उपाय को नहीं करना चाहते तो निर्मोहता कैसे प्राप्त हो सकती है ? स्वयं कैसे है, कितने हैं यह अपने आपकी झलक आए बिना निर्मोहता प्रकट हो ही नहीं सकती है। सो जिन ज्ञानों को हम करके हम आप व्यवहारों में फंसते हैं उन ज्ञानों की जड़ क्या

है ? इस बात को बताने के लिए इस प्रकरण में यह ज्ञान का वर्णन चल रहा है।

द्वितीय सम्यक् विभाव ज्ञान—सम्यक् विभाव ज्ञानों में द्वितीय ज्ञान है श्रुतज्ञान। मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ में उससे सम्बन्धित अन्य बातों को समझना सो श्रुतज्ञान है। यह श्रुतज्ञान लब्धिरूप और उपयोगरूप होता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रत्येक संसारी जीव के है, किन्तु जिस समय मतिज्ञान का उपयोग है उस समय श्रुतज्ञान का विकल्प नहीं है और जब श्रुतज्ञान का विकल्प है तब मतिज्ञान का उपयोग नहीं है, किन्तु लब्धि सदा बनी रहती है। श्रुतज्ञान एकइन्द्रिय जीव के भी है, संज्ञी पंचेन्द्रिय के भी है और बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज के भी है। मोक्षमार्ग के प्रकरण में श्रुतज्ञान का वर्णन द्वादशांग रूप श्रुतज्ञान से होता है। यों खाने-पीने, खेलने-कूदने, रागद्वेष–इन प्रकरणों में जो श्रुतज्ञान चलता है उस श्रुतज्ञान से क्या हित है ?

मोक्षमार्ग का प्रयोजक श्रुतज्ञान—मोक्षमार्ग का प्रयोजनभूत हितरूप श्रुतज्ञान द्वादशांग रूप है और उस ही श्रुतज्ञान की मुख्यता करके तत्त्वार्थसूत्र में जहाँ श्रुतज्ञान का लक्षण कहा गया है, बताया है, ''श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेकद्वादशभेदम'' श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। और वह दो भेदवाला है। अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। अंगप्रविष्ट के 12 भेद हैं, जिन्हें द्वादशांग बोलते हैं और अंगबाह्य के अनेक भेद हैं। सबसे छोटा श्रुतज्ञान अक्षरश्रुतज्ञान है और अक्षर मात्र भी नहीं, किन्तु अक्षर के अनन्तवें भाग श्रुतज्ञान है। अक्षर के अनन्तवें भाग श्रुतज्ञान निगोद जीव के होता है। ऐसा समझलो मोटेरूप में कि एक अक्षर में जितनी समझ आती है उस समझ का भी अनन्तवें भाग समझ निगोदिया जीव में है। फिर बढ़ते-बढ़ते अक्षर-अक्षर समास, पद, पद समास–इस तरह अनेक भेद होते हैं। यों बढ़ते-बढ़ते फिर आचारांग सूत्र कृतांग आदिक 12 अंग हो जाते हैं।

वेद, श्रुति, स्मृति, पुराण—भैया ! प्रसिद्ध है लोक में कि 4 वेद होते हैं और 6 अंग होते हैं। 4 वेद हैं प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। जिनसे ज्ञान हो उन्हें वेद कहते हैं। उन ज्ञानों का नाम वेद है और 12 अंग हुआ करते हैं। एक और प्रसिद्धि है कि वेद से श्रुति निकली, श्रुति से स्मृति निकली और स्मृति से पुराण निकले। इस तरह वेद, श्रुति, स्मृति और पुराण चार भागों में ज्ञान का विस्तार है। इस प्रसंग में वेद नाम है सम्पूर्ण वेद का। परिपूर्ण ज्ञान आ जाय, तीन लोक, तीन काल के समस्त द्रव्य, गुण, पर्यायों को एक साथ जानता हो उस ज्ञान का नाम है वेद। सकल प्रत्यक्ष, केवलज्ञान और इस केवलज्ञानी के विशिष्ट परमात्मा के श्रुति प्रकट होती है। जो सुनने में आए उसे श्रुति बोलते हैं, दिव्यध्वनि बोलते हैं। वेद से श्रुति निकली है, केवलज्ञान से दिव्यध्वनि चली है। उस श्रुति को सुनकर बड़े-बड़े आचार्यों ने, गणधर देवों ने इनका स्मरण किया। स्मृति हुई। सो यह स्मृति द्वादशांगरूप है। फिर स्मृति के बाद जो उनका वक्तव्य हुआ या लिखित रूप में उनके ग्रन्थ आये वे समस्त ग्रन्थ पुराण हैं। पुराण पुरुषों के द्वारा जो रचित हुए वे पुराण हैं। इस तरह इन पुराणों का मूल स्त्रोत वेद हैं। इसी कारण ये समस्त पुराण प्रमाणभूत हैं। इन स्मृतियों का और पुराणों का सम्बन्ध श्रुतज्ञान से है। यह तो मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत श्रुतज्ञान की बात है, पर साधारणतया श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है।

श्रुतज्ञान की मतिपूर्वता—भैया ! यों समझिये कि जैसे आँख खोलकर देखा तो जो ज्ञान में आया तुरन्त,

वह तो मतिज्ञान और उसके बारे में फिर अमुक चीज है, अमुक जगह की बनी है, ऐसी विशेषता वाली है, यह ज्ञान हुआ वह कहलाता है श्रुतज्ञान। जैसे मिठाई खाये तो खाते ही जो रस का बोध हुआ वह तो हुआ मतिज्ञान। फिर यह मीठा है, अमुक रस का है, इस तरह बना है, अनेक विकल्प उठे वह सब श्रुतज्ञान है। यह श्रुतज्ञान सम्यग्दृष्टि के तो सम्यकरूप होता है और मिथ्या दृष्टि के कुश्रुत होता है, मिथ्यारूप होता है। तो सम्यक् विभावज्ञानों में यह द्वितीय श्रुतज्ञान है।

तृतीय सम्यक् विभावज्ञान—तीसरा ज्ञान है सम्यक विभाव अवधिज्ञान। देशावधि, परमावधि व सर्वावधि के भेद से ज्ञान 3 प्रकार के होते हैं। जो थोड़ा जाने वह देशावधि है, जो बहुत विशाल जाने वह परमावधि है और जो सम्पूर्ण जान जाय जितना कि अवधिज्ञान का विषय है तो वह सर्वावधि ज्ञान है। देशावधि ज्ञान तो नारकियों के, देवों के, मनुष्यों के भी होता है और संज्ञी तिर्यंचों के भी होता है, किन्तु परमावधि और सर्वावधि ज्ञान मुनियों के ही होता है और वह भी मोक्षगामी मुनियों के ही होता है।

ज्ञानावरण का क्षयोपशम—भैया ! जैसे-जैसे इस जीव का उपयोग सहजस्वभाव में दृढ़ आश्रय कर जाता है वैसे-वैसे इस आश्रय में ऐसी विशुद्धि प्रकट होती है जिससे ज्ञानावरण का क्षयोपशम बढ़ता है और यह ज्ञान सब प्रकट हो जाता है। वर्तमान में भी देखते हैं कि लड़के तो सब एक ही किस्म के हैं पर विद्या किसी को विलम्ब में आती है, किसी को जल्दी आती है इसका कारण क्या है कि पूर्वभव का क्षयोपशम जिसके विशाल है उसके इस भव में थोड़े उपाय से शीघ्र आ जाती है। जिसका क्षयोपशम कम है, पूर्वभव में भी कोई विशुद्ध परिणाम नहीं किया था जिससे क्षयोपशम नहीं बढ़ सका, तो इस भव में भी देर से विद्या आती है।

मनुष्यत्व—कोई लोग प्रश्न करते हैं–क्यों भाई मनुष्य का होना तो अच्छी बात है, दुर्लभता से मनुष्यभव मिलता है। पुण्य का उदय हो तो मनुष्य बनता है। तो आज के समय में मनुष्यों की संख्या बहुत बढ़ रही है तो कोई पुण्य का ही जमाना बहुत बढ़ रहा होगा जिससे मनुष्यों की संख्या बहुत बढ़ गयी है। यदि यह कहना ठीक है कि पुण्य बढ़ रहा है तो सामने यह भी दिखता है कि बुद्धिहीन, मलिन, दरिद्र ऐसे लोग भी बहुत मौजूद हैं तो पुण्य कैसा है ? आज के समय में सब देश सुखपूर्वक नहीं रह पा रहे हैं। कल का कुछ भरोसा करके कोई नहीं सो पाते हैं। ऐसी स्थिति में पुण्य तो नहीं कहा जा सकता। और मनुष्य ऐसे बढ़ रहे हैं तो यह क्या बात है ? अब ज्यों ज्यों समय खराब आता जाता है वैसे ही सिद्धान्त के हिसाब से भी पंचम काल का समय ज्यों-ज्यों अधिक व्यतीत होता जाता है, त्यों-त्यों ये मनुष्य बढ़ रहे हैं तो एक कारण मालूम होता है कि समस्त विश्व में से जिन-जिन जीवों ने मनुष्य आयु का बंध किया वह तो पुण्य प्रताप से ही किया और उन्हें अच्छा ही मनुष्य होना चाहिए था, पर करनी पीछे उनकी बिगड़ी तो वे मनुष्य तो होंगे ही, परन्तु बिगड़ी करने वालों को छांट-छांटकर आज की इस परिचित दुनिया में मानो पैदा किये जा रहे हैं। तो ऐसे-ऐसे मनुष्य होकर भी जीवन का क्या लाभ उठा सकते हैं ? मनुष्य हुए तो इस प्रकार से जीवन व्यतीत करें कि अपनी रुचि केवल आत्महित के लिए बने। अन्य सब बातें गौण हो जायें।

ज्ञानी की अनाकुलता—जो होता हो ठीक है, यों हो गया ठीक है। यों नहीं हुआ ठीक है। जितने भी दु:ख होते हैं वे सब अपने अपराध से होते हैं। दूसरे के कारण दूसरा कोई दुखी नहीं होता है। अपने ही विचार

अपनी ही कल्पनाएँ बनाई जाती हैं और उन्हीं कल्पनाओं से प्रेरित होकर क्लेश भोगना पड़ते हैं। अपना ज्ञान सावधान रखें और अहितरूप कल्पनाएँ न बनने दें फिर देखो कैसे क्लेश होता है ? तो अन्य बातें जो हमारे आत्महित की प्रयोजक नहीं हैं, चाहे बड़ा से बड़ा उपद्रव छा जाय तो भी इतना साहस सम्यग्दृष्टि पुरुष में होता है कि वह पर की परिणति से अपने चित्त में मूल में आकुलता उत्पन्न नहीं करता।

निरापदता का मूल उपेक्षा—एक किसान और किसानिन थे, तो विवाह हुए 12 वर्ष हो गए। किसान था जरा उजड्ड परन्तु किसानिन थी चतुर व शान्त। सो 12 वर्ष में एक दिन भी किसानिन को वह पीट न सका था। तो देहाती लोग तब अपने को मर्द मानते हैं तब एक दो बार पीट लें स्त्री को। तो उसने कई बार ऐसा उपाय किया कि किसी प्रकरण में स्त्री को थोड़ा गुस्सा आये या कोई गड़बड़ बात तो बोले। बिना प्रयोजन कैसे मारा जाय ? एक युक्ति उसे सूझी। अषाढ़ के दिनों में दोपहर के समय में खेत था, तो रोज रोटी लाने का उसका कार्यक्रम था। किसान ने सोचा कि आज के दिन ऐसा करें कि एकदम ऊटपटांग काम करें जिसे देखकर स्त्री कुछ तो बोलेगी। बस हमें पीटने का मौका मिलेगा। सो हल में जो जुवां होता है–सो उसने एक बैल का पूरब को मुँह कर दिया और एक का मुँह पश्चिम को कर दिया और गले पर जुवां धर दिया। अब हल कैसे चलेगा ? बताओ तो सोचा कि स्त्री ऐसा देखकर कुछ तो कहेगी ही। बच्चे कैसे पालोगे, अनाज कैसे होगा, कुछ दिमाग तो सुधारो, कुछ तो बोलेगी ही, बस ठोंकने का मौका मिल जायेगा।

स्त्री जब रोटी लेकर दोपहर को आई तो दूर से ही देख लिया और समझ गयी कि आज तो पीटने के लक्षण दिखते हैं क्योंकि अभी तक तो ऐसा बेवकूफी का काम कभी नहीं किया, आजभर में तो ये पागल हो नहीं गए। ऐसा ओंधा सूधा क्यों जोता, इसमें कोई रहस्य है। वह जब खेत में आ गयी तो रोटी धरकर कहती है कि चाहे औंधा जोतो, चाहे सीधा जोतो इससे तो हमें कुछ मतलब नहीं है। हमारा तो काम रोटी देने का है तो लो और खाओ, रोटी देकर वापिस चली गयी। किसान यों ही देखता रह गया। उसने तो बड़े फंद रचे थे कि वह यों कहेगी तो यों उत्तर देंगे, यों कहेगी तो यों उत्तर देंगे, मारने का मौका मिल जायेगा। तो बुद्धिमान् हो और पिटाई से बचना हो तो उसका उपाय इस किसानिन से सीख लो।

ज्ञानबल का सत्फल—भैया ! परपदार्थों के परिणमन चाहे औंधे हों, चाहे सीधे हों, जो कुछ है ठीक है, अपने में क्यों आकुलता लाना ? इतनी हिम्मत ज्ञानबल उत्पन्न कराता है और फिर परपदार्थों की परिणति आधीन किसी के नहीं होती है, वह तो जिस तरह होनी है होती है, पर अपनी कल्पना के अनुसार उनके परिणमन में बात फिट बैठ गयी तो मानते हैं कि इनका परिणमन मेरे आधीन हुआ है। इतनी गम्भीरता उत्पन्न होना ज्ञान के ऊपर निर्भर है। वस्तु स्वतंत्रता का निर्णय करके जिसने अपने आपमें यह देखा है, लो मैं यह हूँ और इस रूप बन रहा हूँ, अपने उपादान से बन रहा हूँ। हम खोटे हैं तो हम बाहर में कुछ निमित्त बनाकर कल्पनाएँ करके दु:खी होंगे। हम सही है तो बाहर में चाहे कोई पदार्थ किसी ढंग में भी परिणमता हो किन्तु वह तो उचित कल्पनाएँ बनायेगा।

अन्तर्भाव के अनुसार प्रवृत्ति—भीतर में जिसकी जैसी दृष्टि होती है, बाहर में परवस्तुविषयक वैसी कल्पना करते हैं। अभी बहुत बालक बैठे हों और किसी ने कोई चीज चुराई हो तो कहें कि देखो सावधानी से

बैठना, जिसने चीज चुरायी होगी वह लड़का अभी पकड़ा जायेगा। देखो हम मंत्र पढ़ेंगे, जब स्वाहा बोलेंगे तब जिसने चोरी की होगी उसकी चोटी खड़ी हो जायेगी। वह झूठमूठ का मंत्र पढ़ने लगा, जब स्वाहा सुना तो जिस लड़के ने चोरी की वह लड़का अपनी चोटी पकड़कर देखने लगता है। स्वभावत: उसका हाथ उसके सिर पर चोटी पकड़कर देखने के लिए उठ ही जायेगा। तो भीतर में जैसी श्रद्धा होती है उसके ही अनुसार संसारवृत्ति बनती है। हमारी अगर पापभावना है तो बाहर में पाप भरी कल्पनाएँ ही बनेंगी। क्योंकि स्वयं में तो पापभावना बसी हुई है। और स्वयं में यदि शुद्ध है तो चाहे दूसरा कोई गलत भी हो तो भी बहुत समझने के बाद वह गलत मान पायेगा। सुगमतया उसको सब शुद्ध ही दिखेगा।

ज्ञानी की भावना और वृत्ति—जैसी दृष्टि होती है वैसी बाहर में प्रवृत्ति होती है। जिस ज्ञानी पुरुष ने अपने आपमें सहज स्वरूप का दर्शन करके उसकी भावना द्वारा स्थिरता उत्पन्न की है वह अपनी उस स्थिरता के अनुसार बढ़ा हुआ ज्ञान पाता है और इस ही सहजज्ञानदेव की भक्ति के प्रसाद से ऐसा ज्ञान प्रकट होता है, जिसे वेद शब्द से कहा गया हो, सकल प्रत्यय शब्द से कहा गया हो, तीन लोक, तीन काल के समस्त पदार्थों को जानने वाला होता है।

ज्ञानी की आकांक्षा—ये तीन लोक इस जानन में आयें चाहे न आयें, हे प्रभु मुझे कोई आकांक्षा नहीं है कि मैं सारे विश्व को जान लूं, किन्तु हमारे ऐसा ज्ञान प्रकट हो कि मैं अपने आत्मा के शुद्धसहज एकत्व स्वरूप को जानता रहूं। उस यथार्थ जानन की इच्छा करता हूँ। सारे विश्व को जानने की चाह नहीं करता। मुझे केवलदर्शन मिले चाहे न मिले यह तृष्णा नहीं है कि मैं सारे विश्व का द्रष्टा बन जाऊँ, क्या प्रयोजन पड़ा है ? किन्तु इतना दर्शन मेरे अवश्य प्रकट हो कि मैं अपने आपके आत्मरूप का दर्शन किए रहूँ। मुझे अनन्त सुख मिले या न मिले, इसकी मुझे कोई चाह नहीं है। किन्तु इतनी बात तो मुझमें आए कि आकुलता उत्पन्न न हो। मुझे अनन्त आनन्द की कोई चाह नहीं है, किन्तु मुझमें आकुलता तो रहे ही नहीं। मुझमें अनन्त बल प्रकट हो चाहे न हो। क्या होगा उससे ? बलशाली हो गए तो क्या, किन्तु इतना बल तो प्रकट हो कि मैं अपने आपके ज्ञानस्वरूप में समा सकूं।

स्वरूप समावेशबल—अपने आपके स्वरूप में समाने के लिए भी बल चाहिए। जैसे अपने शरीर में जो धातु उपधातु हैं उनको संभालने के लिए बल चाहिए। जब देखो कमजोर हो जाते हैं तो मुख से राल बहने लगती है, नाक से पानी बहने लगता है, आँख से पानी झरने लगता है, मुझे ये मैल हटाने के लिए, ये बाहर न निकल जायें इसके लिए कुछ बल चाहिए ना। तो जब इस नकली बल के लिए नकली इस देह में ठीकठाक बने रहने के लिये, इसे सावधान बने रहने के लिए इस देह की चीज देह में ही समाया रहे बाहर न निकल पाये, इतनी बात के लिए भी बल की जरूरत है। तो आत्मा का गुण आत्मा का वैभव आत्मा में ही समाये रहें, अपने आपमें अपने आपको लीन कर सकें, बाहर-बाहर न भटकते फिरें सुख की तलाश में, तो ऐसी स्थिति पाने के लिए भी बल चाहिए। हे प्रभो ! मुझमें वह बल प्रकट हो और अनन्त बल मिले, न मिले उसकी आकांक्षा नहीं है।

आत्मवैभव और अनन्त वैभव—आत्मज्ञान, आत्मदर्शन, आकुलता न होना अपने आपमें समाये जाने का बल–ये चारों बातें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त बल को प्रकट करने वाली होती हैं।

हो जायें, पर जीव का प्रयोजन तो केवलमात्र आकुलता के न होने से है। यों इस शुद्ध ज्ञान के प्रताप से आत्मा में कैसे-कैसे ऐश्वर्य बढ़ते हैं, उसका यह प्रसंग है, यह सम्यक्विभाव ज्ञान तृतीय ज्ञान अवधिज्ञान है।

चतुर्थ सम्यक् विभावज्ञान—सम्यक् विभाव ज्ञानों में चतुर्थज्ञान है मन:पर्ययज्ञान। ऋद्धिधारी साधुजनों के ऐसा ज्ञान प्रकट हो जाता है। मन:पर्ययज्ञान जो दूसरे के मन की बात जान ले सो मन:पर्ययज्ञान है। मन:पर्यय ज्ञान से मन का विकल्प भी जान लिया जाता है और जिस पदार्थ के सम्बन्ध में विचार किया वह पदार्थ भी जान लिया जाता है। ऐसा ज्ञान ऋद्धिधारी जनों के प्रकट होता है। मन:पर्ययज्ञान सम्यक्रूप ही होता है। मिथ्यादृष्टि जीव के मन:पर्ययज्ञान नहीं होता और सम्यक दृष्टियों में भी विशिष्ट ऋद्धिधारी साधु के होता है। मन:पर्ययज्ञान दो प्रकार का है एक ऋजुमति मन:पर्यय ज्ञान और दूसर विपुलमति मन:पर्यय ज्ञान। दूसरे के मन की सीधी सरल बात हो उसे जानें यह तो है ऋतुमति मन:पर्ययज्ञान और दूसरे के मन में कैसी ही कुटिल बात हो, मायाचारपूर्ण हो अथवा बुरा विचार हो या आगे पीछे जाने उन सबको विपुलमति मन:पर्यय ज्ञान जान लेता है।

ऋजुमति व विपुलमति में अन्तर—ऋजुमति से विपुलमति का क्षयोपशम अधिक है, विशुद्धि अधिक है। ऋजुमति मन:पर्यय वाला तो केवलज्ञान होने से पहिले छूट जाए, ऐसा भी हो सकता है, पर विपुलमति मन:पर्ययज्ञान तो केवलज्ञान उत्पन्न होने पर ही छूटता है, पहिले नहीं छूटता है। विपुलमति मन:पर्ययज्ञान वाला जीव नियम से मोक्ष चला जाता है।

अवधिज्ञान व मन:पर्ययज्ञान में अन्तर—अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान में इतना स्थूल अन्तर है कि अवधिज्ञान तो रूपी पदार्थों को ही जानता है और मन:पर्ययज्ञान रूपी पदार्थों के सम्बन्ध में कोई कुछ विचार करे तो वह मन की पकड़ को भी जानता है और उसके विषय को भी जानता है। अवधिज्ञान के स्वामी त्रसलोक की दुनिया में बहुत मिलेंगे, मन:पर्यय के स्वामी बहुत कम। अवधिज्ञान नारकियों के, देवों के, संज्ञीपञ्चेन्द्रियों के और मनुष्यों के, चारों गतियों के जीवों के होता है, किन्तु मन:पर्ययज्ञान तो मनुष्य में ही होता है और उनमें भी सम्यग्दृष्टियों के, उनमें भी साधुओं के और उनमें भी संयमी साधुओं के होता है, किन्तु विशुद्धि मन:पर्ययज्ञान में बहुत होती है। अवधिज्ञान बहुत लम्बे क्षेत्र तक के जीवों में पाया जाता है। स्वर्गों में सर्वार्थसिद्धि तक अवधिज्ञान है। नारकों में, सभी में अवधिज्ञान हो सकता है और तिर्यकक्षेत्र में तो समस्त तिर्यक् लोक में जो कि एक राजू विस्तार वाला है, अवधिज्ञान हो सकता है, किन्तु मन:पर्ययज्ञान जो ढाई द्वीप के अन्दर ही संयमी जनों के होता है, उनके ही हो सकता है। अवधिज्ञान मोटी बात जानता है मन:पर्ययज्ञान की अपेक्षा। मन:पर्ययज्ञानी अवधिज्ञानी से बहुत सूक्ष्म बात जान सकते हैं। मन का विकल्प तो अवधिज्ञान के विषय से बहुत सूक्ष्म है। इस प्रकार सम्यक्विभावज्ञानों में ये चार ज्ञान बताये हैं। ये चारों ज्ञान सम्यग्दृष्टि जीव के ही होते हैं। जो आत्मा के सहज परमभाव में स्थित हो, उसके ही ये चारों ज्ञान होते हैं।

कुज्ञान में कुत्सितता—इनमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान यदि मिथ्यादृष्टि जीव के होते हैं तो ये कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ज्ञानरूप होते हैं। कुमतिज्ञान में सब अहितरूप से ही जाना जाता है, कुश्रुतज्ञान में खोटे ही खोटे विचार हैं, वे उत्पन्न होते हैं। बड़े-बड़े बम बना लिये जाते हैं, जो एक इरादे से कहीं गिरा

दिये जायेंगे तो वहाँ सैकड़ों मील क मनुष्य मरेंगे–ऐसी शक्ति वाले बमों का बनाना यह क्या कम होशियारी की बात है ? कितना दिमाग लगाते हैं ? किन्तु वह कुश्रुतज्ञान है, जो जीवों की हिंसा का ही प्रयोजक है। कुअवधिज्ञान से देखते हैं परोक्ष की बात, पर जो अहितरूप हो, वह दिखता है, हितरूप बात नहीं दिखती।

कुअवधिज्ञानी की संस्कृति का एक उदाहरण—जैसे एक कथानक में आया है कि राजा अरविन्द बुखार होने से दु:खी बैठे थे। भींत पर दो छिपकलियाँ लड़ गयीं और ऐसी तेज लड़ीं कि उनकी पूंछ टूट गयी और दो-चार खून की बूँद राजा के शरीर पर गिरीं। वे बूंदे राजा को बड़ी ठण्डी लगीं, बड़ी अच्छी लगीं। वे ठण्डी बूँदे चाहे पानी की हों, चाहे खून की हों, चाहे किसी चीज की हों, अच्छी तो लगेंगी ही। सो राजा ने सोचा कि इस से हमें बड़ी शान्ति मिली है। सो लड़कों को बुलाया और कहा कि घर में खून की एक बावड़ी भरवा दो, हम उसमें स्नान करेंगे। पिता की ऐसी आज्ञा को वे लड़के कैसे टालें ? सो पूछा कि कहाँ इतना खून मिलेगा, जो घर की बावड़ी खून से भर जाये ? वह राजा अवधिज्ञानी था, मगर खोटा अवधिज्ञानी। सो कुअवधिज्ञान से देखकर राजा बताता है कि देखो इस दिशा में अमुक जंगल में बहुत से जंगली जीव रहते हैं, वहाँ बहुत से हिरण मिलेंगे, कुछ स्थानों में खरगोश भी मिलेंगे, कुछ स्थानों में वनगाय भी मिलेंगी, सो वहाँ जाओ और उनको मारकर उनके खून से इस घर की बावड़ी को भर दो।

अब वे लड़के विवश होकर चले। उसी जंगल में एक मुनि महाराज बैठे थे। लड़कों ने प्रणाम किया। मुनि मन:पर्ययज्ञानी थे। वह साधु स्वयं बोलता है कि ऐ बच्चों ! कुबुद्धि पिता के पीछे तुम लाखों जीवों की हिंसा करने आये हो ? इस बात को सुनकर लड़कों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। लड़कों ने पूछा कि आपने कैसे सारी बातें जान लीं कि हमारा पिता कुबुद्धि है ? वह साधु बोला कि तेरा पिता अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है। वह खराब बातें तो बता देगा, पर अच्छी बातें न बतायेगा, क्योंकि उसका खोटा अवधिज्ञान है। कहा कि महाराज ! कैसे परीक्षा करें ? कहा कि लोटकर उनके पास जाओ और पूछो कि वहाँ और कुछ भी है कि नहीं ? तो वे यह न बता पायेंगे कि कहीं-कहीं वहाँ साधु महाराज रहते हैं।

लड़के गए, उन्होंने पिता से पूछा तो राजा ने बताया कि उधर दस सिंहों की टोली है, उधर खरगोश है, वहाँ कुछ वनगाय भी हैं, वहाँ पर हिरण भी बहुत है–ये सारी बातें बता दीं, पर यह नहीं बताया कि वहाँ एक कोने में साधु महाराज बैठे हैं। लड़कों ने जाकर ऐसा ही साधु महाराज को बताया। साधु ने बताया कि देखो वह राजा सब खोटी ही खोटी बातें बताएगा। संत, धर्मात्मा, संन्यासी में उसका उपयोग नहीं जाता है। लड़कों की समझ में सब आ गया और सोचा कि पाप का फल स्वयं को ही भोगना पड़ेगा।

लड़कों का विवेक—वे लड़के वापिस चले गए और लाख का रंग लाकर उस बावड़ी को भर दिया और कहा कि पिताजी तैयार है खून से भरी बावड़ी, खूब नहाओ। राजा ने देखा तो उसमें खून का सा स्वाद न आया, सो सोचा कि यह खून नहीं है, यह लड़कों ने हमारे संग छल किया है। सो नंगी कटार लेकर वह मारने के लिए लड़कों को दौड़ा। लड़के आगे-आगे भागते चले जा रहे थे। रास्ते में राजा को ठोकर लगी, गिर गया और उसकी कटारी उसके ही पेट में लग गयी। वह राजा मरकर नरक में गया।

कुअवधिज्ञान में कुत्सितज्ञान—भैया ! कुअवधिज्ञान में सब खोटा ही खोटा दिखता है। भला नहीं दिखता है। यह अंदाज कर लो कि आप का यदि खोटा आशय है, कोई भ्रम है तो आपको अच्छी बात न

दीखेगी। अच्छी भी बात होगी तो उसका अर्थ उसका यों लगायेंगे, यों घटायेंगे कि जिससे कोई क्लेश की बात उत्पन्न हो। तो जिसका आशय मलिन है ऐसे पुरुष अच्छी बातों को कहाँ देखेंगे ? तो कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ज्ञान ये केवल विभावरूप होते हैं। इन्हें मिथ्याविभाव ज्ञान कहना चाहिए।

स्वभावज्ञान का विवरण—इस प्रकरण में सबसे पहिले प्रत्यक्ष ज्ञान बताया गया था स्वभाव ज्ञान–वह स्वभाव ज्ञान दो प्रकार का कहा है। कारणस्वभाव ज्ञान और कार्यस्वभाव ज्ञान। कार्यस्वभाव ज्ञान तो केवलज्ञान का नाम है और कारणस्वभाव ज्ञान आत्मा के सहज ज्ञान का नाम है। ज्ञानस्वभाव, ज्ञानशक्ति, चैतन्यस्वभाव यही है कारणस्वभाव ज्ञान। ये आत्मा के दोनों प्रत्यक्ष ज्ञान है, किन्तु कार्यस्वभाव ज्ञान तो है सकलप्रत्यक्ष और कारणस्वभाव ज्ञान है स्वरूपप्रत्यक्ष। केवलज्ञान समस्त पदार्थों को तीन लोक, तीन कालवर्ती सकल द्रव्य, गुण, पर्यायों को एक साथ स्पष्ट जानता है, आत्मा के द्वारा जानता है, इन्द्रिय की सहायता बिना। इस कारण केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है और सहजज्ञान यह शुद्ध अंतस्तत्व में अथवा परमतत्त्व में व्यापक है। अपने ही स्वरूप में अपने ही आत्माश्रित है इस कारण इसे स्वरूपप्रत्यक्ष कहते हैं।

सम्यक् विभावज्ञानों में प्रथम विकलप्रत्यक्षज्ञान—अब सम्यक् विभाव ज्ञानों में कौन-सा ज्ञान प्रत्यक्ष है और कौन-सा ज्ञान परोक्ष है ? यह बताते हैं–प्रत्यक्ष ज्ञान उसे कहते हैं कि आत्मीय शक्ति से स्पष्ट जान लेना आर जो इन्द्रिय के निमित्त से अविशद जाने, एक देश जाने वह है परोक्षज्ञान। जैसे सामने संदूक रखा है, इन्द्रियज्ञान तो सामने का भाग ही जान सकेगा, पीछे कैसा है? अन्दर कैसा है? यह तो नहीं जाना। और अवधिज्ञान से जाना गया तो आगा पीछा भीतर सब जानने में आ जायेगा। यह अवधि ज्ञान इन्द्रिय की सहायता के बिना हुआ है, सो अवधिज्ञान है। विकल प्रत्यक्ष क्यांकि वह समस्त पदार्थों को नहीं जान पाता किन्तु रूपी पदार्थों को ही जानेगा। अवधिज्ञान मोटी चीजों को ही जानता है और एक परमाणु तक का भी ज्ञान कराता है।

उत्कृष्ट अवधिज्ञानों के द्वार से जानकारी की विशालता—भैया ! उत्कृष्ट कक्षा का अवधिज्ञान हो, परमावधि सर्वावधि ज्ञान हो, तो उस ज्ञान के द्वारा परम्परया सम्यक्त्व और चारित्र परिणमन भी जान लिया जाता है। सम्यक्त्व और चारित्र परिणमन सीधा अवधिज्ञान का विषय नहीं है क्योंकि यह अमूर्त है। अवधिज्ञान तो रूपी पदार्थों को ही जानता है किन्तु कर्म कितने हटे हैं, कर्म कितने धरे हैं यह तो अवधिज्ञानी जान सकता है ना, क्योंकि कार्माण द्रव्यरूपी पदार्थ है और जहाँ यह जान लिया आगमज्ञानी संत ने कि अमुक प्रकृति के कर्म इतने कम हैं, इतने मौजूद हैं तो उससे सम्यक्त्व और चारित्र की बात श्रुतज्ञान से जान ली जाती है। अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान विकलप्रत्यक्ष है, एक देश जाननहार है।

सांव्यावहारिक प्रत्यक्षता—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये वास्तव में तो परोक्ष हैं इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होते हैं, पर व्यवहार से ये भी प्रत्यक्ष है। जैसे आँख से अभी देखा, जान लिया कि यह भिंडी है, लौकी है तो बताओ ऐसा ज्ञान कर लेना प्रत्यक्ष ज्ञान कहलायेगा या परोक्ष ? यह परोक्ष कहलाता है। इन्द्रिय और मन के निमित्त से जो कुछ जाना जाय वह सब परोक्ष है। लोकव्यवहार में इसे प्रत्यक्ष कहते हैं, कहते हैं ना, वाह जी वाह मुझे प्रत्यक्ष दीखा और केवल देखने को ही प्रत्यक्ष नहीं कहा गया है किन्तु पंचेन्द्रिय के ग्रहण से प्रत्यक्ष बोला करते हैं। कोई-कोई तो आँख से भी पूरा समझ में नहीं आता। चखकर

या छूकर समझ में आता है। जैसे सामने मीठा फल या मिठाई रखी है तो आँखों से देखने से आपको पूरा समझ में न आयेगा। तो कैसे समझ में आयेगा ? उसे खाकर समझ में आयेगा कि यह अच्छी मिठाई है या यह अच्छा फल है।

सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष की विशदता—अग्नि के सम्बन्ध में कोई वकील मान लो युक्ति लेकर उसे ही सिद्ध करने लगे–आग ठंडी होती है क्योंकि पदार्थ है, जो-जो पदार्थ होते हैं वे सब ठंडे होते हैं–जैसे पानी पदार्थ है वह ठंडा होता है और यह अग्नि गरम होती है यह समझाने के लिए क्या करना चाहिए ? अरे चीमटे से आग उठाकर उसके हाथ में धर देना चाहिए, तुरन्त समझ में आ जाएगा। अरे...रे....रे ! यह तो आग है। कोई चीज स्पर्श से समझ में आती है, कोई चीज चखकर समझ में आती है, कोई चीज देखकर समझ में आती है–इन सबमें प्रत्यक्ष का व्यवहार होता है। वाह, हमने स्वयं प्रत्यक्ष किया, प्रत्यक्ष देखा, प्रत्यक्ष सुना–यह सब व्यवहार से प्रत्यक्ष है। आत्मा के स्वरूप की और कला की दृष्टि से सब परोक्ष हैं, क्योंकि वे इन्द्रिय और मन के निमित्त से वे उत्पन्न हुए।

युक्ति से व्यावहारिक विशदता की प्रबलता—एक वकील साहब घूमने जा रहे थे। आगे एक तेली का घर मिला। वहाँ कोल्हू चल रहा था। उस बैल के एक घण्टी बंधी थी। वह बैल चलता था तो उसके गले की घण्टी बजती थी। वकील साहब बोले कि क्यों तैली भैया ! इस बैल के तुमन घण्टी क्यों बाँध रखी है ? तेली बोला कि इसके घण्टी बँधी रहने से हमें इसके पीछे-पीछे नहीं चलना पड़ता, हम अपना काम करते रहते हैं। जब तक घण्टी बजती रहती है, तब तक तो समझते रहते हैं कि चल रहा है और जब घण्टी बजना बंद हो जाती है तो हम समझ जाते हैं कि अब बैल खड़ा हो गया है। सो आकर एक डण्डा बैल के जमा जाते हैं और फिर बैल चलने लगता है। बैल चलता रहता है, हम अपना काम करते रहते हैं। इसलिये यह घण्टी इस बैल के बंधी है। वकील साहब बोले कि अगर खड़े-खड़े ही यह इस घण्टी को हिलाता रहे तो क्या तुम जान पाओगे कि बैल खड़ा है ? वह तेली बोला कि अभी हमारा बैल वकील नहीं बना है, जिस दिन वकील बन जाएगा, उस दिन दूसरा उपाय सोचेंगे। युक्तिबल से कुछ भी सिद्ध किया जाए यहाँ, किन्तु सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष में तो बोध विशद और प्रत्यक्ष होता है।

ज्ञानव्यक्तियों का स्रोतभूत विशदज्ञान—इस ज्ञान में से हमें क्या देखना है और क्या शिक्षा लेनी है ? इसमं साक्षात् मोक्ष का मूलभूत केवल एक सहजज्ञान है जो एक निज परमात्मतत्त्व में निष्ठ है, रहता है। कहाँ दृष्टि देनी है ? यह ज्ञानपरिणमन जिस शक्ति से उद्भूत होता है, उस सहजस्वभाव में दृष्टि देनी है, वही उपादेय है। उस सहजज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ उपादेय नहीं है, क्योंकि भव्यजीवों के वह परमस्वभावरूप है। पारिणामिक भाव-स्वभाव से सहजतत्त्व की दृष्टि के प्रताप से भव्यजीवों के भव्यत्व गुण का विपाक होता है, मुक्ति प्राप्त होती है। इस कारण एक यह सहजज्ञान उपादेय है। बड़े-बड़े योगीजन आरम्भ और परिग्रह को त्यागकर एकान्त में निवास करके किसकी धुनि बनाए रहते हैं कि उनके रात-दिन बड़े आनन्द से गुजरते हैं और कोई आकुलता नहीं होती ? वह धुनि है इस आत्मा के इसी अन्तस्तत्त्व के दर्शन की। जब उपयोग जाता है, सफलता मिलती है तो और दृढ़ता के साथ इस पुरुषार्थ में वे लगते हैं और इसके स्मरण के प्रताप से ही बहुत समय तो उनका आनन्द में व्यतीत होता है।

सहजज्ञान की ईप्सिततमता—भैया ! लोक में सब कुछ वैभव रहना सुगम है, किन्तु एक इस निज आत्मतत्त्व के, इस सहजस्वरूप के दर्शन होना कठिन है। सब कुछ मिल जाए, क्या होगा इससे ? अन्त में मारण होगा, छोड़कर जाना होगा ? यह आत्मा फिर क्या पायेगा अगले भव में ? एक इस सहजज्ञान की दृष्टि जगी हो तो इस निर्मलता के प्रताप से आगे भी यह सन्मार्ग पा सकेगा और यों ही विषयाकांक्षाओं में समय गुजरा तो ये तो कोई साथ न रहेंगे, किन्तु पाप का फल ही सामने नजर आएगा।

ज्ञानविवरण में ग्राह्यतत्त्व—ज्ञान के इस प्रकरण में ग्रहण करने योग्य बात कही गयी है कि इस संकटहारी नाथ की भावना करनी चाहिए। यह आत्मदेव नाथ है। न अथ–जिसकी आदि नहीं है। यह मुक्त लक्ष्मी का नाथ स्वभावत: समस्त संकटों से परे अपने स्वरूपमात्र है। प्रभु में व्यक्त अनन्त चतुष्टय है तो इस आत्मतत्त्व में स्वभाव अनन्त चतुष्टय है। कारणरूप ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति इस आत्मदेव के है और कार्यरूप यही चतुष्टय प्रभु परमात्मा में है। इस अत्यन्त निकट वर्तमान परम चित्स्वरूप के श्रद्धान के द्वारा अपने आत्मा की निरन्तर भावना करनी चाहिए। जिसके प्रताप से प्रभुत्वदर्शन और प्रभुत्वपरिणमन होता है। वह वृत्ति जिस वृत्ति के द्वारा अपने आत्मा की भावना होती है, वह है सहज चिद्विलासरूप। प्रभु के दर्शन बनावट, दिखावट, सजावट से नहीं हो सकते। आत्मतत्त्व का अनुभव धन के आधीन नहीं है, लोक में पोजीशन बढ़ जाए, इसके आधीन नहीं है, यह तो सहज चिद् विलासरूप वृत्ति के द्वारा दृष्ट होता है।

स्वरूपाचरण की विभुता—ज्ञानी की वृत्ति में सहज वैराग्य है। सम्यक्त्व होने पर ज्ञान और वैराग्य सम्यक होता है मूलत: फिर ज्ञान की पूर्ति वैराग्य की पूर्ति असलीरूप में पश्चात होती है किन्तु सम्यक्त्व के होते ही ज्ञान और चारित्र प्रारम्भ हो जाता है। अविरत सम्यग्दृष्टि इसलिए कहा जाता है कि वह प्रगतिरूप में अणुव्रत और महाव्रतरूप से तैयारी करके आगे नहीं बढ़ रहा है, इसलिए उसका नाम अविरत सम्यग्दृष्टि है। फिर भी सम्यक्त्व के होने पर स्वरूप का आचरण व जानना वहाँ होता है, उस दृष्टि से उसके चारित्र भी होगा। स्वरूपाचरण चतुर्थ गुणस्थान में है और उस स्वरूपाचरण की वृद्धि के लिये अणुव्रत का पालन होता है, महाव्रत का पालन होता है और अन्त में जहाँ अणुव्रत और महाव्रत भी शांत हो जाते हैं, वहाँ स्वरूपाचरण का विशिष्ट विकास हो जाता है। स्वरूपाचरण इस सम्यग्दृष्टि का साथ नहीं छोड़ता। अणुव्रत और महाव्रत तो किसी स्थिति से चलते हैं और किसी स्थिति तक चलते हैं, किन्तु स्वरूपाचरण चतुर्थ गुणस्थान में भी उसकी पदवी के योग्य प्रकट हुआ है और यह स्वरूपाचरण अपनी-अपनी पदवी के विकास के अनुरूप ऊपर के सभी गुणस्थानों में प्रकट होता है और यह सिद्धि होने पर भी नहीं छूटता। स्वरूपाचरण वहाँ परिपूर्ण बना ही रहता है। सहज चिद्विलासरूप जो कि वीतराग आनन्दअमृत को साथ लिए हुए है, उस चिद् विलासरूप पुरुषार्थ के द्वारा इस आत्मा की भावना करनी चाहिए।

ज्ञानमात्र भावना का महत्त्व—यह आत्मतत्त्व निरावरण व्याघात से रहित परमचैतन्यशक्तिरूप से सदा अन्त:प्रकाशमान् है। त्रिकाल कभी भी वियुक्त नहीं होता है–ऐसे इस स्भाव अनन्त चतुष्टय करि सम्पन्न परमपारिणामिकभाव में स्थित इस आत्मतत्त्व की उपासना करनी चाहिए। सीधी सी बात यह है कि जैसे अपने-अपने नाम की सबके अन्दर भावना भरी है–मैं अमुक हूँ। जैसे उस नाम के प्रति श्रद्धा, रुचि, वृत्ति

बनी हुई है, इसी प्रकार यह नाम की वृत्ति न रहकर मैं ज्ञानज्योतिमात्र हूँ–इस तरह की रुचि और भावना बने तो आत्मतत्त्व के अनुभव का अवसर मिलता है। अहो, कैसा व्यामोह है मनुष्य को कि नाम के अक्षर परिमित हैं, थोड़ा अदल-बदल कर रखे जाते हैं ? वे ही 16 स्वर और 33 व्यञ्जन उतने का कितना बड़ा विस्तार बना रखा है कि जिसने जिसका जो नाम रख दिया, अब व उस नाम में अपना आत्मसर्वस्व जानता है। किसी का नाम लेकर जरा गाली तो दे दो, फिर देखो कि वह कितनी उचक-फांद करता है ? ऐसा नाम में व्यामोह पड़ गया है। यह व्यामोह हटे और मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूँ–ऐसी भावना जगे तो इस आत्मभावना के द्वारा संसार में संकट कट सकते हैं।

भोग की कच्ची भूख एक महान् धोका—भैया ! जैसे बीमारी में कच्ची भूख लगती है तो पक्की भूख तो यह मनुष्य सह लेता है और उस कच्ची भूख में जब न खाए, थोड़ा धैर्य रखे तो वह स्वस्थ हो जाता है। ऐसे ही संसार की जन्म-मरण की लम्बी बीमारी में भोगों की आकांक्षा की कच्ची भूख लगती है। यह यदि एक ही भव में गम खा जाए तो इसे मोक्षमार्ग मिल जाता है। अनेक भवों में तो भोग भोगा है, केवल एक भव ही ऐसा मान लो कि हम मनुष्य न होते तो हमारे लिए तो कुछ भी न था। सौभाग्य से मनुष्य हो गये तो अन्य कर्मों के लिए हम नहीं हैं, हम आत्महित के लिए हैं–ऐसा जानकर, साहस बनाकर इन भोगों से मुख मोड़कर आत्मभावना में अपना समय और उपयोग लगायें तो यही मेरे जीवन की सफलता का उपाय है।

सर्वउपदेशों का प्रयोजन शुद्ध अन्तस्तत्त्व की भावना–इस ज्ञान प्रसंग में भेदविज्ञान की बात भी गर्भित है। यह विभावज्ञान मेरा स्वभाव तो है नहीं और स्वभाव के अनुरूप शुद्ध विकास भी नहीं है, परन्तु यह केवल ज्ञानस्वभाव तो नहीं है, किन्तु स्वभाव के अनुरूप शुद्ध विकास है। फिर भी केवलज्ञानरूप क्षणिक वृत्ति पर उपयोग आ जाए तो उस उपयोग में स्थिरता, लीनता, समाधिपना नहीं आ पाता, क्योंकि मात्र ज्ञान के स्वरूप में, स्वभाव के अनुभव में उपयोग लगे तो यहाँ विषय ध्रुव और निज होने के कारण निर्विकल्पता और समाधिभाव उत्पन्न होते हैं। इस भेदविज्ञान को पाकर एक आत्मा की ही भावना भायें और समस्त सुख-दु:ख, शुभ-अशुभ अनात्मतत्त्वों का परिहार करें। इस विधि से यह जीव समग्र ध्रुव आनन्द को प्राप्त करता है।

शान्ति के ख्याल से कोरा अनर्थ का श्रम—यह जीव शान्ति के लिए कितने ही आश्रय बनाता है और जब शान्ति नहीं मिलती, तब उस पुराने आश्रय को छोड़कर किसी नवीन आश्रय की तलाश करता है। तो अब तक के निर्णय से बताओ कि इन रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द का आश्रय करके कौन-सी संतोषजनक स्थिति पायी है कि जिससे यह दीखे कि हमने अपने आनन्द के लिए इतने तो काम कर लिए हैं, अब इतना काम सिर्फ और शेष है। जैसे मकान बनाते हो तो उसमें इतना मालूम होता रहता है कि लो भींत तो उठ चुकी, अब भींत नहीं बनानी है, बल्कि छत डालनी है। इतना ही काम रह गया, छत तो अब डल चुकी है, अब तो मामूली थोड़ा-सा सीमेंट का पलस्तर करने का काम बाकी है। जैसे वहाँ पूर्तियाँ नजर आती है, ऐसे ही भोगने में ऐसा कौन-सा काम नजर आया कि हमने इतना पुष्ट काम कर लिया है, जो अब करने के लिए नहीं रह गया है ? ऐसी स्थिति भोगसुख, लौकिक आनन्द विषयों में नहीं जमती। ये तो कोरे के कोरे ऐसे जंचते हैं कि पूरे मूर्ख फिर से अ आ इ ई पढ़ते हैं। चालीसों वर्ष के सुख भोग डाले,

पचास-साठ वर्ष के सुख भोग डाले फिर भी आज रीते के रीते हैं। भींत के उठने में इतना तो मालूम होता है कि अब इतना काम रह गया है, परन्तु इन सुखों के उपाय में तो कुछ भी नहीं है।

भोग में आखिर रीता का ही रीता—जैसे ''अंधा जोरी बलता जाए, पीछे बछड़ा खाता जाए'' तो उसका तो कुछ भी काम नहीं बना। धन जोड़ते हुए में इतना तो मालूम होता है कि अब चालीस हजार हो गए, अब पचास हजार हो गए, पर यहाँ सुखों के उपायों में, अन्तर में तो कुछ दिखता ही नहीं है। सुबह खाया, अब पेट ज्यों का त्यों खाली है। कल खाने की फिर आ पढ़ेगी। देखने सूँघने आदि सभी विषयों की क्षण-क्षण में अ, आ पढ़नी पढ़ती है। ऐसा नहीं लगता है कि इतना सुख भोगा तो हमारा इतना काम बन गया, अब इतना काम रह गया, कोरे के कोरे बने रहते हैं। कैसा व्यर्थ का उपाय है ? ऐसे व्यर्थ के प्रयत्नों में रहकर कितने दिन बितायेंगे ?

विपरीत प्रयोजनों में कल्पित धर्म का श्रम—भैया ! कभी कुछ थोड़ी-सी सुधि आती है फिर थोड़ी देर के बाद ज्यों के त्यों हो जाते हैं। थोड़ा-सा साहस बँधता है कि ये क्षण निर्विकल्प होकर सहज आत्मस्वभाव की दृष्टि में गुजरें, पर बाद में फिर वह ही बोझ सामने आ जाता है। कोई खोद विनोद न करे, ये सब कहने सुनने की बातें हैं, ऐसी स्थिति बन जाती है।

एक पांडेजी थे बिलकुल थोड़े पढ़े अनपढ़े से थे। सो भांवर पढ़ने के लिए एक धुनिया के यहाँ विवाह में गए। सो मंत्र पढ़े ''ॐ विस्नुं विस्नुं स्वाहा धरो टका।'' वहाँ टके तो थे ही नहीं। सो वह गरीब धुनिया बोला कि हमारे पास टके तो है नहीं। तो तुम्हारे पास क्या है? हमारे पास तो महाराज सिर्फ रूई है। फिर अपना मंत्र पढ़ा–''ॐ विस्नुं विस्नुं स्वाहा धर रूई।'' धर दिया रूई। फिर पढ़ा मंत्र ''ॐ विस्नुं विस्नुं स्वाहा धर रूई।'' फिर रूई धर दिया। इस तरह से उसके चारों ओर रूई ही रूई इकट्ठा हो गई। सो इतने में एक पढ़े लिखे पांडे जी आ गए। तो पांडेजी ने कहा कि ऐसा मंत्र कबहुं नहीं देखा आसमपास कपासा, तो वह बोला कि खोद विनाद करो मत पांडे अद्धम अद्धं स्वाहा। अरे पांडे जी खोद विनोद मत करो, आधी कपास हमारी और आधी तुम्हारी है। तो इस धर्मपालन में भी किसी का कुछ प्रयाजन है, किसी का कुछ प्रयोजन है।

ज्ञानस्वरूप अहं की प्रतीति का बल—भैया ! इतना प्रयोजन इस प्रसंग में क्यों नहीं आ जाता कि मेरा किसी भी अन्य वस्तु से प्रयोजन नहीं है। मैं तो अपने इस अंतस्तत्त्व को ही देखने और जानने में रहना चाहता हूँ, ऐसा किसी भी क्षण अपने आपमें साहस नहीं जगता। करना वही पड़ेगा। अपने को संकटों से छुटकारा प्राप्त करने के लिए यही कार्य करना पड़ेगा। जब तक नहीं करते तब तक संसार के क्लेशों का तांता ही बनता जाता है। सर्वपरिग्रह का आग्रह तजकर, चेतन और अचेतन संगों से हटकर, यहाँ तक कि इस एकक्षेत्रावगाह देह में भी उपेक्षा करके एक अनाकुल चैतन्यमात्र सहज ज्योतिस्वरूप अपने आत्मतत्त्व की भावना करनी चाहिए। सीधी सी बात और सुगम बात इतनी–सी तो है कि हम अपने को बार-बार इस रूप में निरखें कि शरीर तक से भी परे विविक्त केवल ज्ञानस्वरूप हूँ। मैं ज्ञानमात्र हूँ–ऐसी भावना रुचिपूर्वक भाये कि यह भान ही न रहे कि शरीर भी मुझसे चिपका है। ऐसे अपने ज्ञानस्वरूप की भावना यों भाता रहे कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, इस ही प्रकार निरखते रहे तो इस भावना से सब मार्ग खुल जाता है।

एक धर्म व एक पालनपद्धति—करने का काम यदि एक ही सोचो तो बड़ा आराम मालूम होता है। घर गृहस्थी में दुकान में, प्रपंचों में एक काम किसी एक के जिम्में सौंपा जाय तो अच्छी व्यवस्था बने। अब एक को दसों काम करने पड़े तो बेचारा व्यग्र हो जायेगा। वह अकेला क्या-क्या करे ? एक काम ही रहे, अन्य चिंताएँ न हों तो कुछ उन्नति की बात बतायी जा सकती है। इसी प्रकार कोई कहे कि धर्म करने के लिए भी एक बात बता दो तो एक काम तो हम रुचि से निभा ले जायेंगे। अब यहाँ तो पचासों काम धरे हैं धर्म को, अब पूजा है, अब सामायिक है, अब स्वाध्याय है, अब यह उत्सव आ रहा है, अब वह उत्सव आ रहा है, अब अष्टाह्निका लग गयी, कहाँ तक करें ये पचासों काम ? हमें तो एक काम बताओ जिस को चित्त में रखकर अच्छी तरह निभायें। तो आचार्यदेव कहते हैं कि धर्म के लिए एक ही काम करना है, पचासों काम नहीं करने हैं। पचासों काम तो तुमसे तब करवाते हैं जब तुम इस एक काम को मना करते हो या इसमें ढील डालते हो।

वास्तविकता में न रहने पर व्यवहारधर्मक्रियाओं की विवशता—भैया ! एक काम करना है धर्म के लिए। मैं ज्ञानमात्र हूँ, इस तरह खूब सोचें और इस तरह से अपने को निरख डालें। इसके सिवाय और कुछ काम नहीं देते हैं तुम्हें, किन्तु इन कामों में जब हम नहीं लग पाते तब तुम्हें ये दसों काम करने पड़ते हैं, मंदिर जाओ, पूजन करो, स्वाध्याय करो, सुनो प्रवचन, बोलो प्रवचन। सीधा-सा काम सौंपा है और उसे न करें तो फिर मालिक तो दसों काम ऐसे कठिन बताएगा कि जिनके बाद वह कहे कि अब न हम से दसों काम करवाओ। हम वह ही काम करेंगे जो पहिले बताया। सो धर्म के लिये एक ही काम बताया है आचार्य देव ने। जब तुम नहीं करते हो तो दसों काम बताये जाते हैं। तो फिर हम खुद ही दसों कामों से शिक्षा लेकर अथवा ऊबकर अब कहाँ जायेंगे ? सो ब्रह्मदेव के स्मरण और अनुभवन की रुचि जगेगी। जब तुम्हें ये काम सुहायेंगे नहीं, तो तुम ऊबकर अपने आप इस ठिकाने आ जाओगे कि मुझे अब और कुछ नहीं करना है। मात्र एक ज्ञानस्वरूप मैं हूँ–ऐसा अनुभवन करके ऐसा चैतन्यमात्र है विग्रह जिसका, ऐसे इस शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना करनी चाहिए।

ब्रह्मोपदेश—यहाँ इस ज्ञानवंश का विस्तारपूर्वक वर्णन करके यह उपदेश किया गया है। जिस उपदेश का नाम है ब्रह्मोपदेश, जिसमें ब्रह्मस्वरूप के निहारने का उपदेश किया गया हो कि एक चित्त से एक इस आत्मा की भावना करनी चाहिए जब तक कि रागद्वेष से सर्वथा मुक्ति न हो जाय। जब तक यह ज्ञान इस ज्ञान में प्रतिष्ठित न हो जाय तब तक एक ही ज्ञान है, अपने को इस प्रकार भावें कि मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ, अमूर्त हूँ। शरीर तक का भान नहीं रहना चाहिए। उपयोग यदि इस ज्ञानतत्त्व को निरखता है कि इस शरीर में यह मैं आत्मा रह रहा हूँ, इस शरीर से मैं भिन्न वस्तु हूँ–ऐसी दृष्टि होने से शरीर का भी भान नहीं रहता। ऐसे एकाग्र मन से निज आत्मतत्त्व की भावना करने वाले ज्ञानी संत सुख, दुःख, पुण्य, पाप, शुभ, अशुभ आदि तत्त्वों से छुटकारा पाकर निकट काल में ही सदा काल के लिए आनन्द के पात्र होते हैं।

कारणसमयसार—कारणस्वभाव ज्ञान जो कि अनादि अनन्त अहेतुक है, जिसका आश्रय करने से मोक्षमार्ग चलता है। इस कारण समयसार के सम्बन्ध में यह कैसे प्रकट होता है ? इसके उपाय में यह जानना

चाहिए कि शुभ राग और अशुभराग सर्वप्रकार के रागों का विलय हो जाने से और मोह का मूल से विच्छेद हो जाने से और साथ ही द्वेष के जल से भरे हुए मानस घट के फूट जाने से अर्थात् मोह का तो मूल से छेद हो, राग और द्वेष का विलय हो तो इस उपाय से यह पवित्र सर्वोत्कृष्ट ज्ञानज्योति प्रकट होती है जो कि उपाधि रहित है, नित्य उदित है, भेदविज्ञान का वास्तविक फल है, ऐसा यह मंगलस्वरूप शरणभूत लोकोत्तम यह कारणसमयसार वंदनीय है। इस कारणसमयसार की भक्ति, रुचि, दृष्टिरूप हमारा भाव नमस्कार हो।

प्रभु में कारणसमयसार व कार्यसमयसार का योगपथ—यह सहजज्ञान, कारणसमयसार, परमपारिणामिक भाव प्रत्येक जीव के अंत:प्रकाशमान रहता है और सम्यग्दृष्टि जीव के किसी की दृष्टिरूप, प्रतीतिरूप, आलम्बनरूप और किसी के स्वभाव परिणमनरूप व्यक्त रहता है। यह सिद्ध प्रभु में भी है और अविरत सम्यग्दृष्टि में भी है। कार्य ज्ञान हो जाने पर कारणज्ञान समाप्त नहीं हो जाता। कार्यसमयसार और कारण समयसार इन दोनों का एक साथ सद्भाव है, पर्यायरूप ज्ञान जिस स्वभाव से प्रकट हुआ है वह स्वभाव कहीं खत्म नहीं होता। सिद्धभगवान के भी इस कारणसमयसार में से निरन्तर कार्यसमयसार प्रवाहित हो रहा है। हाँ जो पर्यायरूप कारणसमयसार है वह बारहवें गुणस्थान तक रहता है, इससे ऊपर नहीं चलता, पर शक्तिरूप स्वभावरूप जो कारणसमयसार है वह सिद्ध में भी है और वहीं कार्यसमयसार भी है। यदि कारणसमयसार न हो तो कार्यसमयसार कहाँ से प्रकट हो ?

प्रतिक्षण शुद्धपरिणमन—भैया ! सिद्ध भगवान् में प्रतिक्षण नया-नया कार्य हो रहा है, नया-नया ज्ञान हो रहा है, फिर भी वे सब ज्ञान पूर्ण समान होते हैं। पहिले समय में सर्व जाना और दूसरे समय में भी सर्व जाना तो पहिले समय में पहिले समय की शक्ति के प्रयोग द्वारा सर्व जाना और दूसरे समय में दूसरे समय की शक्ति के प्रयोग से सर्व जाना। एक समान ज्ञान चलते रहते हुए भी ज्ञानपरिणमन प्रति समय में भिन्न-भिन्न है। जैसे बिजली का लट्टू आधा घण्टे तक बराबर जले, 8 बजे से लेकर 8:30 बजे तक जले तो देखने में तो ऐसा आएगा कि यह बिजली का लट्टू वैसा ही काम कर रहा है, जैसा कि आध घण्टे पहिले करता था, पर ऐसी बात नहीं है। वह प्रतिक्षण अपना नया-नया परिणमन कर रहा है। जो कार्य 8 बजे किया, वह कार्य अगले क्षण में समाप्त हुआ, उसके अगले क्षण में ही उसका नया परिणमन हो गया। प्रतिक्षण पूर्व-पूर्व परिणमन विलीन होता है और नया-नया परिणमन चलता है। प्रभु व परमात्मा में समान-समान ज्ञान होता रहता है। प्रतिक्षण नवीन समय के ज्ञान का उत्पाद है और पूर्वसमय के ज्ञानपरिणमन का विलय है।

बंधन व अबन्धन की परिस्थितियाँ—शुद्धात्मा में तो इतनी जल्दी ज्ञान बदलता है कि इस संसारी जीव का ज्ञान एक दृष्टि से अन्तर्मुहूर्त तक वही रहता है। अन्तर्मुहूर्त के बाद फिर दर्शन होकर फिर दूसरा ज्ञान हुआ। पर प्रभु के एक-एक समय में नया-नया ज्ञान हो जाता है, वह समान ज्ञान है। जो शुद्ध वस्तु होती है, वह द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से, एकत्व को लिए हुए होती है। जो विकृत परिणमन होता है, वह द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से अनेकत्व को लिए हुए होता है। द्रव्य से अशुद्ध अवस्था में यह आत्मा केवल एक ही हो तो बंधन नहीं हो सकता। बंधन की अवस्था में दो द्रव्यस्वरूप होने चाहिए, बन्धन

की अवस्था में दो क्षेत्र होने चाहिए, तब बन्धन है। बन्धन की अवस्था के परिणमन दो समयों तक चलने चाहिए तो तब बन्धन है। बन्धन के समय के भाव भी अनेकता को लिए हुए ही होना चाहिए।

बद्ध में अबद्ध स्वरूप—यद्यपि बन्धन की अवस्था में भी निश्चयदृष्टि से देखा जाए तो वहाँ भी प्रत्येक द्रव्य एक है, उसका क्षेत्र एक है और पदार्थ का प्रत्येक समय में एक ही परिणमन है और भाव भी अपने स्वलक्षणरूप है, लेकिन इस दृष्टि में बन्धन कहाँ है ? बन्धन की दृष्टि जब रखी जाएगी तो दो द्रव्य जाने बिना, देखे बिना, सम्बन्ध पाए बिना बन्धन काहे का ? इस प्रकार दो क्षेत्रों की अवगाह बिना, संयोग बिना, सम्पर्क बिना बन्धन काहे का ? वर्तमान में जीव और कर्म में अनेक द्रव्य हैं, इनका बन्धन है और इनका क्षेत्र है, अनेक निज क्षेत्र उनका बन्धन है, एक क्षेत्रावगाह है और बन्धन के समय की जो परिणति है, वह एक समय तक ही रहकर अपना विपाक बना ले, ऐसा नहीं होता। अनेक समयों तक की कल्पनाएँ राग का समूह विपाक कहलाता है। एक समय का रागपरिणमन अनुभव में नहीं आ सकता। वह देखो तो उसके विकल्प बने बिना ऐसी स्थिति नहीं हो सकती है। समय बहुत छोटे काल का नाम है। किसी विकल्प को करते हुए में अनगिनत समय बनते हैं, तब विकल्पों की शक्ल आ पाती है। इसी तरह वह भाव भी अनाकुलता और विषमता को लिए हुए होगा, तब वह बन्धन होता है।

शुद्धावस्था में सर्वथा एकत्व—शुद्ध अवस्था में जैसे कि सिद्ध भगवान् हैं, वहाँ द्रव्य का एकत्वस्वरूप है, दूसरी उपाधि का संबन्ध नहीं है, क्षेत्र का एकत्वस्वरूप है, वहाँ निमित्तनैमित्तिकरूप क्षेत्रावगाह नहीं है। यद्यपि एक सिद्ध के स्थान में अनेक सिद्ध विराजमान् हैं तो भी वे बिलकुल अलग हैं। जैसे एक घर में रहने वाले 10 परिजन हैं और उनका किसी से परस्पर में मन नहीं मिलता है, तो कहते हैं कि एक घर में रहते हुए भी वे सब न्यारे-न्यारे हैं। इसी तरह एक क्षेत्र में अनन्त सिद्ध बस रहे हैं, फिर उनका परिणमन जुदा-जुदा है, निमित्तनैमित्तिक संबन्ध रंच भी नहीं है, अत: वे जुदा-जुदा हैं। उनका काल परिणमन भी एक-एक समय में पूर्ण-पूर्ण होता है और एक समय के परिणमन के साथ दूसरे समय के परिणमन का संबन्ध बिलकुल नहीं है, जिससे कि विकल्प और अनुभव की शक्ल न बन सके।

छद्मास्थावस्था में सामायिक परिणमनों का उपयोगद्वार से संबन्ध—प्रश्न यहाँ हो सकता है कि पहिले समय का रागपरिणमन विलीन हो गया। दूसरे समय का रागपरिणमन अन्य पर्यायरूप है, फिर निज जो एक समय के रागपरिणमन का दूसरे समय के रागपरिणमन से सम्बन्ध कैसे बनेगा ? उत्तर यह है कि उन परिणमनों का साक्षात् सम्बन्ध तो नहीं है किन्तु इस उपयोग के द्वार के लिए न होते हुए भी सम्बन्ध बना है, अन्यथा विकल्प की शक्ल बन नहीं सकती। केवल दो अवसरों को छोड़कर किसी भी अवसर में संसारी जीवों के ऐसा नहीं होता है कि एक समय क्रोध भाव हो तो दूसरे समय मानभाव आ जाय, दूसरे समय अन्य भाव आ जाय–ऐसा नहीं होगा। क्रोधभाव आयेगा तो अनगिनत समयों तक क्रोध ही क्रोध परिणमन चलेगा। मानपरिणमन आयेगा तो अनगिनत समयों तक याने अन्तर्मुहूर्त तक मान मान का ही परिणमन चलेगा। इसी तरह प्रत्येक विभावपरिणाम की यही बात है और इसी कारण उपयोग द्वार से उनका अनुभव होता है, विकल्प होता है और प्रवृत्ति बनती है। केवल दो अवसरों में ऐसा होता है कि जहाँ कोई एक कषाय एक समय को ही रहे। किन्तु उन परिस्थितयों में होने वाली कषाय का अनुभवन नहीं हो

पाता, विकल्प नहीं बन पाता।

एक समयमात्र विशिष्ट कषाय रहने का प्रथम अवसर—वे दो अवसर कौन हैं ? जिनमें किसी एक कषाय का एक समय अवस्थान है। एक तो है व्याघात का अवसर और एक है मरण का अवसर। कोई जीव यानी कषाय में आया है, एक समय को आ पाया था कि इतने में कोई लट्ठ बरस जाय, बिजली तड़क जाय, कोई व्याघात हो जाय जिससे यह क्षुब्ध जाय तो वहाँ क्रोध कषाय आ गया। मान कषाय एक समय को ही रह पाया। वहाँ मानकषाय का विकल्प नहीं बन पाता, किसी के एक समय को मानकषाय आया और व्याघात हो गया तो उसके उसका भी बाद में क्रोध ही कषाय आयेगा। व्याघात के समय में क्रोध एक समय रहे सो नहीं होता। मान, माया और लोभकषाय–ये तीन कषाय व्याघात के समय में रह सकते हैं, बाद में नहीं रहते। व्याघात के काल में क्रोध कषाय ही चलता है दूसरा कषाय नहीं आता।

एक समयमात्र कषाय रहने का द्वितीय अवसर—दूसरी परिस्थिति है मरण की। किसी जीव को नरकगति में जाना है। मरण के एक समय पहिले उस जीव के मानकषाय आया था कि एकदम मरण हो गया। जब मरण के समय उसके क्रोधकषाय आ गया क्योंकि नरक में जा रहा है। जो जीव नरक में जायेगा, मरण समय में क्रोध कषाय आयेगी। जो जीव तिर्यंच गति में जायेगा मरण समय में माया कषाय आयेगी। देवगति में जन्म लेने वाले को मरण समय में लोभकषाय आयेगी और मनुष्यगति में जन्म लेने वाले को मरण समय में मानकषाय आयेगी। सो कदाचित् मरण समय में ऐसी स्थिति बन सकती है लेकिन उस एक-एक समय के कषाय परिणमनों से कोई हित नहीं होता है कि लो एक ही समय रहा फिर नहीं रहा तो ठीक रहा। कुछ ठीक नहीं रहा। उसके बाद अनुभाव्य अन्य कषाय जग गयी। तो यह छद्मस्थ अवस्था में जीव के विकल्प निर्माण में ऐसी स्थितियाँ बनती है।

सिद्ध प्रभु की अभिरामता—सिद्ध भगवान् के एक समय की बात का दूसरे समय के परिणमन के साथ ऐसा सम्बन्ध नहीं बनता। अगर सम्बन्ध हो तो केवल ज्ञान काम नहीं कर सकता। प्रत्येक समय में स्वतंत्रता से परिपूर्ण केवलज्ञान चलता रहता है। वह केवल-ज्ञानरूप कार्यसमयसार प्रति समय कारणसमयसार से उठकर चल रहा है, वह सहजज्ञान आनन्द से तन्मय है अर्थात् आनन्दमय है। व्यग्रता को लिए हुए नहीं है, बाधारहित है। जिसकी यह सहज अवस्था सदा अन्त:प्रकाशमान् है, जो अपने में सहज विलास करता हुआ चैतन्य चमत्कार मात्र में लीन है, स्वयं प्रकाशरूप है, नित्य अभिराम है–ऐसा सहज ज्ञान सदा जयवन्त हो।

सुन्दर, मनोहर, अभिराम की उत्तरोत्तर बुद्धि—देखो भैया ! भली बात बताने के लिए तीन शब्द आया करते हैं–सुन्दर, मनोहर और अभिराम। इसमें सुन्दर शब्द तो बड़ा ओछा शब्द है, उससे बढ़कर तो मनोहर शब्द है और उससे बढ़कर अभिराम शब्द है। सुन्दर ने क्या किया ? भली प्रकार से तड़फाकर क्लेश पैदा किया। यह शब्द में आये हुए अर्थ की बात कह रहे हैं। सु उन्द अर, जो भली प्रकार से क्लेश करे उसे सुन्दर कहते हैं। सो देख लो जगत् की हालत। जिसको जो सुन्दर लगता है उस ही से वह आफत में पड़ता है। सुन्दर से अच्छा तो मनोहर है, जो मन को हरे। इस शब्द में तड़फाने की बात नहीं भरी हुई है। अगर वह तड़फता है तो उसमें सुन्दरता का सम्बन्ध है, किन्तु मनोहर शब्द के अर्थ में भी थोड़ा बिगाड़ है, मन को हर लिया। जैसे कोई किसी के धन को हर ले तो उसमें पाप लगता है ना ? इन सबसे अच्छा

शब्द है अभिराम। हैं तीनों एकार्थक शब्द, पर अभिराम मायने जो अपनी आत्मा में सर्वप्रकार से ऋद्धि और सम्पन्नता वर्ते उस परिणति का नाम है अभिराम।

कारणसमयसार की अभिरामता—यह कारणसमयसार सुन्दर नहीं है, मनोहर नहीं है किन्तु अभिराम है। ऐसा नित्य अभिराम जो अन्धकार से परे ज्योतिस्वरूप है ऐसा कारणसमयसार सदा जयवन्त प्रवर्तो, जिसके प्रकाश के कारण भव-भव के बन्धे हुए कर्म कट जाते हैं, अनन्तकाल के संकट टल जाते हैं–ऐसा यह सहजज्ञान कारणसमयसार सदा जयवंत प्रवर्तो। हो गया सब। जैसा प्रस्ताव किया जाता है, बात बतायी जाती है तो चार छः आदमी जब बता चुकते हैं तो उसके बाद जो कोई कहेगा वह यही कहेगा कि अब बताने का समय नहीं है, अब तो यह कार्य करने का समय है। कारणसमयसार के सम्बन्ध में बहुत समय से वर्णन चल रहा था। अब वर्णन चलते-चलते धैर्य नहीं रहा कि इसको सुनते ही रहें। सो ज्ञानी के अब यह भावना जगती है कि ऐसा शुद्ध चैतन्यमात्र यह कारणसमयसार जिसमें सहजज्ञान का साम्राज्य भरा हुआ है। अरे यह मैं ही तो हूँ। अब यह मैं निर्विकल्प होकर इस कारणसमयसार स्वरूपरूप उपयोगी होता हूँ।

उपयोग के मूल स्वलक्षण—इस प्रकार जीव के स्वरूप के वर्णन करने के प्रसंग में पहिले कहा गया था कि यह उपयोगमय है। उपयोगमय की व्याख्या ही यह सब चल रही है। उपयोग दो प्रकार का है–ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग दो प्रकार का है–स्वभावज्ञान और विभावज्ञान। स्वभाव ज्ञान दो प्रकार का है–कारणरूप स्वभावज्ञान और कार्यरूप स्वभावज्ञान। विभावज्ञान दो प्रकार का है–संज्ञानरूप विभावज्ञान, कुज्ञानरूप विभावज्ञान। इस प्रकार ज्ञान के विस्तार में मूल उपदेश इस बात का बताया है कि इस सर्वपर्यायरूप ज्ञानों के स्रोतभूत जो ज्ञानस्वभाव है, सहजज्ञान है, ध्रुवज्ञान शक्ति है तद्रूप अपने आपको स्वीकार करें।

ध्रुवरूप होने की आकांक्षा—जैसे आपको कुछ दिन के लिए राजा बना दिया जाय या अरबपति बना दिया जाय और यह कह दिया जाय कि कुछ दिन के बाद जो तुम्हारे पास है उसे भी छुड़ाकर साधारण कपड़े पहिनाकर हटा दिया जायेगा तो क्या आप ऐसा राज्य लेना पसंद करेंगे ? मैं कुछ दिन के लिए राजा बन जाऊँ? आप तो यही पसंद करेंगे कि जो सदा निभ सके, मेरी तो यह 500 रूपल्ली की दुकान ही भली है, कुछ दिन को राजा बनना या अरबपति बनना आप पसंद न करेंगे। तब आप अपने बारे में वैसा क्यों नहीं सोचते जो आप सदा रहते हैं। इन पर्यायोंरूप अपने को क्यों विचारते हो जो कुछ समय को होती है और फिर खत्म हो जाती हैं। पर को ध्रुवरूप मानने की आदत तो है भीतर में, किन्तु उसका प्रयोग और उपयोग नहीं करना चाहते। कौन चाहता है कि मैं वह होऊँ जो मिट जाऊँ? तो फिर ऐसा ही प्रयोग करो कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानस्वभाव मात्र हूँ, चित्प्रकाशमात्र हूँ, अन्यरूप नहीं हूँ, ऐसे ध्रुवस्वभाव रूप अपने आपकी प्रतीति करो। यही हैं अपने प्रभु के दर्शन और प्रभु की प्रभुताई पाने का उपाय। अब इसके बाद दर्शनोपयोग के सम्बन्ध में कुछ वर्णन चलेगा।

गाथा 13

तह दंसणउवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो।
केवलिमिंदिपरहिपं असहायं तं सहावमिदि भणिदं।।13।।

दर्शनोपयोग के भेदों में स्वभावदर्शनोपयोग—जीव के स्वरूप वर्णन करने के प्रकरण में दर्शनोपयोग का स्वरूप यहाँ बताया जा रहा है। जैसे ज्ञानोपयोग बहुत प्रकार के भेदों से सहित है, इस ही प्रकार दर्शनोपयोग भी नाना भेद करके सहित है। प्रथम तो दर्शनोपयोग के दो भेद हैं–स्वभावदर्शनोपयोग और विभावदर्शनोपयोग। स्वभावदर्शनोपयोग दो प्रकार का है–कारण स्वभावदर्शनोपयोग और कार्यस्वभाव दर्शनोपयोग। इसे कारण स्वभावदर्शनोपयोग कहिए या कारणदृष्टि कहिए अथवा दर्शनस्वभाव कहिए यही है शुद्ध आत्मा का स्वरूप श्रद्धानमात्र। दर्शन का और सम्यग्दर्शन का निकट सम्बन्ध है। वैसे दर्शन का व्यक्तिरूप जो दर्शनोपयोग होता है उसका स्रोतरूप है कारण दर्शन;किन्तु उसको जरा शीघ्र समझ पायें इस पद्धति के अनुसार बताया जा रहा है कि जो नित्य निरञ्जन शुद्ध ज्ञानस्वरूप है उसका स्वरूप श्रद्धानमात्र कारण दर्शन होता है। यहाँ श्रद्धान पर्यायरूप नहीं लेना, किन्तु स्वरूप प्रत्यक्षरूप जैसा कारणस्वभाव ज्ञान है तो इस ही प्रकार इसे स्वरूप प्रत्यक्ष कह दिया जाय जिसका स्वरूप श्रद्धान मात्र प्रयोजन है।

स्वभावदर्शन की सहजरूपता—दर्शन की व्यक्तियों के मूल आधार को बताने का उपाय है सहज आत्मस्वरूप को दिखाना, जो आत्मस्वरूप सदा पावनरूप है, पवित्र है। औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव का अथवा विभाव स्वभावात्मक परभावों का अगोचर है, नैमित्तिक भाव से परे है यह आत्मस्वरूप। जीव के 5 भावों में से पारिणामिक भाव तो स्वरूपमात्र भाव का नाम है और शेष चार भाव नैमित्तिक भाव हैं। कोई कर्मों के उदय का निमित्त पाकर हुआ तो कोई कर्मों के उपशम का निमित्त पाकर हुआ तो कोई कर्मों के क्षयोपशम का निमित्त पाकर हुआ, तो कोई कर्मों के विनाश का निमित्त पाकर हुआ। उन नैमित्तिक पद्धतियों से पृथक् जो सहज पारिणामिक स्वभाव भाव है उसका स्वरूप दर्शन मात्र कारण दर्शन कहलाता है। यह आत्मस्वरूप कारणसमयसर रूप है, निरावरण इसका स्वभाव है। द्रव्य की शक्ति पर आवरण नहीं होता, किन्तु शक्ति की व्यक्ति का आवरण होता है। शक्ति तो अपने स्वभाव की सत्ता मात्र है। किसी भी वस्तु का स्वरूप बताया जाय तो कुछ हद तक तो उसका निरूपण चल सकता है, पर पूरी बात आ जाय ऐसा तो कोई वचन ही नहीं है। यह अपने आत्मतत्त्व की बात है।

वस्तु के वास्तविक स्वरूप की अवक्तव्यता—कोई सी चीज खायी है भैया ! उसका ही स्वरूप नहीं बता सकते। अच्छा बताओ इमरती का स्वरूप कैसा है ? बोलोगे मीठा, कैसा मीठा ? खूब मीठा। अभी तो समझ में नहीं आया तो कैसे समझ में आए ? जिसको समझाना हो उसे खिला दो, उसकी समझ में आ जायेगा। वचनों से तो समझ में न आ पायेगा। बड़ा मीठा। अरे मीठा तो रसगुल्ला भी होता है। तो क्या रसगुल्ला जैसा ? अरे नहीं, उससे भी विलक्षण स्वाद है। बात तो इस तरह से पूरी समझ में नहीं आ सकती। तो फिर कहते हैं कि इमरती तो इमरती ही है। क्या बताया जाय, खाकर देखलो। आत्मस्वरूप

कैसा है ? उसको बताने का बहुत बहुत प्रयास किया। मामूली प्रयास तो यह है कि पर्यायमुखेन वर्णन किया। संसारी जीव 5 प्रकार के हैं–एकेन्द्रिय जीव, दो इन्द्रिय जीव, तीन इन्द्रिय जीव, चार इन्द्रिय जीव और पांचइन्द्रिय जीव। और और जीव समास बताया। फिर और अधिक प्रयास किया तो गुणों का वर्णन करने लगे, और अधिक प्रयास किया तो 1 स्वभाव का वर्णन करने लगे। अब इससे भी और अधिक वर्णन करें तो यों कहेंगे कि वह न कषाय सहित है, न कषाय रहित है। वह न वीतराग है, न सराग है। किन्तु वह तो ज्ञायकभाव मात्र है। ज्ञायक भाव मात्र ? अभी कुछ ज्यादा समझ में नहीं आया। तो भाई क्या बताएँ वह तो नाथ जैसा है सोई है अनुभव करके देख लो।

स्वभावसत्तामात्र आत्मस्वरूप—तो स्व स्वभाव की सत्तामात्र यह आत्मस्वरूप है, परम चैतन्य सामान्यस्वरूप है यह आत्मस्वभाव। 24 घण्टे में कुछ ध्यान तो लाओ। कहाँ तो उस परम चैतन्यस्वभावमात्र तरंग भी इसका स्वरूप नहीं है। हलन चलन रागद्वेष कुछ भी परिवर्तन इसका स्वरूप नहीं है और मानते फिर रहे हैं जड़ पदार्थों को भी अपनी चीज। कितना हम अपने हित के स्थान से दूर भागे जा रहे हैं ? इस पर दृष्टि न दी, संभाल न की तो बताओ इस ज्ञानस्वभाव के दर्शन का फिर मौका कहाँ आयेगा ? जो अवसर मिला है वहाँ तो चेतते नहीं है और जहाँ इतनी सब मलिनताएँ हैं, दुर्दशायें हैं वहाँ का उत्साह बनाया है। हमारे प्राचीन ज्ञानी संत आचार्यों ने आत्महित के लिए बना बनाया भोजन रख दिया है। अब कुछ सोचने की भी, दिमाग लगाने की भी कोई मेहनत नहीं करनी है। सीधी-सी बात है सामने। अब इतना भी न किया जाय तो फिर और क्या उत्तर दिया जाय यही कि फिर रुलते रहो संसार में।

कर्त्तृत्व के अभिमान का व्यर्थ गौरव—विषयसुख के लोभी जनों को धार्मिक आनन्द की भावना कहाँ जगती है ? उन्हें तो विषय सुख ही सुगम दिखा करते हैं और पा लेवें विषयसुख के साधन, तो मारे गर्व क ऐंठ के जमीन आसमान एक कर डालते हैं। जैसे सांड गाँव के आसपास के घूरे को सींग से उछालकर अपनी ही पीठ पर डाल लिया और यह देखकर कि मैंने कितना बड़ा जबरदस्त काम कर डाला है सो टांगे पसारकर पीठ को लम्बी करके पूंछ को हिलाकर गर्व से देखता है कि मैंने बहुत बहुत बड़ा काम कर डाला है। इसी प्रकार यह संसारी जीव कुछ वैभव पा ले या स्त्री पुरुषों को अपने अधिकार में पा ले या दीन हीन मित्रजनों को अपनी गोष्ठी में देखे तो उनमें अपनी करतूत कर अभिमान रखकर यह अपने स्वरूप को बिलकुल भूल जाता है। इसका फल क्या होगा ? केवल संसारभ्रमण। देखो अपने आत्मस्वरूप को। इसका अकृत्रिम स्वरूप है, बनावटी नहीं है।

बनावटी की अशोभनीयता—भैया ! बनावटी स्वरूप तो बड़े भद्दे लगते हैं। जैसे कोई पाउडर लगाकर, लाली लगाकर अपनी बनावटी सुन्दरता जाहिर करे तो देखने वाले तो उसे भद्दा और बेवकूफी के रूप में देखते हैं। पर न जाने कैसा मन है कि ऊँची एड़ी की जूती पहिनकर, राख से मुँह पोतकर बेचारी ऐंठ के साथ निकलती है ? विचित्र बात देखो कि किसी-किसी आदमी को भी यही शौक हो जाता है–इन बनावटी बातों से ये बिलकुल असुन्दर हो जाते हैं। बनावटी धर्म–मन में तो धार्मिक भावना नहीं है। धर्म क मर्म का पता नहीं है, किन्तु न जाने किन-किन ख्यालों से यह धर्म का अनुष्ठान किया जाता है, तो उन प्रकरणों में न करने वाले को शांति, न कराने वाले को शांति और प्राय: न देखने वाले को शांति। बनावट से परे है

यह आत्मतत्त्व और धर्मपालन, इस बात को नहीं भूलना। यह दिखावट, बनावट, सजावट से बिलकुल परे बात है।

आत्मतत्त्व की अकृत्रिमता—यह आत्मस्वरूप अकृत्रिम है, अविचल स्थिति करके सहित है। शुद्ध ज्ञानमात्र रहने रूप चारित्र संयुक्त है–ऐसा नित्य, शुद्ध, निरञ्जन, बोधस्वरूप आत्मतत्त्व का स्वरूपदर्शनमात्र यह कारणदर्शन है। जिसको दर्शन हो जाए तो समस्त पापवैरियों की सेना ध्वस्त हो जाती है–ऐसा यह कारणदर्शन है और स्वभावकार्यदर्शन केवल दर्शन है। दर्शनावरणीय आदिक घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाली दृष्टि स्वाभाविक कार्यदृष्टि है। यह प्रभु अरहंत में, सिद्धदेव में केवलज्ञान की तरह यह भी एक साथ लोकालोक में व्यापक है अर्थात् समस्त सत् का ज्ञान होना जैसे केवलज्ञान में था, इसी प्रकार समस्त सत् का दर्शन होना इस केवलदर्शन में है। इस क्षायिक जीव के, इस प्रभु-परमात्मा के जिसने कि समस्त निर्मल केवलज्ञान के द्वारा तीनों लोक को जान लिया है और अपने आत्मा से उत्पन्न हुए वीतराग आनन्दरूप सुधासागर में अवगाहन किया है और जैसा आत्मा का सहजस्वरूप है, उसी प्रकार जिसका स्वरूप व्यक्त हुआ है–ऐसा जिसका शुद्ध चारित्र है–ऐसे अरहंतप्रभु के, सिद्धदेव के यह केवलदर्शन एक साथ लोकालोक का दर्शक है।

केवलदर्शन और स्वभावदर्शन—केवलदर्शन व्यवहारनय का विषय है और दर्शनस्वभाव निश्चयनय का विषय है अर्थात् केवलदर्शन शुद्ध निश्चयनयरूप व्यवहार का विषय है और दर्शनस्वभाव परमशुद्धनिश्चयरूप निश्चय का विषय है। यहाँ क्या प्रकट हुआ ? केवलदर्शन। इसका आदि है, परन्तु परमशुद्ध निश्चयनय के विषय की आदि नहीं होती है। हाँ, केवलदर्शन अनिधन अवश्य है। कभी केवलदर्शन नहीं मिटेगा, लेकिन स्वरूप से देखो तो प्रतिसमय मिटता रहता है। प्रतिसमय जैसे नया-नया केवलज्ञान होता है, इसी प्रकार प्रतिसमय नया-नया केवलदर्शन होता है। हालांकि उस दर्शन में जो विषय है, वह एक समान है, रंच भी फर्क नहीं है, मगर परिणमन तो दूसरे समय का है। शक्ति तो बराबर नवीन-नवीन लग रही है।

प्रतिक्षण परिणमन का एक उदाहरण—जैसे कोई शीर्षासन लगता है और 5 मिनट तक लगाए तो देखने वालों को यों ही लगेगा कि क्या कर रहा है यह। 8 बजे यह औंधा खड़ा हुआ था सिर नीचे करके, 5 मिनट हो गए, अभी वही काम कर रहा है, मगर ऐसा नहीं है, प्रतिक्षण उसकी नवीन-नवीन शक्ति लग रही है। एक काम वह नहीं कर रहा है, प्रतिक्षण वह नवीन-नवीन प्रयत्न कर रहा है। देखने वालों का क्या है ? जो कर रहा है, वह जाने। जैसे देखने में वह एक समान कार्य होने से एक कार्य कहा जाता है, परन्तु वहाँ प्रतिक्षण नवीन-नवीन शक्ति द्वारा वह शीर्षासन से खड़ा है, इसी तरह विषयों की समानता के कारण केवलदर्शन सदा रहता है, अनन्त है, किन्तु वह चूँकि परिणमन है, प्रतिसमय नवीन-नवीन उसमें उत्पाद है और पूर्व-पूर्व दर्शनपर्याय का वहाँ विलय है। इस ही तरह से प्रतिसमय नवीन-नवीन केवलदर्शनरूप से ही यह परिणमता चला जाता है।

स्वभावदर्शन की महनीयता—यह शुद्ध अवस्था भव्यजनों के द्वारा वंदनीय है। शुद्धअवस्था हितकारी अवस्था है, इस कारण समस्त लोक के भव्यजीवों के द्वारा यह वन्दना के योग्य है। सो प्रभु के केवलज्ञान की तरह यह दर्शन की अवस्था भी एक साथ लोकालोक को व्यापने वाली है। इस तरह स्वभावदर्शनोपयोग कार्य

और कारण के रूप से दो प्रकार कहा गया है। यह दर्शनोपयोग में स्वभावदर्शनोपयोग की चर्चा है। यह दो प्रकार का है–कारणरूपस्वभावदर्शन और कार्यरूपस्वभावदर्शन। देखने की शक्ति का भी नाम दर्शन है और देखने का नाम भी दर्शन है। यों शक्ति, व्यक्ति के भेद से यह दो प्रकार का है।

आत्मा का शरण—विभावदर्शनोपयोग, जिसको कि अगले सूत्र में बतायेंगे वह तीन प्रकार का है–चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन। यहाँ शिक्षा लेनी है कि दर्शनज्ञानचारित्रात्मक एक चैतन्य सामान्यस्वरूप निजआत्मतत्त्व ही मुक्ति चाहने वालों का आलम्बनरूप है। किसी बच्चे को कोई मारने का डर दिखाये तो उसके लिये शरण उसकी माँ की गोद है। वह भागकर अपनी माँ की गोद में बैठ जायेगा, कुछ बड़ा होगा तो पिता के पास जाकर बैठ जायेगा, वहाँ शरण पायेगा। जरा और बड़ा हुआ तो जिसे अपना मित्र माना है, उसके पास अथवा अपनी स्त्री के पास जाकर बैठ जायेगा। जब और बड़ा हुआ तो सब तरफ से दु:ख ही दु:ख आने लगे, लड़के भी ठीक नहीं बोलते हैं, स्त्री भी विपरीत हो गई है, धन पर भी कितने ही लोगों ने छलबल से संकट डाल दिया है तथा और भी सम्मान अपमान आदि अनेक प्रकार के क्लेश हैं, जिनके मिटने का उपाय भी नजर नहीं आता तो किसी साधु के पास जाकर बैठ जायेगा, इसलिए कि कुछ धार्मिक ज्ञान की बातें मिलें तो संकट दूर हो जायेंगे। जिन्दगी भर तो लड़कों के लिये कमाया, सब कुछ कर डाला, परन्तु कोई सहायक नहीं होता है। अब कहाँ सहाय ढूँढे ? जो विकल्परूप क्लेश है, उसकी जहाँ शांति हो, वहाँ जाये।

आत्मा का परमशरण—अब शान्ति का अर्थी यह जीव बार-बार साधुजी के पास बैठता ह, मगर वे विकल्पसंकट हटते ही नहीं है। चोट तो लग गयी है बहुत, रह-रहकर ख्याल तो आता ही है। अब क्या करें ? अब और क्या उपाय रह गया करने को ? स्वाध्याय करें, तिस पर भी बात फिट नहीं बैठती। एक उपाय रह गया है, वे सब विकल्प छोड़ें। जिस का जो होता है, वह हो। केवल अपने ज्ञानज्यातिर्मयरत्नत्रयात्मक इस आत्मतथ्य को देखें, अन्त में शरण यही मिलेगा, इसी को परमार्थशरण कहते हैं। इस मार्ग के आलम्बन बिना मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि संकट तो सिर्फ विकल्पमात्र है। जैसे संकट छोड़ा तो इसका अर्थ है विकल्प को छोड़ा। अपने आत्मस्वरूप को छोड़कर अन्यत्र हित की आस्था न जगे तो यह मोक्षमार्ग प्राप्त हो सकता है। अब थोड़ी यहाँ आस्था की, थोड़ी वहाँ आस्था की तो इससे ठीक ठिकाना नहीं बन सकता। एक ही आस्था हो कि मेरा आत्मा अमूर्त है, ज्ञानमात्र है, स्वभावत: आनन्दमय है, इसमें कोई दोष नहीं है, यह तो केवल अपने स्वरूपमात्र है। झलकता है विभाव झलको, मेरी ओर से यह परिणमन नहीं है। जगत का जैसा रिवाज है, उसका निमित्तनैमित्तिक संबन्ध है, वैसा ही हो रहा है सब–ऐसा ज्ञानबल जहाँ जगता है और आत्मस्वभाव में आस्था बनती है, वहाँ संकटों से छूटने का मार्ग मिलता है।

गाथा 14

चक्खु अचक्खू अइओही तिण्णि वि भणिदं विहावदिट्ठ त्ति।
पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खोय णिरवेक्खो।14।।

विभावदर्शनोपयोग के भेद—इस गाथा में विभावदर्शनों को बताया जा रहा है। जैसे ज्ञानोपयोग स्वभाव और विभावज्ञान के भेद से दो प्रकार का है, इस प्रकार दर्शन भी स्वभावदर्शन और विभावदर्शन के भेद से दो प्रकार का है। जिसमें स्वभावदर्शन का तो वर्णन कल हो गया है। आज विभावदर्शन का वर्णन चलेगा। विभावदर्शन तीन होते हैं–चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन। इनमें सम्यक् और केवल का भेद नहीं है। चक्षुदर्शन चक्षुरिन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले ज्ञान से पहिले होने वाले दर्शन को कहते हैं। आँखों से जो देखते हैं उसका नाम दर्शन नहीं है, यह ज्ञान है। इस आँख के निमित्त से होने वाले ज्ञान से पहिले जो आत्मस्पर्श होता है उसे चक्षुदर्शन कहते हैं। दर्शन ज्ञानबल को उत्पन्न करने की तैयारी का नाम है। एक पदार्थ जान रहे थे, अब एक छोड़कर दूसरा पदार्थ जानने के लिए चले तो उस अन्य पदार्थ के जानने का बल आ जाय इसके लिए दर्शन हुआ करते हैं।

चक्षुदर्शन व अन्यक्षुर्दर्शन का स्वरूप—जैसे मतिज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से ज्ञान मूर्तिक वस्तु को जानता है इस ही प्रकार चक्षुर्दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से यह दर्शन मूर्तिक वस्तु को देखता है। वास्तव में दर्शन मूर्त वस्तु को नहीं देखता पर मूर्तिक वस्तु को जानने वाले आत्मा का जो दर्शन कर सकता है तो उसे भी मूर्त वस्तु का देखना कहा करते हैं। दूसरा दर्शन है अन्यदर्शन। लोग जल्दी-जल्दी में चक्षुर्दर्शन अन्यर्दर्शन बोला करते हैं, पर चक्षु शब्द में ष शब्द अन्त में पड़ा है सो शब्द चक्षुष् है। जिसके रूप चक्षुः, चक्ष, चक्षुषि चलते हैं। इसके रकार हो जाता है वह र् ऊपर लिख दिया जाता है। चक्षुरिन्द्रियजन्य ज्ञान से पहिले जो दर्शन होता है उसे चक्षुर्दर्शन कहते हैं। चक्षुरिन्द्रिय के अतिरिक्त बाकी इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है उस ज्ञान से पहिले होने वाले दर्शन को अचक्षुर्दर्शन कहते हैं। जैसे श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने के कारण श्रुत के द्वारा द्रव्यश्रुत में बताए गए मूर्तिक और अमूर्तिक समस्त वस्तुओं को यह ज्ञान परोक्षरूप से जानता है। इस ही प्रकार अचक्षुर्दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम के कारण इन 4 इन्द्रियों व मन के द्वार से उस योग्य विषय को अचक्षुरिन्द्रियदर्शन कहते हैं।

दर्शन की आत्माभिमुखता—दर्शन आत्माभिमुख चित्प्रकाश को कहा करते हैं। ज्ञानदर्शन मूर्त अमूर्त वस्तुओं को जाने और यों जानने वाले आत्मा को देखा दर्शन ने तो दर्शन से भी सब दिख गया, ऐसा कहा जा सकता है। यह ज्ञान की अधिक सूक्ष्म चर्चा हे। ज्ञान की बात जरा शीघ्र समझ में आ जाती है, इसका कारण यह है कि ज्ञान साकार होता है और दर्शन निराकार होता है। किसी मनुष्य पर जिसके बारे में कुछ भी विकल्प बना तो वह ज्ञान बन जाता है, दर्शन नहीं रह पाता, ऐसी सूक्ष्म विषय की बात है। होती सबमें है, पर अपनी बात अपने को कठिन लग रही है। चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन–ये दो दर्शन तो हम आप सब मनुष्यों के हैं पर इनका भान नहीं हो पाता।

अवधिदर्शन—तीसरा विभावदर्शन है अवधिदर्शन। अवधिज्ञान से पहिले होने वाले दर्शन को अवधिदर्शन कहते हैं। जैसे अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से शुद्ध पुद्गल पर्यन्त मूर्तद्रव्य को अवधिज्ञान जानता है इसी प्रकार अवधिदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से समस्त मूर्त पदार्थों को यह अवधिदर्शन देखता है। इस प्रकार ये तीन दर्शन विभाव दर्शन हैं।

विभावदर्शनों का विभावता के व्यपदेश का कारण—कर्मों के क्षयोपशम के निमित्त से ये उत्पन्न होते हैं। इस

कारण ये विभावदर्शन औपाधिक है और विभाव हैं, फिर भी दर्शन में खोटेपन का व्यवहार नहीं होता। जैसे कुमतिज्ञान था इसी तरह कुचक्षु ज्ञान हो जाय, ऐसा नहीं होता क्योंकि जिस प्रतिभास में विकल्प नहीं है, निराकार सत् सामान्य का प्रतिभास है उसमें क्या बुरा कहा जाय ? कोई आकार हो, विशेष ग्रहण हो तो वहाँ सम्यक् और कुत्सितपना माना जा सकता है। ये दर्शन छद्मस्थ जीवों के होते हैं। अचक्षुर्दर्शन स्पर्शनइन्द्रिय ज्ञानसम्बन्धी होता है और रसना, घ्राण, कर्ण और मन सम्बन्धी भी होते हैं। हाथ से किसी वस्तु के स्पर्श से ज्ञान होता है तो उस ज्ञान से पहिले जो आत्मस्पर्श होता है उसे कहते हैं स्पर्शनइन्द्रिय सम्बन्धी अचक्षुर्दर्शन इसी प्रकार रसना इन्द्रिय के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है उससे पहिले जो दर्शन होता है उसे रसनाइन्द्रिय सम्बन्धी अचक्षुर्दर्शन कहते हैं।

मतिज्ञान की निर्विकल्पता—भोजन किया तो तत्काल जो ज्ञान हुआ वह हुआ मतिज्ञान और जहाँ ऐसा ख्याल आया कि मैं अमुक चीज खा रहा हूँ, बड़ी मीठी है, ठीक बनी है, थोड़ी खराब आ गयी है, नमक कम हो गया है, ऐसा कुछ भी ज्ञान जगे तो वह श्रुतज्ञान है, मतिज्ञान नहीं है। मतिज्ञान निर्विकल्प होता है और श्रुतज्ञान सविकल्प होता है। 5 ज्ञानों में एक श्रुतज्ञान तो सविकल्प है और शेष चार ज्ञान निर्विकल्प है। आँखों से देखा नहीं कि जानने में आ गया तो हुआ मतिज्ञान और जहाँ यह जाना कि यह सफेद है, यह काला है, यह इतना बड़ा है, यह अमुक साधन से बना है, कुछ भी ज्ञान जगे वह हो जाता है श्रुतज्ञान। सफेद पीला जानने में आये, मगर सफेद पीले रूप में विकल्प न हो तब तक तो है मतिज्ञान और जहाँ सफेद पीला आदि विकल्प बना तो हो जाता है श्रुतज्ञान।

आत्माभिमुख मतिज्ञान की स्वानुभूति से निकटता—भैया ! अब आप समझ लीजिए कि मतिज्ञान कितना स्वच्छ ज्ञान है ? श्रुतज्ञान परमोपकारी है, पर स्वानुभव के लिए सीधा काम आने वाला मतिज्ञान है। स्वानुभव की निर्विकल्पता अवस्था से पहिले मतिज्ञान होता है क्योंकि निर्विकल्पज्ञान निर्विकल्प ज्ञानस्वरूप के स्वानुभव को करने में समर्थ हो सकता है। अब आप जान लीजिये कि मतिज्ञान का कितना बड़ा महत्व है ? जो सुनने बताने में ऐसा साधारण जंचता है।

मतिश्रुत की संसारी जीवों में व्यापकता—मतिज्ञान सब जीवों में है। श्रुतज्ञान यह भी सब संसारी जीवों के होता है। एकेन्द्रिय के भी श्रुतज्ञान है, पर उसके श्रुतज्ञान का हम क्या वर्णन करें ? हम मतिज्ञान की भी बात नहीं बता सकते हैं। हम आप सब मनुष्य हैं सो हमारे अनुभव की जो बात है वैसा ही आप सबके अनुभव में आता है इसलिए पता चलता है, पर इन पेड़ों को किस तरह से मतिज्ञान हो ? श्रुतज्ञान होता है यह उनमें ही घटित हो रहा है। चारों संज्ञायें तो पेड़ों में भी पायी जाती है और चारों मन्तव्यों का कैसा कर्त्ता काम हो रहा है। तो इनके भी श्रुतज्ञान है। बे इन्द्रिय तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय के भी मतिज्ञान और श्रुतज्ञान है। है कुमति और कुश्रुत, किन्तु दर्शन उनका वैसा ही विशुद्ध है, जैसा सबके हुआ करता है।

अध्यात्मक्षेत्र में दर्शन का महत्त्व—लोक में दर्शन का महत्त्व कम है, ज्ञान का महत्त्व ज्यादा है और यहाँ आत्महित के प्रसंग में ज्ञान से भी अधिक महत्त्व दर्शन का है कि दर्शन के विषय का तो ग्रहण कर ले अर्थात् यह मैं हूँ, इस प्रकार का अनुभव करले तो उसके मोक्षमार्ग प्रकट हो जाता है। अब आप देखिये कि दर्शन के समय सम्यग्दर्शन उत्पन्न करने की योग्यता नहीं बतायी है। जो साकारोपयोगी जीव हो उसके

सम्यक्त्व जगता है, किन्तु दर्शन के विषयभूत आत्मदर्शन के सम्बन्ध में वह साकारोपयोगी बनकर सम्यग्दृष्टि होता है। इस प्रकार उपयोग का व्याख्यान यहाँ समाप्त होता है। जीव के सम्बन्ध में जो उपयोग गुण की मुख्यता को लेकर स्वरूप चल रहा था, उसमें ज्ञान और दर्शन के सर्वभेद बतलाये गये हैं और उन सब भेदों की आधारभूत जो भी मूलदृष्टि है, वह ज्ञप्ति है और उस शक्ति को पहिले बता दिया गया है।

पर्याय का निरूपण—अब उपयोग की व्याख्या के अन्दर पर्याय का स्वरूप कहा जा रहा है। पर्याय का अर्थ है कि परि आय है। परि का अर्थ है सर्व ओर से और आय का अर्थ है भेद को प्राप्त करो। ''परि समंतात् भेदं एति गच्छति इति पर्याय:।'' जो भेद करने चले उसे पर्याय कहते हैं। अध्यात्मशास्त्र की सूक्ष्मदृष्टि में ज्ञानदर्शनादिक भेद बताना भी पर्याय कथन है, क्योंकि भेद किया, पर चूँकि वह सब शाश्वत है। अत: मध्यम अध्यात्मवर्णन में उसे पर्याय में सम्मिलित नहीं किया, किन्तु गुण में सम्मिलित किया। तिर्यक्रूप से भेद करने से तो गुण बता दिया गया और ऊर्ध्वरूप से भेद करने से पर्याय बताया। एक आत्मा है और उसमें तिर्यक्रूप में अर्थात् एक साथ फैसला हुआ कि यह ज्ञान है, यह दर्शन है, यह चारित्र है। यह तो हुआ गुणों का बताना, किन्तु समय भेद की दृष्टि में लेकर यह अमुक समय का परिणमन है, यह अमुक परिणमन है, इस प्रकार से समय भेद करके बताना पर्यायस्वरूप है। यद्यपि एक द्रव्य में एक साथ अनन्तपर्यायों का भी कथन है, क्योंकि जितने गुण होते हैं, उतने उसमें परिणमन भी है, लेकिन उस एक साथ अनन्तपरिणमनों को बताने के गर्भ में यह आशय पड़ा हुआ है कि यह सब समय-समय के परिणमन में परिणमने वाले हैं। तब तो इस तिर्यक्भद का नाम गुण हो गया और ऊर्ध्वभेद का नाम पर्याय हुआ।

तिर्यग्विशेष और ऊर्ध्वविशेष—जैसे एक साथ इतने मनुष्य बैठे हैं, इनमें बालक, बूढ़े और जवान सभी हैं, किन्तु एक साथ सबको देखा जा रहा है तो यह हुआ इसका तिर्यक्रूप से जानना। एक ही व्यक्ति के बारे में ऐसा ज्ञान करे कि यह बालक था, अब जवान है, अब बूढ़ा होगा, यदि इस तरह समयभेद लेकर उस एक व्यक्ति के बारे में ज्ञान किया तो वह पर्याय अथवा ऊर्ध्वपर्याय के रूप में ज्ञान कहलायेगा। ऊर्ध्व मायेन हैं ऊपर ही ऊपर और तिर्यक् मायने हैं एक समय में तिरछे ही तिरछे। जब कोई भी मनुष्य किसी की दशाओं का वर्णन करता है तो उसकी अंगुली ऊँचे-ऊँचे उठती है। खूब विचार करके देख लो कि यह आदमी पहिले बालक था, फिर जवान हुआ, अब धनपति बना, अब लखपति बना, अब करोड़पति होगा, बूढ़ा होगा, मर जायेगा–ऐसा वर्णन करते हुए अंगुली ऊपर उठ जायेगी। देख लो कि इस भारतवर्ष में ब्राह्मण भी रहते हैं, क्षत्रि भी रहते हैं, अमुक भी हैं, अमुक भी हैं–ऐसा वर्णन करने में अंगुली ऊपर-ऊपर न उठेगी, किन्तु बार-बार तिरछी-तिरछी गिरेगी। आत्मा में एक साथ पायी जाने वाली शक्ति को बताना तो तिर्यक्रूप से वर्णन है और आत्मा के संबंध की पर्याय को बताना है पर्यायरूप से वर्णन।

द्रव्य की गुणपर्यायात्मकता—द्रव्यगुण पर्यायात्मक होता है। केवल गुण मानकर रहे तो द्रव्य की सिद्धि नहीं है, केवल पर्याय मानकर चले तो द्रव्य की सिद्धि नहीं है। जैसे हाथ में 5 अंगुली हैं तो यदि पाँचों ही रह जायें तो कार्यसिद्धि अच्छी होती है और अगर उनमें से एक या दो अंगुलियाँ भी टूट जायें, मान लो कि यह बेकार अंगूठा ही टूट जाये तो देख लो फिर काम करना कैसे होता है ? जितने संगठन में ये

अंगुलियाँ काम करती हैं, बिखरी हुई दशा में नहीं करतीं।

समवायात्मकता में व्यवस्था पर एक दृष्टान्त—एक बार इन पाँचों अंगुलियों में लड़ाई हो गई। लड़ाई किस बात पर हुआ करती है ? हम बड़े, हम बड़े, हम बड़े मानने से। घर में देख लो, समाज में देख लो, किसी भी वर्ग में देख लो, इसी बात से लड़ाई झगड़े होते हैं। अब एक जज साहब के पास पाँचों अंगुलियाँ पहुँची। जज साहब ने कहा कि अच्छा अपने-अपने बयान लिखाओ। सबसे पहिले अंगूठा बयान देने के लिये खड़ा हुआ और बोला कि हम सबसे बड़े हैं, हमारी धाक विश्वभर में चलती है। जब किसी बूढ़े की पेंशन हो जाती है तो सरकार का केवल दस्तखत ले लेने से ही तो काम नहीं चलता है। सरकार उससे अंगूठा लगवा लेती है, चाहे वह कितना ही पढ़ा लिखा हो। ज्यादा साख बनानी हो तो अंगूठे की निशानी लेते हैं। अब अंगूठे ने कहा कि सारे विश्व में हमारी धाक जमती है, इसलिये हम बड़े हैं।

अब इस पहिली अंगुली से कहा कि तुम अपने बयान लिखाओ। तो उसने कहा कि महाराज सारे विश्व पर हमारी हुकूमत चलती है। अभी कोई किसी को आर्डर दे तो हमीं पहिले उठती है। तो महाराज हमीं तो बड़ी हैं। अब तीसरा अनामिका अंगुली से कहा कि तुम बयान लिखाओ। अभी बीच की अंगुली को छोड़ दिया। उस अंगुली ने कहा कि महाराज हम तो बड़े धार्मिक जीव हैं। यज्ञ में, हवन में, माला फेरने में तिलक लगाने में आगे-आगे चलती हैं। तो महाराज हम बड़ी हुई। अब इस छोटी बहिन छिंगुली से कहा कि तुम अपना बयान लिखाओ तो उस छिंगुली ने कहा महाराज हम तो सारे विश्व की रक्षा करती है, हमारी होड़ कौन लगा सकता है ? कोई लाठी मारता है तो सबसे पहिले मैं ही उसका प्रहार सहती हूँ। कोई लाठी मारेगा तो सबसे पहिले उसका प्रहार छिंगुली पर होगा। तो हम दूसरे की मुसीबत अपने ऊपर लेती हूँ और दूसरों की रक्षा करती हूँ। हमसे बड़ा कौन हो सकता है ? अब बीच वाली, अंगुली से कहा कि तुम भी अपना बयान दा। तो उसने कहा कि अरे हम क्या बयान दें, हमारा बड़प्पन तो इन पाँचों अंगुलियों में ही देख लो।

बहुत विचारकर जज ने कहा कि देखो गर्व मत करो, तुम पाँचों ही रहती हो इसलिए पाँचों ही बड़ी हो, अगर इनमें से एक भी न रहे तो समझो कि सारा हाथ बेकार है। कोई उत्सुकता से तुम्हारी ओर झांकेगा भी नहीं। तो जैसे पाँचों अंगुलियों के संगठन में कार्यकारिता सिद्ध है। वैसे ही समझलो कि समस्त शक्तियाँ और समस्त पर्यायों का समूह में हमारा वस्तुज्ञान व्यवस्थित होता है।

पर्यायविवरण—अब पर्याय का स्वरूप कहा जायेगा। पर्यायें यों ही असत् पदार्थों की निराधार नहीं हो जाया करती हैं किन्तु किसी शक्ति का परिणमन है। भले ही इससे शक्ति को न विशद जान सकें किन्तु मुक्ति बतलाती है कि शक्ति न हो तो परिणति किसकी कहलाए ? जैसे आमफल में पहिले कौन-सा रंग आता है ? सबसे पहिले जब हल्का आम फूल के साथ लगा होता है उस समय उसका रंग काला होता है, फिर होता है नीला, फिर होता है हरा, फिर होता है पीला, फिर लाल हो जाता है और जब सड़ जाता है तो उस पर सफेदी आ जाती है। आम इतने रूप बदलता है, उन प्रसंगों में काला नीला हुआ तो रूप में व्यक्ति तो बदल गयी किन्तु रूपशक्ति नहीं बदली। जिस रूप शक्ति का प्रकटरूप कालापन था अब उस ही रूप शक्ति का प्रकट रूप नीलापन हो गया। तो रूपशक्ति और रूपव्यक्ति–ये दो होती हैं, लेकिन रूपव्यक्ति

से तो लोग परिचित होते हैं पर रूपशक्ति का भान नहीं होता है, शक्ति के परिज्ञान में विशेष प्रतिभा की आवश्यकता होती है, और यों तो पर्यायों को भी लोग जानते तो हैं पर पर्यायरूप से जान जायें इसमें भी प्रतिभा की आवश्यकता होती है। मोही अज्ञानी जीव पर्याय को ही तो जान रहे हैं किन्तु उन्हें पर्यायरूप से नहीं जान रहे हैं, यही वस्तुसर्वस्व है ऐसा जान रहे हैं।

सूक्ष्मदृष्टि और स्थूलदृष्टि से पर्यायों का सूक्ष्म और स्थूल दर्शन—पर्याय में भी सूक्ष्मदृष्टि से परिणमन देखना और स्थूल दृष्टि से परिणमन देखना–ये दो पहिचान ज्ञात होती है। जैसे यह बल्ब जल रहा है तो इसमें सूक्ष्म परिणमन एक-एक सेकेण्ड में सैकड़ों बार हो जाता है पर उसका पता नहीं चलता है। जब एकदम मद्दा हो जाय, एकदम तेज हो जाय या बुझ जाय फिर जल जाय तो ज्ञात होता है कि इसमें तो नाना अवस्थाएँ बन रही है। इसी तरह इस द्रव्य में और प्रसंग प्राप्त इस आत्मा में सूक्ष्मदृष्टि से परिणमन हो रहा है और स्थूलदृष्टि से लक्ष्य में आने वाला भी परिणमन हो रहा है। इसमें सूक्ष्मदृष्टि से कहे जा सकने वाले परिणमन का नाम स्वभावपर्याय है और स्थूल परिचय में आने वाले परिणमन का नाम विभावपर्याय है। इनमें से स्वभावपर्याय की बात अब कही जायेगी जो कि समस्तपदार्थों में निरंतर पाया जाता है। यहाँ शुद्ध पर्याय का मतलब निर्दोष द्रव्य की पर्याय से नहीं है किन्तु उसका द्रव्यत्व गुण के कारण प्रतिसमय निरन्तर होने वाली पर्याय से प्रयोजन है। उस स्वभावपर्याय का वर्णन अब आगे बताया जायेगा।

अर्थपर्यायरूप स्वभावपर्याय—जीव के गुणों का वर्णन करके अब पर्यायों का वर्णन किया जा रहा है। पर्यायें स्वभावपर्याय और अशुद्धपर्याय यों दो प्रकार की कही गयी हैं। स्वभावपर्याय में द्रव्यत्व गुण के कारण जो अपने आपमें षड्गुणभाग वृद्धि हानि को लिए हुए परिणमन होता है उसे सम्मिलित किया है। यह स्वभावपर्याय छहों द्रव्यों में साधारणरूप है इसका नाम है अर्थपर्याय। यह अर्थपर्याय न तो मानसिक विकल्पों से जाना जा सकता है और न वचनों से जाना जा सकता है। अत्यन्त सूक्ष्म है, आगम की प्रमाणता से वह जानने में आता है। 6 प्रकार की हानि वृद्धि के विकल्प है। जैसे पूरे पावर से जलते हुए लट्टू में भी सूक्ष्मता से हानि वृद्धियाँ चल रही है। देखने में ऐसा लगता है कि यह प्रकाश तो वैसा का ही वैसा है पर यदि उसमें हानि वृद्धियाँ न चलती होती तो परिणमन नहीं हो सकता। प्रति समय उस प्रकाश का रहना एक अनन्त वृद्धि हानि परिवर्तन को लिए हुए है।

स्वभावपरिणमन—जैसे केवल ज्ञानादिक में अनन्तगुण वृद्धि आदिक परिणमन हो रहे हैं और फिर भी कहीं उन हानियों के फल में यह नहीं हो जाता कि केवलज्ञान पहिले जितना जानना था उससे कभी कम जानने लगे। उतना का ही उतना जानता है फिर भी केवलज्ञानपरिणमन में भी अनन्तगुण वृद्धि और अनन्तगुण हानि रूप परिस्थितियाँ होती है। ये वस्तु के सत्त्व के कारण ऐसी अपने आप होती है। आपका यह जो शरीर दिख रहा है, जैसा कल दिखता था वैसा ही आज दिख रहा है, कोई फर्क नहीं नजर आ रहा है, लेकिन इस शरीर में भी अनन्तगुण हानियाँ हो गयी हैं, अनन्तगुण वृद्धियाँ हो गयी हैं और उनका कुछ मालूम नहीं पड़ता।

प्रतिक्षण परिणमन—जैसे कल बालक जितना ऊँचा था कल की अपेक्षा आज उस बालक में कुछ लम्बाई बढ़ी या नहीं ? दिखता तो ज्यों का त्यों है। पर यदि आज लम्बापन नहीं बढ़ा तो ऐसे-ऐसे बहुत से आज

निकल जायें तो लम्बाई ही न बढ़े। फिर वह कभी बड़ा ही नहीं हो सकता है। परन्तु जिसने एक साल पहिले देखा हो उसकी दृष्टि में तो साफ नजर आता है कि बड़ा हो गया है। तो जैसे 1 वर्ष बाद बच्चे को देखने पर मालूम होता है कि यह 8 अंगुल लम्बा हो गया है तो क्या वह 11 महीने 29 दिन 23 घण्टा और 59 मिनट में कुछ भी नहीं बड़ा हुआ ? क्या वह एक मिनट में ही 8 अंगुल बढ़ गया ? ऐसा नहीं है। तो क्या हर महीने पौन-पौन अंगुल बढ़ा ? ऐसा भी नहीं है कि वह 29 दिन 23 घंटा और 59 मिनट न बढ़ा हो और आखिरी 1 मिनट में ही पौन अंगुल बढ़ गयी हो, ऐसा भी नहीं है, किन्तु रोज रोज प्रति मिनट प्रति सेकण्ड वह बालक बढ़ रहा है। मालूम पड़ता है साल भर बाद। तो ऐसा भी वस्तु का सूक्ष्म परिणमन होता है जो हमारे मन की पकड़ में नहीं आ सकता है। और फिर भी होना वहाँ आवश्यक है।

आधार के आधार पर आधारित विभाव द्वारा आधार का तिरोभाव—यह अर्थ पर्यायरूप परिणमन जो कि प्रत्येक पदार्थ में अपने ही चक्र के कारण हो रहा है वह स्वभावपर्याय कहलाता है। इस स्वभावपर्याय के साथ-साथ विभाव बन रहा है तो विभावपर्याय भी लिपट गयी। इस स्थिति में स्वभावपर्याय गौण हो गयी और विभावपर्याय दृष्टा हो गयी। यहाँ स्वभावपर्याय जो कह रहे हैं उसका अर्थ निर्दोष शुद्ध पर्याय से नहीं है किन्तु वस्तु में वस्तुत्व के कारण जो षड्गुणहानिवृद्धि रूप परिणमन चलता है उस परिणमने से प्रयोजन है। जैसे कालद्रव्य अपने षड्गुणहानिवृद्धि से निरन्तर परिणम रहा है, धर्म, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य षड्गुणहानिवृद्धि से निरन्तर परिणम रहे हैं, आकाश अमूर्त होने पर भी कुछ कुछ ख्याल आता है, वह आकाश निरन्तर परिणम रहा है, और यों नहीं परिणम रहा है, प्रति समय अनन्तगुणवृद्धि अनन्तगुणहानि इतने बड़े-बड़े फर्क के साथ परिणम रहा है, लेकिन वहाँ जरा भी फर्क नहीं मालूम होता है। तो ऐसे ही सत्त्व के नाते हम आप जीवों में निरन्तर यह विस्तार परिणमन चल रहा है। यही है स्वभावपर्याय।

प्रगतिशील परिणमन और स्थिरता का समन्वय—इसके अनन्त भाग वृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि, असंख्यातगुण वृद्धि और अनन्तगुण वृद्धि इतने तो बढ़ जाते हैं और अनन्तभाग हानि, असंख्यातभाग हानि, संख्यातभाग हानि, संख्यातगुण हानि, असंख्यातगुण हानि और अनन्तगुण हानि इतने अधिक घट जाते हैं और फिर भी परिवर्तन मालूम नहीं होता है। यह वस्तुत्व के नाते से परिणमन की बात चल रही है। आपको दिखता होगा कि यह बल्ब कितनी स्थिरता से एकरूप जल रहा है, कुछ मालूम पड़ता है कि इसमें कभी प्रकाश घट गया और कभी प्रकाश बढ़ गया ऐसा यहाँ कुछ मालम पड़ रहा है क्या ? नहीं मालूम पड़ रहा है। कोई पावर में ही कमी आ जाय, बिगड़ जाय तो मालूम पड़ने लगेगा। इस समय तो ऐसा एकरूप से जल रहा है, जरा भी प्रकाश में कमी होती नजर नहीं आ रही है और न कुछ अधिक होता नजर आ रहा है ऐसा लग रहा नहीं, फिर भी यह इतना ज्यादा बढ़ जाता है प्रकाश कि जिसको अनन्तगुण वृद्धि तक कहा जाय, अनन्तगुणा बढ़ गया है प्रकाश और अनन्तगुणा घट गया है प्रकाश, इतना बढ़ाव और घटाव हो गया है, और हमें ऐसा लगता है कि ज्यों का त्यों बना हुआ है। मालूम पड़ने की बात यह है कि बहुत ही घटे तब मालूम पड़ता है। तो जितने घटने पर आपको मालूम पड़ा कि प्रकाश घटा उससे आधा भी तो घटा होगा उससे हजारवां हिस्सा भी घटा होगा, उससे लाखवां हिस्सा भी तो घटा होगा। पर सबको अपने का परिचय नहीं होता। कभी एकदम प्रकाश बढ़ गया यह

आपकी समझ में आया तो कभी उससे आधा भी तो बढ़ता होगा, हजारवां, लाखवां, करोड़वां हिस्सा भी तो बढ़ता होगा, पर उनका परिचय नहीं होता।

अस्तित्व और परिणमन का अनिवार्य सम्बन्ध—यह वस्तु के स्वभाव परिणमन की बात चल रही है। वस्तु है तो स्वभावत: परिणमनशील है और इतने लम्बे हानि वृद्धि से निरन्तर परिणमता रहता है। तो यह परिणमन तो मूल में प्रत्येक द्रव्य में चल रहा है जिसका आधार पाकर अशुद्ध उपादान हुआ तो विभावपरिणमन भी उसमें फिट बैठ जाता है। जैसे एक चक्र शुद्ध जिसमें और कुछ चीज नहीं लिपटी, बिजली का करण्ट सा एकदम चल रहा है तेज, वह उस चक्र का शुद्ध भ्रमण हो रहा है और रुई के छोटे-छोटे हिस्से कण उड़कर उस चक्र में लग जाये तो उस मूल में घूमते हुए चक्र के आधार में वे रुई के सारे कण भी उसी तरह भ्रमण करेंगे, इसी तरह प्रत्येक पदार्थ अपने सत्त्व के नाते से अपने आपमें षड्गुणवृद्धि हानिरूप से निरन्तर परिणमते हैं। वहाँ विभावपरिणमन होता है तो भी उस परिणमन में आ जाता है। विभावपरिणमन का आधार तो वह मूल परिणमन है। यद्यपि दृष्टान्त में दिए गए चक्र और रुई के पिण्डों के भ्रमण जैसी वहाँ दो बातें अलग नहीं हो पातीं, फिर भी स्वरूपदृष्टि से वे दो बातें अलग मालूम होती है। ज्ञानदृष्टि इतनी तीक्ष्ण होती है कि एक ही आत्मा के स्वभाव को ज्ञान दर्शन आदि गुणों में विभक्त करके और परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बता दे, ऐसी-ऐसी ज्ञानदृष्टियों का जौहर होता है।

षड्गुणहानिवृद्धिरूप शुद्ध परिणमन—यह षड्गुणहानिवृद्धिरूप शुद्ध परिणमन प्रत्येक पदार्थ में निरन्तर पाया जाता है, किन्तु जो विभाव परिणत है वहाँ उस आधार में अपने आपको ऐसा जमाये हुए होता है कि कहीं वहाँ भिन्न-भिन्न रूप से दो परिणमन नहीं हो गये किन्तु आधारआधेयपन ज्ञानदृष्टि से समझ में आता है। जैसे समुद्र होता है तो 20 हाथ नीचे समुद्र में और तरह का परिणमन है समुद्र के ऊपर और तरह का परिणमन है, ऐसा यहाँ नहीं लगाना है कि इस जीव में भीतर में तो यह स्वभाव परिणमन चल रहा है और ऊपर से विभावपरिणमन चल रहा है। स्वरूपदृष्टि से षड्गुणहानिवृद्धि शुद्ध परिणमन द्रव्य के अन्दर पड़ा रहता है, पर वही परिणमन विभावपरिणमन रूप से विभावपरिणमन वाले में उदित होता है। हो उदित, फिर हम विभावपरिणमन को न तकें और मूलपरिणमन षड्गुणहानिवृद्धि परिणमन से देखें तो क्या जान नहीं सकते ? जानते हैं, ऐसा वस्तु का यह स्वभावपरिणमन है।

व्यञ्जनपर्यायें—अब अशुद्ध पर्याय पर दृष्टि दें। जीव के नर, नारक, तिर्यंच और देव पर्याय–ये विभाव व्यंजनपर्याय हैं और ये अशुद्ध पर्यायें हैं। अशुद्ध पर्याय के मायने कई द्रव्यों के सम्बन्ध में हुई पर्याय, शुद्ध पर्याय के मायने एक ही द्रव्य का परिणमन। शुद्ध और अशुद्ध का अध्यात्म ग्रन्थों में प्राय: यह ही अर्थ चलता है–केवल एक द्रव्य के परिणमन का नाम शुद्ध परिणमन है और अनेक द्रव्यों के सम्बन्ध से होने वाले परिणमनों का नाम अशुद्ध परिणमन है। द्रव्यकर्म और विभावपरिणत जीव तथा शरीररूप बने हुए नोकर्म इनका संबन्ध है और जो परिणमन बना, वह है अशुद्ध परिणमन। इस ही का नाम है शुद्ध व्यञ्जनपर्याय। इस तरह जीव पदार्थ के संबन्ध में गुण का भी वर्णन किया गया है और गुणपरिणमनों का भी वर्णन किया गया है तथा यहाँ द्रव्यपर्यायों का भी संकेत दिया गया है।

शुद्धआत्मतत्त्व के भजन का परिणाम—इन समस्त परभावों के होने पर भी जो भव्यआत्मा एक शुद्ध आत्मा

को ही भजता है, सेता है, वह पुरुष उत्कृष्ट लक्ष्मी का स्वामी होता है। उत्कृष्ट लक्ष्मी क्या है ? मोक्षलक्ष्मी, जिस से उत्कृष्ट और कुछ न हो, जिसमें कभी आकुलता ही नहीं है, शुद्ध और स्वच्छ विकास है, उसे कहते हैं उत्कृष्ट लक्ष्मी। यहाँ की मानी गयी लक्ष्मी तो रुपया, पैसा, सोना, चाँदी आदि ये सब वैभव हैं। कोई लक्ष्मी नाम की चार हाथ वाली और हाथियों की सूंड से उसके सिर पर माला गिरायी जा रही हो–ऐसी कोई लक्ष्मी नहीं है। अगर ऐसी कोई लक्ष्मी होवे तो दुकान धन्धा सब कुछ छोड़कर उसी लक्ष्मी को ढूँढने में लग जाओ, सब काम छोड़ दो। वह कहीं मिल जाये और आपको अपना ले, फिर तो आप बहुत ही मालोमाल हो जायेंगे, पर लक्ष्मी तो है ही नहीं। इसी वैभव का नाम लोक में लक्ष्मी रखा है।

लक्ष्मीपति और लक्ष्मीपुत्र—भैया ! कोई कहलाता है लक्ष्मीपति और कोई कहलाता है लक्ष्मीपुत्र। इन्हीं दो शब्दों से बोलते हैं–लक्ष्मीपति और लक्ष्मीपुत्र। लक्ष्मीपति वह कहलाता है जो लक्ष्मी को खर्च करे, दान करे, भोग करे, उसका नाम है लक्ष्मीपति और लक्ष्मीपुत्र उसका नाम है कि जैसे पुत्र माता के चरण छूवे, हाथ जोड़े, पूजा करे, माँ को भोग न सके, स्पर्श न कर सके। इसी तरह लक्ष्मीपुत्र, जिसका यह पुत्र है, उस लक्ष्मी माँ को, धन-पैसे को पूजे, उसके चरण छूवे, उसकी सेवा करे, उसकी आराधना करे, उसको हृदय में स्थान दे, पर एक भी पैसा न खर्च कर सके, उसका नाम है लक्ष्मीपुत्र। वह तो लक्ष्मी का पुत्र है, उस लक्ष्मी का कैसे भोग करे, पुत्र होकर माँ के साथ अन्याय करे, यह कैसे हो सकता है ? यही सब व्यवहार में लक्ष्मी कहे जाते हैं।

परमश्री—वस्तुत: लक्ष्मी तो आत्मा की ज्ञानलक्ष्मी है। उस ज्ञानलक्ष्मी का वही पति होता है, जो परभावों के होते रहने पर भी शुद्ध षड्गुणहानिवृद्धि पर्यायपरिणत एकस्वभावमात्र आत्मतत्त्व को निरखता है, जो आत्मतत्त्व सहजगुण का पिण्ड रूप है, पूर्ण ज्ञानस्वभावमय है उसको जो पुरुष शुद्ध दृष्टि बनाकर भजता है, सेवता है, वह पुरुष संसार के समस्त संकटों से मुक्त हो जाता है। यहाँ बहुत कुछ वर्णन किया गया है। आत्मा के गुण, आत्मा की पर्यायें, अशुद्ध पर्यायें ये सब बतायी गयी है। पर जिस पुरुष के चित्त में केवल कारणसमयसार ही विराजमान रहता है वह शीघ्र समयसार को प्राप्त होता है। जिसकी जहाँ तीव्र रुचि होती है उसका मन वहाँ ही लगा रहता है, चाहे बीच में नाना और प्रसंग आ जायें और उनमें भी कुछ पड़ना पड़े तो भी अपनी मूलरुचि उसकी ही ओर आकर्षित रहती है तो ज्ञानी जीव के भी विभावपरिणमन चल रहे हैं। तिस पर भी चूँकि उसकी रुचि कारणासमयसार की है अत: उसकी प्रतीति में एक कारणपरमात्मतत्त्व विराजमान रहता है। यह कार्यसमयसार वह जो अपने आपमें उठता है, अपने आपमें सुगमतया सहजदृष्टि से उत्पन्न होता है उसको जो भजते हैं और इस कारणपरमात्मतत्त्व को भजते हैं वे संसार के संकटों से मुक्त हो जाते हैं।

आत्मतत्त्व—यह आत्मतत्त्व कैसा है कि इसमें कभी तो शुद्धगुण दृष्ट होते हैं और कभी अशुद्ध गुण दृष्ट होते हैं, कहीं सहज पर्यायों से विलयमान होता है कहीं अशुद्धपर्यायों से वह मुक्त होता है। यह जीव एक दृष्टि से तो सनाथ दिख रहा है और एक दृष्टि से अनाथ दिख रहा है। जिसको अपने आपके सहजस्वरूप का परिचय नहीं है वह तो अनाथ है और जिसे परिचय है वह सनाथ है। ऐसे विचित्र जौहर वाले इस कारणपरमात्मतत्त्व को, चैतन्यस्वभावात्मक आत्मतत्त्व को मैं नमस्कार करता हूँ, भावना करता हूँ और उस

रूप में मैं उतारता हूँ, ऐसी दृढ़ भावना के साथ ज्ञानी पुरुष का ध्यान इस कारणपरमात्मतत्त्व की ओर आकर्षित रहता है, जिसके फल में उसे समस्त अभीष्टों की सिद्धि हो जाती है। इस प्रकरण से केवल यह शिक्षा ग्रहण करनी है कि हमको सहजस्वरूप की दृष्टि प्राप्त हो और उसमें ही हमारा निरन्तर रमण हो, अन्य कुछ हमको आवश्यक नहीं है।

गाथा 15

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विहावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधिविवज्जियपज्जायां ते सहावमिदि भणिदा।।15।।

व्यञ्जनपर्याय—जीवतत्त्व के परिज्ञान के सम्बन्ध में स्वभाव और गुण पर्यायों की मुख्यता से वर्णन किया है। अब द्रव्यपर्याय की दृष्टि से कुछ वर्णन किया जाता है। गुणों का वर्णन आंतरिक निरूपण है और द्रव्यपर्यायों का वर्णन बहिरङ्ग निरूपण है। पदार्थ का लक्षण स्वभाव से जाना जाता है और वह स्वभाव प्रदेशरूप होता है। उन समस्त गुणों का जो एक आधार में पिण्ड बना हुआ है वही तो प्रदेशात्मक चीज है और जब वस्तु प्रदेशात्मक होती है तो उसकी प्रदेशपर्याय भी होगी अथवा प्रदेशवत्त्वगुण के विकार का नाम व्यञ्जनपर्याय है अथवा द्रव्यपर्याय है।

स्वभावपर्याय और विभावपर्याय—जीव में द्रव्यपर्याय की मुख्यता से वर्णन किया जा रहा है यहाँ। द्रव्यपर्याय दो प्रकार के हैं–स्वभावद्रव्यपर्याय आर विभावद्रव्यपर्याय। नर, नारक, तिर्यञ्च, देव–ये पर्यायें विभावपर्याय हैं। ये द्रव्य के या प्रदेशत्वगुण के विभावरूप पर्यायें हैं और कर्मोपाधि से रहित पर्यायें स्वभावपर्याय कहलाती हैं। इन स्वभावपर्याय और विभावपर्यायों में स्वभावपर्याय दो प्रकार से देखना चाहिए, एक कारण शुद्धपर्याय दूसरा कार्य शुद्धपर्याय। परमपरिणामिक भाव तो कारण शुद्ध पर्याय है और सिद्ध भगवान् की अवस्था प्रभु की सिद्ध अवस्था में जो आकार होता है वह कार्यशुद्ध व्यञ्जन पर्याय है। पारिणामिक भाव भी एक भेदरूप है और द्रव्यपर्यायात्मकता से सम्बन्ध रखने वाला है, इसलिए उस पर्याय को लिए हुए है किन्तु वह कारणशुद्धपर्याय है अर्थात् उस पारिणामिक भाव का आधार करके सर्वपर्यायें प्रकट हुई है और है वह पारिणामिक भाव भेदरूप। इस कारण इसे कारणशुद्धपर्याय कहा है।

पारिणामिक शब्द का अर्थ—परिणम: प्रयोजनं यस्य स: पारिणामिक:। जिसका परिणमन प्रयोजन हो उसे पारिणामिक कहते हैं। पारिणामिक शब्द का सीधा अर्थ ध्रुवभाव स्थिर भाव नहीं है वह तो फलितार्थ है। पारिणामिक भाव का सीधा अर्थ है–जिसका परिणमन प्रयोजन हो उसे पारिणामिक कहते हैं। अर्थात् जिसका आधार करके प्रति समय निरन्तर परिणमन होता रहता है, परिणमन ही जिसका प्रयोजन है, पारिणामिक शब्द पर्याय को ओझल करके नहीं बना है, इसलिए पारिणामिकभाव पर्यायरूप भाव है किन्तु वह द्रव्य का मौलिक शुद्धभाव है। इस कारण उसे शुद्धपर्याय कहते हैं और वह समस्त पर्यायों का कारणभूत है। इस कारण उसे कारणशुद्ध पर्याय कहते हैं।

कारणशुद्ध पर्याय—सहज शुद्ध निश्चय के द्वारा अनादि अनन्त अमूर्तिक अतीन्द्रिय स्वभाव शुद्धसहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र और सहज परमवीतराग आनन्द–इन चतुष्टयात्मक जो आत्मा का शुद्धअंतस्तत्त्व है,

स्वरूप है वही हुआ स्वभाव अनन्तचतुष्टय। उस स्वभाव अनन्तचतुष्टय स्वरूप के साथ लगी हुई जो पारिणामिक भाव की परिणति है उसको कारण शुद्धपर्याय कहा है। यहाँ द्रव्यपर्याय के कथन में बड़ी सूक्ष्मदृष्टि से शुद्धपर्यायों का मंतव्य बनता है उसके स्वभाव को छुवे बिना वह नहीं बनता, इसी कारण शुद्धपर्याय के वर्णन में भले ही द्रव्यपर्याय की मुख्यता से बोला जाये, फिर भी स्वभाव को स्पर्श करके शुद्धपर्याय का अवगम होता है। जैसे पूछें कि सिद्ध भगवान् के व्यञ्जन पर्याय क्यों कहा है ? तो सिद्धभगवान् के जहाँ न शरीर है, न कर्म है, न अन्य कोई परभाव है, केवल एक आत्मा का ही आकार है, जानने तो चलेंगे आकार को, पर उसे जानते हुए स्वभाव और गुण के परिचय में ही जाना पड़ेगा। यह पारिणामिक भाव की परिणति है कारण शुद्धपर्याय।

कार्य शुद्धपर्याय—कार्य शुद्धपर्याय आदि सहित है, किन्तु अन्तरहित है। विभाव के बाद जो शुद्धपर्याय होती है, वह किसी समय से ही तो होती है, परन्तु जीव की पर्याय एक बार शुद्ध हो जाये तो अनन्तकाल तक फिर अशुद्ध न बनेगी। जो गत चतुर्थकाल में मुक्त हुए हैं, वे भी पूर्वकाल में संसारी थे। उन्होंने भ्रमण किया और उनके आदि में निगोद अवस्था थी और जो अभी से 10-20 कल्पकाल पहिले भी चौथे काल में मुक्त हुए, उनके भी पहिले संसारीपर्याय थी और पहिले निगोद अवस्था थी। जो बहुत ही पहिले जहाँ तक दृष्टि जाये, अनन्तकाल पहिले जो भी मुक्त हुए हैं, उनके भी संसारीपर्याय तो थी ही और उनके भी मूल में यह निगोद अवस्था थी।

मुक्ति की अनादिता—यह मुक्ति कबसे चली आ रही है ? अनादि काल से। इसका कहीं आदि है क्या कि कबसे जीव को मोक्ष होता चला आ रहा है ? यदि इसका आदि बन जाये कि इस समय से जीव को मुक्ति होना प्रारम्भ हुआ तो फिर संसार की भी आदि रखनी पड़ेगी कि लो इससे कुछ अधिक 8 वर्ष पहिले संसार बना था, क्योंकि मोक्ष का जो समय हुआ, उससे पहिले 8 वर्ष तो जीव संसार में ही रहा है तो मुक्ति की आदि मानने पर सत्पदार्थों में आदि माननी पड़ेगी। इसलिये मुक्ति अनादि से है और संसार भी अनादि से है, फिर भी मुक्ति से संसार 8 साल बड़ा है। इतने पर भी न मुक्ति की आदि है और न संसार की आदि है। कितना अद्भूत स्वरूप है।

कार्य शुद्धपर्याय की विशेषता—जो भी मुक्त हुआ है, वह पहिले अशुद्ध अवस्था में था, तत्पश्चात् शुद्धअवस्था में आया और उसका आदि हुआ, पर अन्त नहीं है। यह प्रसंग चल रहा है कार्य शुद्धपर्याय का। जो जीव सर्वप्रकार निर्दोष हो गये हैं, उच्च बन गए हैं, उनकी क्या विशेषता है, यह बतायी जा रही है। वह शुद्धपर्याय तो आदि सहित है व अन्तरहित है, अमूर्त है, अतीन्द्रियस्वभावी है, शुद्धसद्भूत व्यवहारनय का विषय है। शुद्ध है, सद्भूत है किन्तु पर्यायकथन है, उस शुद्ध सद्भूत व्यवहार से यह अनन्त चतुष्टयात्मक है। जहाँ केवलज्ञान केवलदर्शन अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति प्रकट हुई है ऐसी परमउत्कृष्ट क्षायकभाव की जो शुद्धपरिणति है उसे कहते हैं कार्यशुद्धपर्याय।

केवलज्ञान की क्षायिकता और प्रवर्तमानता—क्षायिकता क्षय के काल में होती है। प्रभु के जब केवलज्ञान हुआ था, वह प्रथम समय में केवलज्ञान कर्म के क्षय का निमित्त पाकर हुआ था। उसके बाद अब सदाकाल केवलज्ञान केवलज्ञान चल रहा है तो वह आत्मा के स्वभाव से हो रहा है या क्षय से हो रहा है

? आत्मा के स्वभाव से हो रहा है। जैसे धर्म अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य आदि शुद्ध द्रव्यों का परिणमन उनके स्वभाव से चल रहा है। इसी तरह परमात्मा का केवलज्ञानादिक परिणमन स्वभाव से चल रहा है। हाँ जो प्रारम्भ का समय था उस समय यह क्षायकभाव कहलाता था, सो अब तक भी उन केवलज्ञानादिक भावों को क्षायक कहना यह उपचार कथन है। क्योंकि प्रारम्भ समय में यह केवलज्ञानादिक कर्मों के क्षय का निमित्त पाकर हुआ था। इस कारण वह तब क्षायिक भाव कहलाया था और उनका स्मरण अब तक बना हुआ है कि आखिर होता तो कर्मों के क्षय के निमित्त से ही ना, इसलिए क्षायिकभाव का व्यपदेश हुआ करता है।

निमित्तक्षयकाल में क्षायिकता—वस्तुस्थिति ऐसी है कि कर्मों के क्षय का समय एक है, क्षय माने वियोग। वियोग कहते हैं अंतिम संयोग को। संयोग के व्यय के प्रथम समय का नाम वियोग है फिर तो रहितपना है। वियोग नहीं कहलाता। जैसे कोई आदमी आप को स्टेशन पहुँचाने गया और आप आगे चले गए तो आपसे पूछा जाय कि तुम्हारे मित्र का वियोग कहाँ हुआ था ? तो आप क्या उत्तर देंगे ? कहाँ हुआ था ? स्टेशन पर। अरे स्टेशन पर तो संयोग था। तो संयोग के अंतिमसमय को, संयोग के व्यय के काल को वियोग कहा करते हैं। ऐसी क्षायिकता कर्म के वियोग होने के समय में है, फिर बाद में तो मात्र परमपारिणामिक भाव है। उस शुद्ध परिणमन को चूँकि उत्पत्ति हुई थी उसकी क्षय का निमित्त पाकर इसलिए अब भी कहते जाते हैं क्षायिक। ऐसी जो शुद्धपरिणति है उस परिणति को कार्यशुद्धपर्याय कहते हैं।

सूक्ष्म अर्थपर्याय—द्रव्यदृष्टि से शुद्धपर्याय देखी जाय तो सूक्ष्म ऋजूसूत्रनय से जो तका गया है अगुरुलघुत्व गुण द्वारा सूक्ष्म परिणमन जो कि छहों द्रव्यों में एक समान पाया जाता है वह शुद्ध अर्थपर्याय कहलाता है। यह शुद्ध परिणमन जैसा जीव में है वैसा पुद्गल में है। छहों द्रव्यों में साधारणरूप से पाया जाता है। जैसे अस्तित्व गुण सब द्रव्यों में एक समान है या कुछ विलक्षणता को लिए हुए होता है ? एक समान है। विलक्षणता को लिए हुए तो असाधारण गुण है और असाधारण गुण का मन में आशय रखकर अस्तित्व का मंतव्य बनाएँ तो विलक्षण जंचता है, तब उसका नाम पड़ता है आवांतर सत्ता। अस्तित्व गुण का कार्य आवांतर सत्ता बनाना नहीं है। अस्तित्व गुण का कार्य तो सामान्य सत्रूप बनाना है, जो छहों द्रव्यों में सामान्यरूप से पाया जाता है। आवांतर सत्ता तो असाधारण गुण और अस्तित्व गुण दोनों के समवायात्मक दृष्टि का परिणाम है। तो जैसे अस्तित्व गुण छहों द्रव्यों में एक समान है। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, प्रमेयत्व छहों साधारणगुण छहों द्रव्यों में एक समान हैं। इस ही प्रकार द्रव्यत्वगुण अगुरुलघुत्व गुणादिक के कारण से परिणमनशीलता के कारण जो मूल में परिणमन चलता है वह परिणमन भी छहों द्रव्यों में एक समान है। केवल छहों द्रव्यों में साधारणरूप से पाया जाने वाला जो सूक्ष्म परिणमन है, जो अव्यक्त है वह है शुद्धपर्याय।

व्यञ्जन अर्थात् व्यक्त परिणमन—भैया ! जितने भी व्यक्त परिणमन है वे सब स्थूल परिणमन है। जैसे एक बहुत बड़ा चक्का घूमता है, तो चक्की आखिरी कोर घूमती हुई स्पष्ट नजर आती है और ज्यों-ज्यों उस छोर से अन्दर को देखते जायें त्यों-त्यों घुमाव कम नजर आता है और कील के ही पास जो अंश है उसका घुमाव विदित ही नहीं हो पाता। तो इस प्रकार पदार्थ की परिणमनशीलता के कारण मूल में जो

परिणमन है वह सूक्ष्म है, सब द्रव्यों में एक समान है। अब असाधारण गुण को साथ रखकर जो परिणमन दीखेगा वह व्यक्त परिणमन है, स्थूल परिणमन है, उनमें शुद्ध और अशुद्ध का भेद होता है। पर परिणमनशीलता के कारण जो परिणमनमात्र है वह तो अपने एकत्व को लिये हुए है। उसमें शुद्ध और अशुद्ध का भेद नहीं है।

व्यञ्जनपर्यायों का व्यक्तरूप—पर्याय के विषय में ये सब भेद जान लेने चाहिये और उनकी जो व्यञ्जन पर्यायें है अर्थात् व्यक्त पर्यायें हैं जो इन्द्रिय तक से भी जान लिये जाये वे सब हैं नर, नारक, तिर्यंच, देवरूप। स्वर और व्यञ्जन होते हैं ना, तो स्वर तो उसे बोलते हैं जो अकेला बोला जा सके, जैसे अ आ इ ई आदि खूब अच्छी तरह बोल लो। पर व्यञ्जन को भी कोई स्वर का सहारा लिए बिना बोला जा सकता है क्या ? जैसे क बोलो, पर उसमें अ मत लगाना। क्या बोल सकते हो ? आप कहेंगे कि हम बोलते हैं आधा क क्या ? इसमें बोला तो शुद्ध क मगर उस शुद्ध क को बोलने के लिए य उत्तरवर्ती आ का सहारा लिया गया। कहीं भी अ न लगा हो, स्वर न लगा हो तो आप व्यञ्जन बोल ही नहीं सकते। व्यञ्जन में स्वर होना ही चाहिए तब बोला जा सकता है और स्वर स्वयं आधाररूप हैं। उनके लिए और आधार न चाहिए।

स्वरपर्याय और व्यञ्जन पर्याय—इसी प्रकार नर नारकादिक व्यञ्जन पर्यायें हैं। इसके लिए कोई आधार चाहिए, वह आधार है कारण शुद्धपर्याय अथवा अर्थपर्याय। अगुरुलघुत्व गुण द्वार से होने वाले परिणमन को और आधार न चाहिए। इसलिए वह है स्वर पर्याय और नर नारकादिक हैं व्यञ्जन पर्याय, ये स्वर से विलक्षण हैं व्यञ्जन पर्याय आदि सहित हैं व अंत सहित हैं, विजातीय विभाव स्वभावरूप है। विजातीय अर्थात् मूर्तपदार्थ के सम्पर्क से हुए हैं, इनका विनाश देखा जाता है, ये नर नारकादिक पर्यायें विभाव व्यञ्जनपर्यायें कहलाती हैं। इस सम्बन्ध में फिर और वर्णन चलेगा।

व्यञ्जनपर्यायों की अज्ञानकारणकता—अब व्यञ्जन पर्याय का वर्णन करते हैं। पर्यायवान् पदार्थों के ज्ञान के बिना पर्याय के स्वभाव से शुभ अशुभ और मिश्र परिणामों के द्वारा यह आत्माव्यवहार से मनुष्य बनता है। उसकी जो मनुष्य के आकाररूप व्यञ्जन पर्याय है वह मनुष्यपर्याय नामक व्यञ्जन पर्याय है ये व्यञ्जन पर्यायों के प्रकार चारगतियों रूप हैं। इन पर्यायों की उत्पत्ति का मूल कारण क्या है ? तो पर्याय जिसमें प्रकट हुई है ऐसी पर्यायों का ज्ञान न होना, सो पर्यायों के पाते रहने का मूल कारण है। सम्यग्दर्शन होने के बाद भी जो कुछ पर्यायें और पानी पड़ती हैं, उनके भी मूल सम्यग्दर्शन से पहिले जो अज्ञान था वह कारण है। क्योंकि उसी अज्ञान से जो सिलसिला बना था उस सिलसिले के अन्दर ही शेषपर्यायें उसे मिलती हैं।

मनुष्यपर्याय की उत्पत्ति का कारण—मनुष्य बनना न केवल पाप-परिणाम से होता है और न केवल पुण्य-परिणाम से होता है, किन्तु पाप और पुण्य दोनों के मिश्र परिणाम से होता है। यह मनुष्यपर्याय वस्तुगत दृष्टि से देखा जाय तो न केवल जीव के है, न केवल कर्म के है, न केवल उनकी वर्गणाओं के है, और ऐसा भी नहीं है कि सूक्ष्म अंशरूप पर्याय इन तीनों की मिलकर बनी हो अर्थात् तीनों को मिलकर भी कोई एक परिणमन नहीं है। फिर भी स्थूलरूप से ज्ञान में आने वाली यह मनुष्यपर्याय जीव, कर्म व आशरीरवर्गणा इन तीनों का पिण्डरूप है।

नारकत्व का साधन व गति के अनुकूल भाव—नरपर्याय भी व्यञ्जन पर्याय है। केवल अशुभ कर्मों के द्वारा

यह आत्मा नारकी बनती है, यह नारक पर्याय व्यवहारनय से ज्ञात होती है। जो नरक के आकार पर्याय हुई उसे नरक पर्याय कहते हैं। जिस पर्याय में जीव पहुँचता है उस जीव की परिणति पर्याय के अनुकूल बनती है। आज कोई मनुष्य है तो मनुष्य के अनुकूल उसके भाव चलेंगे। जैसे मनुष्य खाते हैं, जैसे मनुष्य रहते हैं उस तरह की वृत्ति होती है। वही जीव मनुष्य पर्याय छोड़कर यदि बैल, घोड़ा आदि तिर्यंच बन गया तो उसकी वहाँ के अनुकूल परिणति चलेगी। वहाँ घास खाने को, उस तरह बैठने को, अपनी ही बिरादरी सुहाने के सब परिणमन हो जाते हैं। ये अनन्त चतुष्टय की योग्यता रखने वाले जीव एक अज्ञान के फेर में आकर कैसी-कैसी दशाओं को भोगते हैं ? ये सब बातें इन व्यञ्जनपर्यायों से ज्ञात होती हैं।

मनुष्यों के प्रकार—मनुष्य कितने प्रकार के हैं ? संक्षेप में मनुष्य तीन प्रकार के हैं–लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य, कर्मभूमियां मनुष्य और भोग भूमिया मनुष्य। इन तीनों मनुष्यों की आदतें अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार होती हैं। कर्मभूमियां मनुष्यों में देखो कितने प्रकार के मनुष्य हैं ? हिन्दुस्तान में गुजरातियों का ढंग उन जैसा, महाराष्ट्रियों का ढंग उन जैसा, मध्यप्रदेश वालों का ढंग उन जैसा, काश्मीर वालों का ढंग उन जैसा–रहन-सहन, रूप-ढंग, बोलचाल कितनी भिन्नता हुई है ? तो यह तो मोटे रूप में दिखता है। वैसे तो एक मनुष्य से दूसरा मनुष्य नहीं मिलता है। आदत में, परिणाम में सब एक समान हों ऐसे कोई दो मनुष्य नहीं मिलते हैं। तो कितनी विभिन्नताएँ हैं इन पर्यायों में ?

नारकी जीवों का संक्षिप्त विवरण—नारकी जीव नीचे 7 पृथ्वियों में रहते हैं। पहली पृथ्वी में नारकी जितनी अवगाहना के होते हैं उससे दूनी देह की अवगाहना वाले दूसरे नरक में हैं। तीसरी में उससे दूने शरीर वाले, चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें में क्रम से दूने-दूने शरीर वाले होते हैं। वे दूसरे को देखकर रोष ही रोष किया करते हैं। पूर्वभव में चाहे किसी का उपकार किया गया हो, आँख में अंजन लगाकर आँख का रोग ही मिटाकर, चाहे वह माँ ही क्यों न हो, उपकार किया गया हो, नरक में जब वे दोनों पैदा हो गए तो उन्हें उलटा सूझेगा। इसने तो मेरी आँख फोड़ने का ही प्रयत्न किया था और उलटा सोच-सोचकर लड़ते रहेंगे। प्रसिद्ध बात है यहाँ भी कोई मनुष्य आपस में यदि लड़ते हैं तो कहने लगते हैं कि नारकियों की तरह आपस में लड़ रहे हैं।

तिर्यक् पर्याय की उत्पत्ति का कारण व तिर्यंचों के प्रकार—तिर्यंच पर्याय भी व्यञ्जन पर्याय है। इसमें जब कुछ शुभ मिला हो और शुभ अशुभ मिश्र परिणाम होता हो लेकिन साथ में माया परिणमन हो तो मायाचार की अधिकता से तिर्यंच शरीर में जीव उत्पन्न होता है। उसका जो आकार है उसको तिर्यक्पर्याय कहते हैं। तिर्यंच तो बहुत प्रकार के हैं। प्रथम पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में देखो–पशुपक्षी सर्पादिक के ढंग के जमीन पर रेंगने वाले पंचेन्द्रिय जीव हैं। पशुओं में कितनी विभिन्नताएँ हैं ? बैल, घोड़ा, हाथी, हिरण, बारहसिंहा, खरगोश और और भी नाम लेते जाओ, कितने तरह के पशु हैं, कितने तरह के पक्षी हैं। कई तो दिखते भी नहीं है, कभी दिख जायें तो बड़ी विचित्र मालूम होती हैं। जलचर तिर्यंच देखो, पंचेन्द्रिय देखो, मछलियाँ, कच्छ, मगर कितना विस्तार है तिर्यंचों का ? चौइन्द्रिय कितनी तरह के हैं–चौइन्द्रिय में मच्छर, टिड्डी, पतिंगा, मक्खी, भंवरा, ततैया नाम लेते लेते पूरा नहीं पड़ सकता है। कहाँ तक नाम लोगे ? ये इतने हैं कि मालूम भी नहीं हैं। तीन इन्द्रिय कितने प्रकार के हैं, दो इन्द्रिय कितने प्रकार के हैं, एकेन्द्रिय की तो शुमार ही

नहीं है। 10 लाख जाति की तो वनस्पति ही बतायी जाती है। लाखों जाति के तो वनस्पति ही बतायी जाती है। लाखों जाति के तो पड़ पाये जाते हैं। पृथ्वी के जीव, जल के जीव, आग के जीव, हवा के जीव, निगोदराशि कितनी तरह के तिर्यंच पर्यायें हैं, कोई नाम लेने से पूरा पड़ सकता है क्या ? ।

तिर्यंचों के प्रकारों की जातियाँ तक भी गिनाने की अशक्यता—एक बार रात्रि के समय राजा बोला कि मन्त्री ऐसा किस्सा तो सुनाओ कि जो रातभर में पूरा न हो सके। दस घंटे तक बराबर चलता रहे। क्या ऐसा किस्सा किसी को याद है ? सभी को ऐसे याद होंगे कि मिनटों में पूरे हो जाएं, एक घंटे में पूरे हो जायें, और 10 घंटे में भी पूरा न हो सके ऐसा किस्सा किसी को याद है क्या ? नहीं याद है। तो हम सुनायेंगे रातभर तो न बोलेंगे पर थोड़ा बताये देते हैं कि इस तरह का किस्सा है। मन्त्री बोला, कि महाराज एक बार हम एक बाग में गए तो उस बाग में कई हजार इमली के पेड़ थे, और एक-एक पेड़ में 1-10 बड़ी डालियाँ थी, एक-एक डाली में 20-20 छोटी डालें निकली थीं और एक-एक छोटी डाली में 50-50 जिसके आधार पर पत्ते रहते ऐसी सींकें थीं। और एक-एक सींक मं 100-100 पत्ते थे। एक भंवरा आया तो एक पत्ते पर बैठ गया। राजा पूछता कि अच्छा फिर क्या हुआ ? मन्त्री बोला, कि भंवरा फुर्र से उड़ा सो पास के दूसरे पत्ते पर बैठ गया। फिर क्या हुआ ? फिर तीसरे पत्ते में बैठ गया। फिर ? फिर और पत्ते पर बैठ गया। अब बताओ रातभर तो क्या ऐसा किस्सा तो 6 महीने में भी पूरा नहीं हो सकता है। अरे ! कितने पत्ते होंगे उन इमली के पेड़ों में ? सो चाहे कितना ही बोलते जाओ, महीनों में भी किस्सा पूरा नहीं हो सकता। ऐसे ही कितनी जाति के तिर्यंच हैं ? गिनते जाओ। कुछ गिनती है क्या ?

महामोहमदपान का फल—तिर्यंच पर्यायों में जन्म लेना अज्ञानभाव में होता है, मोह भाव से होता है, जो मोह इतना-इतना प्रिय लग रहा है कि कल्पित अपने ही अपने को सुहायें, दूसरे को गैर मानें, ये ही मेरे सब कुछ हैं। तन, मन, धन, वचन सब कुछ अपने लड़कों के लिए, स्त्री के लिए, परिजन के लिए हैं, औरों के लिए कुछ बात ही नहीं है–ऐसा प्रबल मोह होता है, इस मोह का फल है ऐसी-ऐसी तिर्यंच पर्यायों में रुलते रहना। किसके लिए यह बड़ी शान और पोजीशन बनायी जा रही है ? ये दिखने वाले सब कोई साथ न जायेंगे। इनमें कुछ सार की बात नहीं है। ये सब स्वप्न जैसे दृश्य हैं। कोई किसी का सहायक नहीं है। बस जो पाप भाव बनाते हैं उनका फल ही हाथ आयेगा और बाह्य समागम ये कुछ भी हाथ न रहेंगे। ये तिर्यंच पर्याय व्यंजनपर्यायें हैं।

देवपर्याय की उत्पत्ति का साधन—देवपर्याय भी व्यंजन पर्याय है। केवल शुभ कर्म के द्वारा यह आत्मा व्यवहारदेव बनता है। ये सब परिस्थितियाँ व्यवहार से हैं, निश्चय तो पदार्थ के स्वभाव को ग्रहण करता है। देव वन में जो आकार है वह देवपर्याय है। देवपर्याय भी बहुत प्रकार की हैं। कितने तरह के भवनवासी देव, व्यंतरदेव, ज्योतिषीदेव और वैमानिकदेव हैं। इनका बहुत बड़ा विस्तार आगमों में लिखा हुआ है, करणानुयोग के शास्त्रों में लिखा है। विशेष जानना हो तो वहाँ से जान सकते हैं। कितनी प्रकार का यह व्यंजनपर्याय का प्रपंच है। यह तो सब एक व्यवहार दृष्टि करके जीव की जो-जो परिस्थितियाँ बनती हैं उनका वर्णन किया है।

पर्यायविस्तार जानने से ग्राह्य शिक्षा—भैया ! यह सब जानकर अपने को शिक्षा क्या लेनी है ? जिस

अन्तस्तत्त्व के ज्ञान बिना जीव ऐसी-ऐसी पर्यायों में भटकता है उन सब पर्यायों का मूल स्रोतरूप जो निज अन्तस्तत्त्व है, चैतन्यस्वभाव है उस चैतन्यस्वभाव की दृष्टि करनी चाहिए। भले ही ये परिस्थितियाँ नाना प्रकार की है फिर भी इन परिस्थितियों के होने पर भी जो पुरुष शुद्ध दृष्टि करता है, परमतत्त्व के अभ्यास में जिसकी बुद्धि निपुण हुई है वह यह देखता है कि समयसार के अतिरिक्त मेरा अन्य कुछ स्वरूप नहीं है। ऐसा जानकर जो अपनी दृष्टि बनाये रहते हैं वे मुक्ति के अधिकारी होते हैं। यहाँ व्यंजनपर्याय के सम्बन्ध में सामान्यरूप से वर्णन करके अब विशेष रूप से इसका निरूपण करते हैं।

गाथा 16-17

माणुस्सा दुवियप्पा कम्ममहीभोभूमिसंजादा।
सत्तविहा णेरइया णादव्वा पुढविभेदणे।।16।।
चउदहभेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा।
एदेसिं वित्थारं लोयविभागेसु णादव्वं।।17।।

मनुष्यशब्द का व्युत्पत्त्यर्थ व मानव के प्रकार—चारों गतियों का स्वरूप कहो या व्यंजनपर्याय का स्वरूप कहो, एक बात है। मनुष्य दो प्रकार के होते हैं, वैसे तो मनुष्य तीन प्रकार के हैं, पर लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य को यहाँ अभी नहीं लिया गया है। मनुष्य शब्द की व्याख्या है–जो मनु की संतान हों, उन्हें मनुष्य कहते हैं। अन्य जगह भी यह बात प्रसिद्ध है कि सब मनुष्य मनु की संतान है और जैनसिद्धान्त में यह बताया है कि भोगभूमि मिटने के बाद कुछ मनु हुआ करते हैं, जो कि कर्मभूमि की एक नयी व्यवस्था बनाते हैं अथवा कुलकरों के जो संतान है, उन्हें मनुष्य कहते हैं। मनुष्य कहो या कुलकर कहो, एक बात है। पश्चात् यह मनुष्य शब्द कुछ रूढ़िरूप हो गया। विदेहक्षेत्र में तो कभी कुलकर नहीं होते, क्योंकि वहाँ स्थायीरूप से कर्मभूमि हैं। कुलकर तो वहाँ होते हैं, जहाँ पहिले भोगभूमि हों और भोगभूमि मिटकर कर्मभूमि बने तो यद्यपि विदेहक्षेत्र में स्थायी कर्मभूमि होने के कारण कुलकर नहीं होते हैं, फिर भी मनुष्य शब्द रूढ़ि से वहाँ के लिये भी पुकारा जाता है। ये मनुष्य दो प्रकार के होते हैं–कर्मभूमिज मनुष्य और भोगभूमिज मनुष्य। जो कर्मभूमि में पैदा हुए हों, वे कर्मभूमि के मनुष्य हैं और जो भोगभूमि में पैदा हों, वे भोगभूमि के मनुष्य हैं।

भोगभूमिज मनुष्यों की परिस्थितियाँ—कर्मभूमि में कार्य करना पड़ता है, तब गुजारा होता है। लिखने का काम, खेती का काम, व्यापार का काम, सेवा का काम, अन्य कला का काम या हथियार का काम आदि कुछ भी काम करें, तब वहाँ उसका गुजारा है, पर भोगभूमि में आजीविका का कोई कार्य नहीं करना पड़ता है–ऐसा सुनकर कई लोग सोचें कि यार हम वही होवें तो अच्छा है, पर भोगभूमि के जीव कर्मभूमि से कुछ विशेष नहीं माने जाते हैं। वे भोग में मस्त रहते हैं, जो मन में इच्छा हुई, वहाँ भोग उनके सामने आ जाते हैं। इसी प्रकार के वहाँ कल्पवृक्ष की रचना है। जीवनभर वे अपने भोगों में रत रहा करते हैं। एक सम्यग्दर्शन उनके हो, इतनी बात तक तो वहाँ है, पर देशव्रत या साधुव्रतरूपपर्याय की प्रकृति कर पायें–ऐसी वहाँ प्रकृति नहीं है। भोगभूमि में विकार का भी दु:ख नहीं होता है। पुरुष व स्त्री एक साथ मरते हैं और जब बच्चे हों तो लड़का और लड़की एक साथ पैदा हों और उनके पैदा होते ही माँ बाप गुजर

जायें तो न लड़के को हीड़ना रहे और न माँ बाप को हीड़ना रहे। ऐसे बड़े सुख प्रसंग में ये भोगभूमि के मनुष्य रहते हैं। ये पाप भी अधिक नहीं कर पाते और पुण्य भी अधिक नहीं कर पाते। इसी कारण ये मरकर दूसरे स्वर्ग तक में जन्म लेते हैं। इससे और ऊपर इनका जन्म नहीं है और देवगति के सिवाय अन्यपर्यायों में भी इनका जन्म नहीं होता है।

कर्मभूमिज मनुष्यों की परिस्थितियाँ—किन्तु कर्मभूमियाँ मनुष्य, कैसे हैं अपन ? वाह रे हम जहाँ चाहे पैदा हो सकते हैं। भले ही इस कलिकाल के कारण ऊपर के स्वर्गों में व मुक्ति में नहीं जा सकते लेकिन मनुष्य ही तो जाया करते हैं। अपन तो मनुष्य के नाते बोल रहे हैं। कर्मभूमि के मनुष्य मोक्ष चले जायें, वैकुण्ठ चले जायें, स्वर्ग चल जायें, ऊर्ध्व लोक में सर्वत्र उनका जन्म हो सकता है और मोक्ष भी हो सकता है। वैकुण्ठ किसे कहते हैं कि लोक के नक्शे में कंठ के जगह में जो रचना बनी हुई है–ग्रेवयक है, अनुदिश है, सर्वार्थसिद्धि है, ये सब वैकुण्ठ कहलाते हैं। इनमें से चिलबिलाहट से भरे हुए वैकुण्ठ तो ग्रेवयक हैं, जहाँ तक मिथ्यादृष्टि का भी जन्म है और ऊपर के जन्म हैं उनमें चिलबिलाहट नहीं पायी जाती है। इस ग्रेवयक बैकुण्ठ में सागरों पर्यन्त ये जीव रहते हैं। फिर इतना बड़ा कालावधि व्यतीत होने पर फिर उन्हें यहाँ जन्म लेना पड़ता है। जैसे कुछ लोग कहते हैं कि जीव ज्यादा से ज्याद बैकुण्ठ में चला जाय तो वहाँ से बहुत दिनों के बाद में धक्के देकर गिरा दिया जाता है, उसे फिर संसार में आना पड़ता है, ऐसा प्रसिद्ध है कहीं कहीं। वह यही बैकुण्ठ है। तो ऊर्ध्वलोक में जहाँ चाहे ये कर्मभूमियाँ पैदा हो लें।

कर्मभूमिज मनुष्यों के सर्वत्र जन्म की संभवता—वाह रे हम मनुष्य नरकों में सब जगह पैदा हो लें, औरों को तो कैद है। देव नरकों में उत्पन्न नहीं हो सकते। चौ इन्द्रिय तक के जीव नरक में उत्पन्न नहीं हो सकते और असंज्ञी पंचेन्द्रिय तो पहिले ही नरक में जा सकते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच और कर्मभूमि की स्त्री छठी नरक तक जा सकती है, पर मनुष्य सब नरकों में जा सकता है। एकेन्द्रिय में भी पैदा हो ले, सब जगह इसका द्वार खुला है। अब जहाँ चाहे पैदा हो ले। तो वे दो प्रकार के मनुष्य हैं जिसमें अब कर्मभूमिया की बात कही जा रही है।

कर्मभूमिज मनुष्यों के प्रकार—ये कर्मभूमियाँ आर्य म्लेच्छ इस तरह दो प्रकार के हैं। आर्य जीव तो वे कहलाते हैं जो पुण्य क्षेत्र में उत्पन्न होते हैं, और म्लेच्छ जीव वे कहलाते हैं जो पापक्षेत्र में उत्पन्न होते है। इस व्याख्या से जो पुण्य क्षेत्र है वहाँ जितने मनुष्य हैं वे सब आर्य हुए और जो पापक्षेत्र है जैसे कि लोग कहा करते हैं ऐसा स्थान है जहाँ अन्न का दाना नहीं मिलता बर्फीली जगह, समुद्री जगह तो वह पाप क्षेत्र हैं। ऐसे पापक्षेत्र में रहने वाले म्लेच्छ मनुष्य कहलाते हैं, और भी इनके सम्बन्ध में विशेष वर्णन शास्त्रों में किया गया है, ये सब कर्मभूमिया मनुष्य हैं। अब भोगभूमिया मनुष्य की बात कही जायेगी।

भोगभूमि के स्थान—जीव के स्वरूप का वर्णन पहिले तो अर्थपर्याय से बताया गया और स्वभाव से बताया गया, इसके पश्चात् मोटे रूप में लोगों को शीघ्र विदित हो सके, इस दृष्टि से व्यंजनपर्यायों का वर्णन चल रहा है। जिसमें मनुष्य व्यंजन पर्याय की बात इस प्रकरण में है। मनुष्य दो प्रकार के हैं–एक कर्मभूमिज और एक भोगभूमिज। भोगभूमिज जीव आर्य कहलाते हैं और कुछ भोगभूमियां निकृष्ट भोगभूमियां भी होती

हैं। यह जो जम्बूद्वीप है, उस जम्बूद्वीप में भरत व ऐरावत क्षेत्र में आर्यखण्ड में अस्थिर भोगभूमि होती है। भरतक्षेत्र के बाद जघन्य भोगभूमि शुरू होगी जिसका नाम है हैमवत क्षेत्र, हरिक्षेत्र। इसके आगे उत्तम भोगभूमि मिलेगी जिसका नाम है देवकुरु, फिर उत्तरकुरु नाम उत्तम भोगभूमि मिलेगी, फिर इसके आगे है रम्यकक्षेत्र भोगभूमि, इसके बाद है हैरण्यवत।

जघन्यभोग भूमिजों की आयु—जघन्य भोगभूमि में 1 पल्य की आयु वाले मनुष्य होते हैं। पल्य कितना बड़ा होता है ? उसके प्रमाण समझना हो तो गिनती से नहीं समझ सकते हैं। वह उपमा प्रमाण से जाना जायेगा। मान लो दो हजार कोस लम्बा चौड़ा गहरा गड्ढा है, उस गड्ढे में बाल के छोटे-छोटे टुकड़े जिनका दूसरा हिस्सा न हो सके ऐसे रोम खूब कटकर भरे हुए हों, उपमा ही तो है। इतने बड़े विस्तार की बात गिनती द्वारा नहीं बतायी जा सकती है। उसका उपाय उपमा है और कल्पना में मान लो उस गड्ढे पर हाथी फिरा दो, अब समझलो कि उस गड्ढे में कितने बाल भरे हो सकते हैं ? और बाल भी कैसे लो–अपने जो बाल होते हैं ना। ये जितने मोटे होते हैं उनसे 8वां हिस्सा बारीक, जघन्य भोगभूमि के बाल जो होते हैं उनसे भी 8वां हिस्सा कम पतले, मध्यम भोगभूमि में उससे भी 8वां हिस्सा कम पतले उत्कृष्ट भोगभूमि में होते हैं। ऐसे उत्कृष्ट भोगभूमि के कोई 5-7 वर्ष के बालक के बाल ले लो या तो महीन बालों में मेढ़ा प्रसिद्ध होता है सो उसके पतले बाल हों और जिनका दूसरा अंश न हो सके उस गड्ढे में भरे गए। 100-100 वर्ष में 1-1 बाल निकाला जाय, यों सब बाल जितने वर्ष लगें उतने का नाम है व्यवहार पल्य और उससे असंख्यातगुणा काल होता है उद्धार पल्य का और उससे अनगिनतेगुणा काल होता है अद्धापल्य का ऐसे एक-एक पल्य की आयु वाले जघन्य भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यंच होते हैं।

भोगभूमिज जीवों की जीवनी—इतनी पल्यवाली आयु केवल स्त्री पुरुष के वार्तालाप में ही इस मनुष्य ने व्यतीत की। ये जीव पुण्य के उदय वाले हैं, अपने-अपने आराम से इन्हें प्रयोजन है, विवाद झगड़ा वहाँ होते नहीं है ऐसा वहाँ का वातावरण है। एक तरह से इसे असली मायने में साम्यवाद कह लो। ऐसा साम्यवाद वहाँ है। यहाँ हम आप क्या साम्यवाद कर सकते हैं। कोई क्या करेगा ? विचित्र उदय है कर्मभूमि के मनुष्यों का। जहाँ साम्यवाद भी हो वहाँ एक चीज का साम्य कदाचित् कर लेवे किसी के पास पैसा न रहे, सब राष्ट्रीय सम्पत्ति हो, लोग तो कमायें और सरकारी जगहों में खायें–ऐसा कदाचित् बना भी लो, प्रथम तो यह बहुत मुश्किल है, फिर भी किसी की स्थिति छोटी है किसी की बड़ी है कोई चौकीदार का काम करता है कोई बड़े मिनिस्टर मंत्री बने हुए हैं, तो उनके चित्त में क्या रंज नहीं होता होगा कि हाय हम हुक्म मान-मानकर मरे जा रहे हैं। कहाँ समता ला सकते हैं ? पहिनावे में, भोजन पान में, इज्जत में, उनकी सवारियों में इन सब बातों में कौन समानता ला सकता है ? तो भोगभूमि मायने साम्यवाद का क्षेत्र। जघन्य भोग भूमि में जितने भी मनुष्य तिर्यंच हैं सबका एक-सा काम है।

मध्यम और उत्तम भोगभूमिजों की परिस्थितियाँ—जघन्य भोगभूमि से मध्यमभोगभूमि में उनकी डबल बात है। यहाँ एक पल्य की आयु है तो वहाँ दो पल्य की आयु है। उत्कृष्ट भोगभूमि में तीन पल्य की आयु वाले जीव हैं। तो ऐसे भोगभूमि के जीव मनुष्य व्यंजनपर्याय में हैं।

लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य—एक जीव है लब्ध्य पर्याप्त मनुष्य। ये लब्ध्य पर्याप्त मनुष्य महिलाओं के शरीर से यों

ही जहाँ चाहे जगह से उत्पन्न होते रहते हैं और दिखते नहीं है। उनका नाम लब्ध्यपर्याप्त मनुष्य हैं। एक श्वांस में 18 बार जो जन्ममरण निगोद का बताता है ऐसा ही जन्म मरण वहाँ है। कोई अन्तर नहीं है, चाहे निगोद जीव हो और चाहे लब्ध्यपर्याप्त हो। हाँ, क्षयोपशम का अन्तर है। इनके पंचेन्द्रियवरण का क्षयोपशम है, और मन भी वहाँ बताया जाता है। वे असंज्ञी नहीं होते हैं। तो ऐसे विचित्र-विचित्र मनुष्यपर्याय के जीव हैं।

नारकियों की आवासभूमियां—नारकियों को देखो। यह जो जमीन है, जिस पर हम और आप चलते और डोलते हैं, यह जमीन बहुत मोटी है। इस मोटी जमीन के अन्दर के 3 हिस्से कर लो। पहिले के दो भागों में भवनवासी और व्यन्तरजाति के देवों के मकान हैं और नीचे का जो तीसरा भाग है, उसमें नारकी जीव रहते हैं, वहाँ बहुत नारकी हैं और उनसे नीचे बहुत-सा आकाश छोड़कर दूसरी पृथ्वी है, उसमें दूसरे नरक की रचना है। फिर कुछ आकाश छोड़कर तीसरी पृथ्वी है, उसमें तीसरा नरक है। फिर नीचे कुछ आकाश छोड़कर चौथी पृथ्वी है, वहाँ चौथा नरक है। फिर नीचे कुछ आकाश छोड़कर पांचवी पृथ्वी हे, वहाँ पांचवी नरक है। इसी तरह से छठी पृथ्वी में छठा और सातवीं पृथ्वी में सातवां नरक है। इनमें रहने वाले जीव सदा क्रोधी बने रहते हैं, वे एक दूसरे को कुत्ते की तरह देख कर लड़ते मरते हैं। उनमें ऐसा पाप का उदय है कि उनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जाएं तो भी पारे की तरह मिलकर फिर उनका पूर्ण शरीर बन जाता है।

नरकभूमियों के बिल—उन नरकों में बड़े-बड़े बिल हैं। कितने बड़े बिल हैं ? कोई 10 हजार कोस का समझो, कोई 50 हजार कोस का समझो, इतने ही नहीं, बल्कि इनसे भी बड़े। ये तो कुछ भी बड़े नहीं हैं और बड़े-बड़े हजारों योजनों के लम्बे-चौड़े बिल हैं। उनका नाम बिल क्यों रखा गया ? इतनी बड़ी लम्बी-चौड़ी जगह का नाम बिल यों है कि वहाँ उजाला भी नहीं है। उन बिलों में किसी ओर मुख नहीं है। जैसे एक हाथभर का लम्बा चौड़ा और उतना ही मोटा पाटिया हो और उस पाटिये के बीच बीच में ऐसे छिद्र हों कि आपको पता ही न पड़े कि इस पाटिया में छिद्र हैं। आप कभी सागवन का सिली पर लेने जाते हैं या कोई मोटा टुकड़ा लेने जाते हैं तो उसमें आपको कहीं बिल नहीं दिखता है, पर जब उसे कटाने लगते हैं तो उसमें कहीं न कहीं बिल निकल आता है। इसी तरह इस पृथ्वी में किसी ओर से मुख नहीं है उस नरक में जाने के लिये और बीच ही बीच में इतने बड़े बिल बने हुए हैं।

नरकबिलों की रचनाएँ—पहिले नरक में 13 जगह बिलों की रचना है। जैसे एक पटल होगा, उसमें पहिले बिलों की रचना है, फिर उसके नीचे दूसरा पटल आया तो उसमें दूसरे बिलों की रचना है। पृथ्वी का कुछ टुकड़ा छोड़कर तीसरा पटल आया तो वहाँ बिल है। इस तरह 13 जगह बिलों की रचना है। नीचे-नीचे नरकों में दो-दो पटल कम है, 7वें नरक में केवल एक ही पटल में बिलों की रचना है। इन नरकों में ऐसे जीव उत्पन्न होते हैं, जो तीव्र आरम्भ वाले हैं, अधिक परिग्रही हैं, जिनको आत्महित का कुछ भी ध्यान नहीं है। लोगों में धन कमाने, आरम्भ और परिग्रह के तीव्र कषाय हैं, इनमें पड़ने से लोग नरकायु का बन्ध करते हैं और उन्हें नरकों में जन्म लेना पड़ता है। एक यह उक्ति है कि लोग पाप का फल तो चाहते ही नहीं है और पाप को भी नहीं छोड़ना चाहते हैं। लोग पुण्य का फल तो चाहते हैं और पुण्य को करना

नहीं चाहते हैं–ऐसी स्थिति में क्या हो ? वे ही दु:ख होते हैं।

जीवों के परिणाम के माप का उदाहरण—एक किम्वदन्ती है कि एक बार नारद घूमते-घूमते पहिले नरक गए थे। नरक में देखा था कि इतने जीव भरे पड़े थे कि कहीं खड़े होने की जगह ही न मिली और जब बैकुण्ठ पहुँचे तो यह देखा कि खाली विष्णु भगवान् पड़े हैं। नारद विष्णु से बोले कि हे भगवन् ! आप बड़ा पक्षपात करते हो, नरक में तो इतने जीव भर दिये कि वहाँ खड़े होने तक की जगह नहीं मिली और यहाँ आप अकेले पड़े हुए आराम कर रहे हैं। विष्णु बोले कि हम क्या करे, कोई यहाँ तो आना ही नहीं चाहता। नारद ने कहा कि महाराज ! हमें इजाजत दो, हम बहुत से लोगों को यहाँ ले आएँ। सो विष्णु ने एक पासपोर्ट लिख दिया कि तुम ले आओ यहाँ जिसको चाहो।

वृद्ध पुरुषों का व्यामोह—अब नारद खुश होकर बड़ी जल्दी से इस लोक में आए। सो सबसे पहिले लगभग 60 साल के एक बाबा मिले। उनसे कहा कि बाबा बैकुण्ठ चलोगे ? चलो हम तुम्हें बैकुण्ठ ले चलेंगे। बैकुण्ठ कोई मरे बिना तो जा नहीं सकता, सो बाबा बोले कि हम ही तुमको मिले हैं ? इसी तरह कई बूढ़ों के पास गए, पर कोई बूढ़ा जाने को तैयार न हुआ।

युवकों का व्यामोह—जब किसी भी वृद्ध से दाल नहीं गली तो नारद ने सोचा कि अब जवानों के पास चलें, क्योंकि वृद्ध तो जाने को तैयार ही नहीं हैं। अब वे एक लगभग 25 साल के जवान के पास गये और बोले कि चलो, हम तुम्हें स्वर्ग ले चलेंगे, किन्तु वह युवक भी जाने को तैयार नहीं हुआ। उसने कहा कि अभी एक लड़का है, उसको पढ़ाना है, लिखाना है, शादी करनी है, अभी हमें जाने की फुरसत नहीं है। इसी तरह से कई युवकों के पास नारद जी गये, लेकिन कोई भी जाने के लिये तैयार नहीं हुआ।

अल्पवयस्कों का व्यामोह—फिर नारद कुछ लड़कों के पास गये। सबसे पहिले एक लड़का लगभग 18 वर्ष का एक मन्दिर के चबूतरे पर माथे पर तिलक लगाये हुए माला फेरता हुआ दिख गया। नारद ने सोचा कि यह लड़का जरूर हमारे संग में चलेगा। सो नारद ने उस लड़के से कहा, चलो बेटा हम तुम्हें स्वर्ग ले चलें ? लड़का साथ में जाने को तैयार हो गया। जब थोड़ा चला तो बोला कि महाराज अभी कुछ दिन हुए सगाई हुई थी, अभी तीन दिन शादी के हैं, सब बराती तो आ गए हैं, सो शादी हो जाने दो, ऐसे समय पर जाना अच्छा नहीं लगता है, सो कृपा करके आप तीन वर्ष के बाद में आना तब हम चलेंगे। नारद ने कहा अच्छी बात। तीन साल के बाद में नारद फिर आए, बाले कि चलो बेटा स्वर्ग। तो वह लड़का बोला कि महाराज अब तो स्त्री के गर्भ रह गया है, बच्चा हो जाय, सभी लोग बच्चे को तरसते हैं कि बच्चे का मुँह देख लें सो आप 10 वर्ष गम खाओ फिर चलेंगे। 10 वर्ष के बाद में नारद फिर आए, कहा चलो बेटा स्वर्ग। तो वह बोला कि अब यह बच्चा हो गया है, इसे अनाथ कहाँ छोड़े, इसे ऐसा बना दें कि यह गृहस्थी संभालने लायक हो जाय, सो आप 20 वर्ष के बाद आना तब चलेंगे। नारद 20 वर्ष के बाद में फिर आए, बोले कि अब तो चलो। तो वह बोला कि बेटा तो कुपूत निकल गया। धन बहुत जोड़कर रखा है। अगर हम चलते हैं तो यह लाखों का धन 7 दिन में बरबाद हो जायेगा, सो अभी तो नहीं चलेंगे पर कृपा करके आप दूसरे भव में जरूर आना। तब हम जरूर चलेंगे। नारद चले गए।

भवान्तर में भी व्यामोह—वह बुड्ढा होकर मरकर सांप बन गया और उसी स्थान पर रहने लगा जहाँ धन

गड़ा था। नारद वहाँ भी पहुँचे। वहाँ कहा कि चलो अब तो स्वर्ग चलो। तो वह फन हिलाकर वहाँ से भी जाने के लिए मना करता है। अब नारद ने सोचा कि विष्णु भगवान् सही कहते थे कि यहाँ कोई आना ही नहीं चाहता है। इसलिए खाली है। सो लोग फल तो पुण्य का चाहते हैं पर पुण्य नहीं करना चाहते और लोग पापों से डरते हैं, पर पापों से मुख नहीं मोड़ते।

संसारी जीवों की दयनीय स्थिति—भैया ! संसारी जीवों की ऐसी दयनीय परिस्थिति है कि उनका कोई सहारा नहीं है। कुटुम्ब के लोगों को अपना हितू समझकर उनके लिए कमायी करते हैं। बहुत-बहुत परिग्रह इकट्ठा करते हैं। पर जब मरण होगा तो ये सब बिछुड़ जायेंगे। कोई भी कुटुम्ब के लोग मरण के समय साथी न होंगे। यहाँ पर सभी अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। एक मिनट में ही सारा फैसला हो जाता है, कोई भी पूछने वाला नहीं रहता है। इस जगत में हम और आपका कोई दूसरा जिम्मेदार नहीं है। यह धन वैभव तो पुण्य का उदय है सो मिलता है। इस धन वैभव से इस आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है।

शुद्धात्मशरणता—आत्मा का स्वरूप जो ज्ञानस्वभाव है उसकी दृष्टि होने पर ऐसा अलौकिक आनन्द शुद्ध स्वच्छता प्रकट होती है कि जिसके प्रताप से भव-भव के पाये हुए पापकर्म निर्जरा को प्राप्त होते हैं। एक ही शरण है हम आप लोगों का कि हम अपने सहजस्वरूप रूप अपने को मान ले, मैं तो इतना ही मात्र हूँ, इससे अधिक और मैं कुछ नहीं हूँ। अपने स्वरूपमात्र अपने को मानना भर इतना कठिन लग रहा है इस व्यवहारी जीव को कि इस ओर दृष्टि ही नहीं जाती है और जो चीज पर है, भिन्न है, जिसका सम्बन्ध नहीं है ऐसी चीजों में लगने की बड़ी सुध है।

सुगमता और दुर्गमता—एक हवेली बनवानी है, अर्जी यह तो अपने बायें हाथ का काम है, 50 हजार रुपये का बजट बना लिया, लो 6 महीने में हवेली खड़ी कर दी। उसमें आत्मा कुछ नहीं कर रहा है, केवल विकल्प ही कर रहा है, पर भूल में कुछ अभ्युदय वाले आत्मा के ऐसे विकल्प हुए कि उनका निमित्त पाकर ऐसा तांता बन गया कि सारा काम सिलसिले से होकर 6 महीने में मकान खड़ा हो गया। यह जानता है कि मैंने मकान बनाया सो पर के विकल्पों में पड़ना इसे बड़ा आसान लग रहा है। किन्तु अपने में सहजस्वरूप की दृष्टि जो प्रभु है विभु है, अपने आपकी सब दृष्टियों का कारण है उस स्वरूप पर दृष्टि के लिए बड़ा साहस बनाना पड़ता है।

आत्मरमण बिना क्लेश का अभाव—यह प्राणी जब अपने आपको भूला है तो इसकी दृष्टि पर की ओर जाना स्वाभाविक ही है। जैसे जिस बालक को अपना खिलौना नहीं मिल रहा है वह बालक दूसरे के खिलौने को देखकर रोता है, उसका रोना प्राकृतिक है। अब कई लड़के ऊधम कर रहे हों तो बड़े लोग उसे डांटते हैं–अरे बड़ा लड़कपन करता है और कदाचित् वह लड़का कह दे कि तुम भी जब हमारी उम्र के थे तो तुम भी लड़कपन करते थे। तो लड़कपन में लड़कपन जैसी बात आती है मगर इतनी बात चाहिए कि ऊधम तो करे, पर ऐसा ऊधम करे कि जो सुहावना लगे, दूसरों की विराधना न करे और दूसरों को क्लेश न पहुँचे। वह लड़का दूसरे के खिलौने को देखकर रोने लगा। उसे कोई मना करे कि रोना बंद कर दो तो क्या उससे रोना बंद होगा ? रोना तो तब बंद होगा जब उसका खिलौना उसे मिल जाय।

आत्मदर्शन ही संकटमुक्ति का साधन—इसी तरह अपने स्वरूप के अपरिचयी इस अज्ञानी बालक को

अपना खिलौना जो सहज चैतन्यस्वरूप है, वह तो मिला हुआ नहीं है, गुम गया है, तो यह जो रूप, रस, गंध, स्पर्श वे बाहरी खिलौनों को देखकर रोता है। अब इसको कोई दंड देकर या कोई धौंस देकर चाहे कि रोना यह बंद करा दे तो कैसे बंद कर सकता है ? इसे तो अपने सहजस्वरूप को अनादिकाल से देखने की लगन ही नहीं है। इसको तो अपना अंतस्तत्त्व, शुद्ध जीवास्तिकाय प्राप्त हो जाय तो इस का रोना बंद हो सकता है। अर्थात् विषयों के लोभी पुरुष इन विषयों को छोड़ नहीं सकते हैं, तो उनके क्लेश भी नहीं समाप्त हो सकते हैं। है वह सारी व्यर्थ की आकुलता क्योंकि अंत में रह जायेगा यह अकेला का ही अकेला। कुछ साथी न होगा। तो अपने आपकी दृष्टि करके अपने इस सहज अंतस्तत्त्व में रंग जाय तो इससे ही इसकी आपत्तियाँ दूर हो सकती है।

नारकियों की आयु—केवल अशुभ कर्म से नरकगति में जन्म होता है। उन नारकी जीवों में जो प्रथम नरक के जीव हैं उनकी आयु अधिक से अधिक 1 सागर प्रमाण होती है। आयु के संबंध में कल पल्य का प्रमाण बताया था, ऐसे-ऐसे एक करोड़ पल्य में एक करोड़ पल्य का गुणा किया जाय, जो लब्ध हो उसको एक कोड़ाकोड़ी पल्य कहते हैं। ऐसे-ऐसे दस कोड़ाकोड़ी पल्य में एक सागर होता है। दूसरे नरक के नारकियों की आयु तीन सागर प्रमाण तक होती है, तीसरे नरक के नारकियों की आयु 7 सागर प्रमाण तक होती है, चौथे नरक के गतियों की आयु 10 सागर प्रमाण होती है, 5वें नरक के नारकियों की आयु 17 सागर प्रमाण तक होती है, छठवें नरक के नारकियों की आयु 22 सागर प्रमाण तक होती है और 7 वें नरक के नारकियों की आयु 33 सागर प्रमाण तक होती है।

तिर्यञ्चों की व्यञ्जनपर्यायें—तिर्यञ्च वयञ्जनपर्याय की बात सुनिये–तिर्यञ्च जीव 14 जीव समासों में विभक्त जानिये। इन 14 प्रकारों में सब तिर्यञ्च आ जाते हैं। जल्दी जानने के लिए जहाँ तक ऊँचे से नीचे के क्रम के अनुसार सुनिये। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव कोई पर्याप्त है कोई अपर्याप्त है। इस पर्याप्त में लब्ध्यपर्याप्त और निवृत्य पर्याप्त दोनों को ग्रहण करना। निवृत्यपर्याप्त उसे कहते हैं कि कोई जीव मरकर मानो बैल बन गया तो जिस समय वह गर्भ में आया तब से लेकर कोई एक दो सेकण्ड तक ऐसी हालत होती है कि जिस पिण्ड के शरीररूप से बन गया उस पिण्ड में स्वयं भी वृद्धि की योग्यता नहीं हो पाती। ज्यों का त्यों रहता है, उसमें बड़वारी नहीं होती है। जब तक उस शरीर के बढ़ने की, बनने की योग्यता नहीं आ पाती है तब तक उसे निवृत्यपर्याप्त कहते हैं। निवृत्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त में फर्क इतना है कि लब्ध्यपर्याप्त तो पर्याप्त नहीं बनेगा और नियम से मरण करेगा। लब्धिपर्याप्त का अपर्याप्त में मरण हो ही जायेगा। निवृत्त्यपर्याप्त पर्याप्त होगा ही, उसका तो पहिले मरण होता ही नहीं है–ऐसे संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त–ये दो प्रकार के तिर्यञ्च हैं।

तिर्यञ्चों में असंज्ञी जीवों की पर्यायें—इनसे और हल्के देखो–असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त व असंज्ञीपंचेन्द्रिय पर्याप्त। जो तिर्यञ्च कान सहित है, पर मन नहीं है, उन्हें असंज्ञीपंचेन्द्रिय तिर्यंच बोलते हैं। उनमें भी पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों होते हैं। इनमें और हल्के जीव देखो तो चतुरिन्द्रिय पर्याप्त और चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त। देखो जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र–ये चार इन्द्रिय हैं और जो पर्याप्त भी हो चुके, वे चतुरिन्द्रिय पर्याप्त हैं और जो इनमें पर्याप्त नहीं हुए, चाहे निवृत्त्य पर्याप्त हों या लब्ध्यपर्याप्त हों, वे अपर्याप्त कहलाते हैं।

इनसे और भी निम्नश्रेणी के तिर्यंच देखो तो तीनइन्द्रिय पर्याप्त और तीनइन्द्रिय अपर्याप्त–बिच्छु, चींटी, कीड़ी आदि ये तीन इन्द्रिय जीव है, पर्याप्त भी है। अपर्याप्त तो जन्म लेने के समय ही कुछ समय के लिए होता है, तो यह अपर्याप्त भी है। दोइन्द्रिय जीव उनसे जघन्यश्रेणी के है। जैसे लट, सीपी, जोंक, कीड़ी दोइन्द्रिय जीव हैं। पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों तरह के होते हैं ये।

एकेन्द्रिय तिर्यंचों की पर्यायें—त्रस से भी निकृष्ट हैं एकेन्द्रिय जीव। एकेन्द्रिय जीव दो प्रकार के पाये जाते हैं–कोई सूक्ष्मएकेन्द्रिय और कोई बादरेकेन्द्रिय। जो अत्यन्त सूक्ष्मशरीर वाले है, दिखने का तो काम ही नहीं है उनका और न भिड़ने का ही काम है। आग जल रही हो तो आग से वे न मरेंगे, वे बहुत जल्दी-जल्दी अपनी मौत से मरते रहते हैं। इतना सूक्ष्म शरीर होता है कि वायु, पत्थर, आग, पानी किसी से भी उनका आघात नहीं होता है। इससे उन्हें कुछ भला न समझो, वे अपनी मौत से तुरन्त जल्दी-जल्दी मरते रहते है। बादरएकेन्द्रिय जीव वे हैं, जिनके शरीर का आघात हो सकता है, लड़-भिड़ सकते हैं, ये हैं बादरएकेन्द्रिय। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति–ये 5 प्रकार के स्थावर होते हैं। इनमें ये चारों जीव समास घटित कर लो, बादरएकेन्द्रिय पर्याप्तभूत और अपर्याप्त तो ये हैं और सूक्ष्मएकेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त हैं। इस तरह से तिर्यंच जीव चौदह प्रकार के जानने चाहिए। तिर्यंचों का तो यह रूप सामने दिख ही रहा है। ये निगोद भी तिर्यंच कहलाते हैं। ये वनस्पतिकाय के भेद में हैं।

इन्द्रियजाति के प्रति संसारी जीवों की मोटी पहिचान—इन जीवों में जरा जल्दी पहिचान करना हो कि यह कितनी इन्द्रिय का जीव है तो मोटी पहिचान बताते हैं। सम्भव है कि यह पहिचान पूरी नियमरूप न हो लेकिन इससे अदांजा बहुत हो जाता है। जिसके कान हों वह पंचेन्द्रिय है ही। चिड़िया है, पशु है, बैल हैं ये सब पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च हैं ही और चौइन्द्रिय तिर्यञ्च छोटे और उड़ने वाले जीव होते हैं। जैसे मक्खी, मच्छर, टिड्डी, ततैया ये चौइन्द्रिय जीव कहलाते हैं और तीनइन्द्रिय जीव वे हैं जो जमीन पर चलते हैं और बहुत से पैर होते हैं, कीड़ी, बिच्छू, कानखजूरा, पटार, गोभी, तिरूला, खटमल, गिजाई ये सब तीनइन्द्रिय जीव हैं। जिनके पैर नहीं होते सरकते हुए रहते हैं, लट, केचुवा, जोक और सीप, कोड़ी, शंख में जो कीड़ा रहता है वह ये सब दो इन्द्रिय जीव हैं। सीप के भीतर कीड़ा है। कौड़ी के भीतर कीड़ा है, ये दो इन्द्रिय जीव हैं। एकेन्द्रिय तो वे हैं जिनके जीभ होती ही नहीं है–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति।

विषमता का अन्तर—देखो भैया ! ज्ञानानंद स्वरूप प्रभु की कैसी-कैसी अवस्थाएँ हैं ? एक अपने स्वरूप को न पहिचानने के कारण कितना अन्तर हो गया है कि एक आत्मा तो देखो वीतराग सर्वज्ञ तीन लोक, तीन काल की बातें जानने वाला है और उस ही बिरादरी का एक यह आत्मा देखो जो पेड़ खड़े हैं, कुछ कर ही नहीं सकते, हिल रहे हैं। ऊंट ऊपर मुँह करके पत्ती खा जाता है, लोग जैसा चाहे काट डालते हैं, मानो उनमें जीव ही न हो। इस तरह का उन पर व्यवहार है। कितना अन्तर हो गया, और उन पेड़ों में और सिद्ध में क्या अन्तर देखना, अपने में और सिद्ध में ही अन्तर देख लो। कहाँ ये हम आप लोग लटोरे खचोरे बन रहे हैं, विषयों के पीछे, पोजीशन के पीछे लग रहे हैं। रहना कुछ नहीं है। काहे की पोजीशन करें ? इस पोजीशन में धरा क्या है ? यहाँ की बातों में धरा क्या है, पर लोगों को कैसा विश्वास हो रहा है इन बातों पर। किसी को अपने स्वरूप की सूझ ही नहीं होती। यह दशा है मोह और रागद्वेष के

कारण।

देवों का परिचय व भवनवासी व व्यन्तरों की परिस्थितियाँ—अब देवगति के व्यञ्जनपर्याय की बातें सुनिये। देव चार जातियों में बँटे हुए हैं–भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक। भवनवासी देव इस पृथ्वी के नीचे जो ऊपरी खण्ड है और नीचे का भी दूसरा खण्ड है इन दो खण्डों में रहते हैं और व्यंतर भी इन दोनों खण्डों में रहते हैं और उनके अलावा व्यंतर टूटे फूटे घरों में पेड़ों में रहते हैं। उनके भी भूख प्यास की पीड़ा नहीं लगती, बहुत दिनों में लगती है तो कंठ से अमृत झड़ जाता है। इस तथ्य को न जानकर उन देवताओं के नाम पर लोग जीवहिंसा भी कर देते हैं। अरे उनका तो अमृत भोजन है, जब उनको भूख लगती है तो कंठ से अमृत झड़ जाता है। निकृष्ट से निकृष्ट देवों के भी यही बात है। हाँ वे कौतुहलप्रिय हैं। अपने को तुच्छ अनुभव करने वाले हैं, उनकी छोटी वृत्ति है। जैसे कि ये नीच आचरण कुल अथवा संस्कार में पले हुए लोगों की वृत्ति ओछी होती है इसी प्रकार उन देवों की वृत्ति ओछी होती है। जब कि देखो भवनवासियों के भेदों में दो-दो इन्द्र हैं और दो-दो प्रतीन्द्र हैं और ऐसे ही व्यंतरों के हैं, यह ओछेपन की ही तो निशानी है। अगर ढंग अच्छा होता तो दो-दो इन्द्र काहे को होते ? विकल्प और आकुलताओं से ये भरे हुए हैं।

ज्योतिष देव—ज्योतिष देव सूर्य, चन्द्र, तारा, नक्षत्र, ग्रह इनमें रहने वाले होते हैं। जो आँखों से सूर्य दिखता है यह स्वयं देव नहीं है। यह तो पृथ्वीकाय का रचा हुआ विमान है। इनमें बसने वाला अधिष्टाता सूर्य है और इसी तरह चन्द्रमा की बात है। इनमें चन्द्र तो इन्द्र है और सूर्य प्रतीन्द्र है और जो कभी गुच्छा सा दिखता है ऐसा लगता है कि बिलकुल घड़े पड़े हैं जैसे थाली में बूंदी फैला देने पर मालूम होता है। इन ताराओं के एक दूसरे के बीच में करीब-करीब एक-एक, दो-दो, तीन-तीन योजन का अन्तर है। ये भिड़ नहीं जाते। इसी प्रकार प्रत्येक तरैयों में देवों का निवास है।

वैमानिक देव—चौथी जाति के देव है वैमानिक। ये उत्कृष्ट जाति के हैं, इनके दो भेद हैं–कल्पवासी और कल्पातीत। कल्पवासीदेव जहाँ रहते हैं उसका नाम है स्वर्ग और उससे ऊपर कल्पातीत देव होता है। इन 16 स्वर्गों में ये जातियाँ हैं। कोई इन्द्र है, कोई सामानिक हैं। इनमें से कोई सलाहकार है, कोई सदस्य है, कोई बाडीगार्ड है, कोई इन्द्र का कोतवाल जैसा है। कुछ सेना है, कुछ प्रजाजन है। कोई वाहन का काम करते हैं। उनमें से कोई हुकुम देने वाला है। किसी हुकुम देने वाले को कहीं जाना है तो उसने हुकुम दिया कि झट घोड़ा सज गया, उनमें से कोई अच्छी वृत्ति वाले हैं, कोई ओछीवृत्ति वाले हैं। यह भेद स्वर्गों से ऊपर नहीं है।

संसारी भवों में उपादेयता का अभाव—देवगति में बड़ी ऋद्धि है, बड़ा वैभव है। अपने शरीर को छोटा बना लें, बड़ा बना लें, हलका बना लें, वजनदार बना लें। बड़े विशाल विस्तार का देह होकर भी बिलकुल हलका बना लें, अनेक सेना बना लें, अनेक मनुष्य बन जायें और अपनी अवगाहना से कहो पहाड़ जैसे बन जायें। बड़ी विचित्र इनकी ऋद्धियाँ हैं। यहाँ तो लोग चिड़ियों की तरह फुर्र से उड़ने को तरसते होंगे कि हम न भये चिड़िया, मंदिर से उड़कर शीघ्र घर पहुँच जाते। कल्पातीत देवों में यह इन्द्रादिक का भेद नहीं होता। प्रत्येक देव वहाँ पूर्ण समर्थ इन्द्र है। इस तरह इन चार जातियों में बँटे हुए ये व्यञ्जनपर्यायें चारों

गतियों के जीवों का वर्णन अन्य ग्रन्थों में करणानुयोग में बड़े विस्तार पूर्वक लिखा है। जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड इन सबमें देख लो विशेष जानना हो तो।

व्यञ्जन पर्यायों के प्रति ज्ञानी की भावना—यह ग्रन्थ आध्यात्मिक है। इसलिए प्रयोजनवश थोड़ा सा लोकरचना का वर्णन किया गया है। इनका वर्णन करने का प्रयोजन भी यह है कि अपने को जानकारी हो जाय कि जीव का ऐसा-ऐसा परिणमन संसार में है। और यह भावना बने कि मैं इनमें किसी जगह पैदा न होऊँ। स्वर्गों का वर्णन सुना, बड़ी ऋद्धियाँ हैं। हजारों वर्षों में भूख लगे तो कंठ से अमृत झड़ जाय। कई पखवारे में सांस ले, इतने वे समर्थ हैं, फिर भी मेरी उत्पत्ति वहाँ न हो ऐसी भावना ज्ञानी जीव के होती है। अज्ञानी जीव तो चाहता है कि हे भगवन् ! हमें खूब पुण्य मिले, स्वर्गों में जाकर देव हों, पर ज्ञानी जिसने ज्ञानानन्द स्वभाव का अनुभव रस चखा है उसके कोई आकांक्षाएँ नहीं होती। एक ही दृष्टि है अपने सहजस्वरूप की।

मानवीय वैभवों में भी ज्ञानी की अनाकांक्षा—भैया ! मनुष्यलोक में भी कैसे-कैसे प्रतापी लोग होते हैं ? नेता, मिनिष्टर, राजा, ऊँचे-ऊँचे लोग जिनकी लोग आगवानी करते हैं। बड़ा प्रबंध किया जाता, स्वागत सम्मान होता। ज्ञानी जीव की दृष्टि में यह आता है कि मैं ऐसा भी नहीं उत्पन्न होना चाहता। मेरा तो जन्ममरण ही न हो। कह दिया लाख और करोड़ आदमियों ने वाह-वाह तो प्रथम तो सब आदमियों ने ही नहीं कहा और कदाचित् सब आदमी वाह-वाह कह देवें तो ये घोड़ा-बैल तो हमारी वाह-वाह नहीं करते। क्या इनमें जीव नहीं है ? क्यों इन्हें छोड़ते हो ? ऐसा वैभव बढ़ाओ कि ये गधे कुत्ते भी वाह-वाह करें। पर यहाँ तो सभी लोग भी वाह-वाह नहीं करते हैं, और फिर और भी देख लो अनन्ते जीवों में से लाखों हजारों जीव क्या गिनती रखते हैं ? उन्होंने वाह-वाह कर दिया तो क्या हुआ ? भैया ! वाह-वाह क्या है ? वाह का उलटा पढ़ो, क्या हुआ ? हवा। जैसे हवा बहती है वैसे ही वाह-वाह की बात है। वाह-वाह कह दिया किसी ने तो उससे मिलता जुलता कुछ नहीं, कोरी उल्टी हवा चल गयी है।

विद्याधर व देवों की ऋद्धि की अनाकांक्षा—विद्याधरों में देख लो, आविष्यकारकर्ता भी बहुत बड़े-बड़े कला-कौशल दिखाते हैं, जिससे अचम्भा भी किया जाता है, इनमें भी ज्ञानी जीव उत्पन्न होने की भावना नहीं होती है। देवलोक है, बड़े-बड़े भवनवासियों के ठाठ के महल हैं, और उनके रत्नमय महलों में भी बड़े-बड़े मन्दिर हैं व छोटे से छोटे मन्दिर भी है, यहाँ के बड़े-बड़े राजाओं से भी ऊँचा सुख-वैभव है–ऐसे देवों में भी और ऊँचे वैमानिक देवों में भी ज्ञानी जीव के जन्म की वाञ्छा नहीं रहती और नरकों के निवासियों में ज्ञानी जीव के तो क्या, किसी की इच्छा नहीं रहती। किन्हीं भी संसारी जीवों में इस ज्ञानी जीव के जन्म की इच्छा नहीं रहती है। ज्ञानी के वाञ्छा रहती है तो एक यही कि हे नाथ ! कारणपरमात्मतत्त्व और कार्यपरमात्मतत्त्व के वैभव के स्मरण में ही मेरी भक्ति बार-बार हो।

तृष्णा न करने का उपदेश—हे आत्मन् ! राजा इन्द्र बड़े-बड़े महात्माओं के वैभव को सुनकर अथवा देखकर हे जड़वैभव वाले पुरुष ! तू व्यर्थ में क्लेश को प्राप्त होता है। अपनी रूखी-सूखी खा रहा था, बड़ी मौज में था, दूसरों की चुपड़ी देख ली, इसी से बीमार हो गए। हाय ! मुझे ऐसा न हुआ, थोड़ी-सी पूंजी थी, खर्च चलता था, आराम था और जहाँ शहर का मुख देखा कि बस हो गये बीमार। अब वह बीमारी ऐसी लग

गयी है टी०बी० की तरह की कि मरे तब ही छूटे। तो कहते हैं कि हे जड़बुद्धि वाले पुरुष ! तू दूसरे के वैभव को देखकर क्यों क्लेश को प्राप्त होता है ?

ज्ञानी की हितबुद्धि—भैया ! यह वैभव यद्यपि पुण्य से प्राप्त होता है, परन्तु आप यह बतलाओ कि भेद कैसे आ गये–कोई दरिद्र, कोई श्रीमान् । पूर्वकृत जो पुण्यकर्म हैं, उनके उदय का फल है। उसमें ऐसा नहीं है कि किसी के पुण्योदय है तो प्राप्त ही होना चाहिए। परिणाम खोटे हों और उन खोटे परिणामों के कारण जो विशेष अभ्युदय हुआ था, सो रुक गया। ज्ञानी पुरुष कहता है कि हे प्रभो ! मुझे वैभव को प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु हे जिननाथ ! आपके चरणकमलों में, पूजा में, स्मृति में मेरी भक्ति जगे। वह ज्ञानी पुरुष करेगा ऐसे शुभ काम, पर उसका चित्त विरक्ति में रहता है, विरक्ति से ही वह अपना हित मानता है। व्यंजनपर्यायों का वर्णन करके जिसमें कि द्रव्यव्यंजनपर्याय भी आते हैं और विपरीत गुणपरिणाम भी, चूँकि व्यंजन है, व्यक्त है, वह भी गर्भित है। उन पर्यायों के साथ इस आत्मा का और उन पर्यायों के कारणभूत कर्मों के साथ आत्मा का और उनके फलभूत सुख-दुःख आदिक के साथ आत्मा का क्या सम्बन्ध है अथवा सम्बन्ध नहीं है ? इस विषय को स्पष्ट करने के लिए कुन्दकुन्दाचार्यदेव यह कहते हैं–

गाथा 18

कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारो।
कम्मजभावेणादा कत्ता भोत्ता हु णिच्छयदो।।18।।

कर्म के कर्तृत्व व भोक्तृत्व में अपेक्षा—मालूम ऐसा होता है कि आत्मा पुद्गलकर्मों का करने वाला है और यह आत्मा उन कर्मों के उदय के फलभूत दुःखों को भोगने वाला है, इस सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं कि यह आत्मा पुद्गलकर्मों का कर्ता और भोक्ता है, यह तो व्यवहारनय का दर्शन है और आत्मा कर्मजनित विभावपरिणामों का कर्ता और भोक्ता है यह निश्चयनय से है। यहाँ निश्चयनय से मतलब है अशुद्धनय से। आत्मा का परपदार्थों के साथ परिणमन में निमित्तपना भी अधिक निकटता से है तो कर्मों के साथ है। इस कारण इन द्रव्यकर्मों का यह आत्मा कर्ता है निकटप्राप्त अनुपचरित असद्भूत व्यवहार से।

कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व में अनुपचरित असद्भूतव्यवहारता—पुद्गलकर्म भिन्न पदार्थ है, इसलिये पुद्गलकर्म में आत्मा का कर्तृत्व बताना असद्भूत है, किन्तु यहाँ प्राकृतिक नैमित्तिकता है, इस कारण यह अनुपचरित है। जैसे हम अन्य मकान, दुकान, मेल-मिलाप, विरोध, विनाश इनके करने वाले कहा करते हैं, किन्तु इनमें निकटता नहीं है, इसलिये ये अनुपचरित नहीं है। आत्मा का जैसा विभावपरिणमनों से उस द्रव्यकर्म का सम्बन्ध है इसी प्रकार विषयभूत बाह्यविषयों का भी सम्बन्ध है, किन्तु यह विषयभूत बाह्यपदार्थों का नियात्मक सम्बन्ध नहीं है। इसी कारण यह बात सामने आती है कि किसी को मन्दिर प्रतिमा के दर्शन भी हों तो भी उसके भाव नहीं सुधरते। यह जीव समवशरण में भी अनेक बार गया तो भी नहीं सुधरा। सब निमित्त फेल हो गये हैं, कोई नियामक नहीं रहा। अरे भाई ! निमित्त ही नहीं है। निमित्त तो कर्मों का उदय, उदीरणा, क्षय, क्षयोपशम है, वे तो बाह्यपदार्थ हैं, उनके साथ तुम्हारा अन्वयव्यतिरेक कुछ नहीं है। जैसे कि विभावपरिणामों का और द्रव्यकर्म का परस्पर में निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, उस

प्रकार का यहाँ नहीं पाया जाता है। अत: द्रव्यकर्म का कर्ता यह जीव आसन्नगत अनुपचरित असद्भूत व्यवहार से है और उनका फल भी सुख-दु:ख को भोगने का कथनव्यवहार से है।

अशुद्धनिश्चयनय से जीव के विभाव का कर्तृत्व व भोक्तृत्व—निश्चयनय अर्थात् अशुद्धनय से यह जीव मोह, राग, द्वेष आदि भावकर्मों का कर्ता है और उनका भोक्ता है अथवा असद्भूतव्यवहार से यह कर्म शरीरादिक का कर्ता है। इन सबमें निमित्तनैमित्तिकता है, क्योंकि मैं घड़ा बना लेता हूँ, कपड़ा बुन लेता हूँ, मकान बना देता हूँ–ऐसा कहना यह उपचरित असद्भूतव्यवहार से है। इस तरह पहिले जो वर्णन चला था, उस वर्णन में समझाये गये उन पर्यायों के साथ, उपयोग के साथ, कर्मों के साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं है–ऐसा बताने के लिये यह उपर्युक्त गाथा कही गयी है। सद्भूतव्यवहार मतिज्ञान आदि के पर्यायों में बताया जाता है कि ये ज्ञानगुण के आंशिक विकास हैं। जो स्वभाव से नहीं उत्पन्न होते हैं, उनको असद्भूत कहा गया है–ये सब रागद्वेष मोहादिक जो कुछ भी परिणाम हैं, ये सब असद्भूत हैं। विभावपरिणाम वाले पुरुष कब इस परिणाम से हटकर और किस उपाय से चलकर यह निर्विकल्प सहजसमयसार को जानें ? इस का उपाय एक पूर्व में परमगुरु के चरणयुगल की सेवा करना है। परमगुरु अरहंत देव कहलाता है।

आत्मा का शरण—परमार्थत: हमारे लिये हमारा शरण हमारा परिणाम है। जब विषयकषाय और कल्पनाओं के संकटों से घिर जाते हैं, उन संकटों से छूटने का उपाय निर्विकल्प, निष्कषाय परमगुरु के स्वरूप का आश्रय है। बाकी समस्त उपाय नागनाथ, साँपनाथ जैसे पर्यायान्तर है। उनमें यह छटनी करने लगे कि यह उपाय हमें संकटों से बचायेगा और यह न बचाएगा–ऐसा नहीं है। एक ही ज्ञानस्वरूप का स्मरणरूप उपाय संकटों से बचा सकता है। जीवनभर यही तो करना है। कितना ही सताए हुए हों कर्मोदय के, फिर भी जब कभी सुधार होगा, आत्मप्रगति होगी तो केवल इसी आत्मज्ञान के प्रसाद से होगी। दूसरा कोई कितना ही मित्र हो, बचा नहीं सकता।

लोक में अशरणता—भैया ! पुराने समय की बात जाने दो और अपने घर की भी बात जाने दो। मान लो कि हम छोटे पुरुष हैं, पर आज भी जैसे जो बड़े मान गए हैं, उनके मरण का जब समय आता है तो सारे देश के प्रमुख भी हैरान रहते हैं कि बचा लें, पर कोई बचा नहीं पाता है। कभी सिकन्दर सम्राट था, मरण के समय क्या-क्या हिकमत नहीं की गयी होगी और आज के जमाने में गाँधी व नेहरू भी सम्राट थे, जिनकी चिंतना का आदर, विचारों का आदर आदि सब देश करते थे और उनको महत्त्व की दृष्टि से देखते थे। मरण के समय में उन्हें कोई न बचा सका। किसी से कोई आशा रखना सब व्यर्थ की बातें हैं। जिससे चित्त आपका लगा हो, जिसे आप अपना इष्ट मानते हों, उससे भी अपनी शान्ति की आशा रखना व्यर्थ की बात है, क्योंकि पर की ओर दौड़ते हुए उपयोग में वह सामर्थ्य नहीं रहती कि कुछ शांति का लाभ करा सके। जिस किसी को भी जो कि सबसे अधिक प्रिय है और इष्ट है, उसका उपयोग उतना ही बाहर दौड़ा और भूला हुआ है। वह तो शांति से अधिक ही दूर हो गया है।

पर से अलगाव—संसार में कहते हैं कि दु:ख तो है पर्वत बराबर और सुख है राई बराबर। यहाँ सुख से मतलब है इन्द्रियसुख का। वास्तव में इस संसार में कहीं सुख का नाम नहीं है, पर लगे फिर रहे हैं उस ओर ही आसक्ति बनाए रहने में। क्या करेंगे जोड़-जोड़कर ? किसी दिन सर्व कुछ छोड़कर चले ही

जायेंगे। लड़का, भतीजा आदि किसी के भी तुम ठेकेदार नहीं होते, उनमें सुमति होगी, उनका अनुकूल उदय होगा तो वे अपने बूते पर सुखी रहेंगे। आपके छोड़े हुए वैभव के खातिर वे सुखी न रहेंगे और यदि कुपूत होंगे, कुबुद्धि जगेगी तो आप तो कुछ छोड़कर जायेंगे, वह सब एक हफ्ते में ही स्वाहा कर देंगे, फिर किसकी चिंतना में वैभव जोड़ने के ये सब विकल्प किये जा रहे हैं ? यह सब कुछ गम्भीरता के साथ सोचना चाहिये।

गृहस्थ का वैभव—यद्यपि गृहस्थावस्था में कुछ वैभव की आवश्यकता है। न हो कुछ वैभव तो काम नहीं चलता है, पर इतनी हिम्मत भी तो साथ में रहनी चाहिये कि इस वैभव के रहते हुए यदि कोई कार्य आ पड़े, वह कार्य करने योग्य है तो उसके लिए यह सब व्यय भी किया जा सकता है–ऐसी मन में सामर्थ्य बने तब तो समझो कि गृहस्थी के लिए आवश्यकता है, इसलिए वैभव बनाया है अन्यथा केवल मन को मोह में पागने के लिए ही ये विकल्प बनाए जा रहे हैं।

परमश्री की प्रसाधना—जो मनुष्य वीतराग निर्विकल्प सर्वज्ञ कार्यसमयसार के गुणस्मरण के प्रसाद से और उसके अनुरूप कारणसमयसार की दृष्टि की कृपा से इस सहजसमयसार को जानता है, वह अवश्य ही परमश्री का अधिकारी होता है। संसार दु:खमय है, इसे मिटाना है तो हम कौन-सा काम करें कि यह संसार टले, संकट मेरे टलें, संसार बना है द्रव्यकर्म का निमित्त पाकर। ऐसे द्रव्यकर्म के मिटाने में हमारा बल नहीं चलता है, क्योंकि पर परद्रव्य ही है। द्रव्यकर्म के मिटाने का निमित्त है भावकर्म न होना। सो हमारा बल इस पर तो चल सकेगा कि मुझमें भावकर्म न बनें, किन्तु द्रव्यकर्म का मिटाना और इस पर्याय को दूर करना, इस पर हमारा जरा-सा भी बल नहीं है और भावकर्म का भी मिटाना और रोकना यह भी तो जैसा मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, उस ही स्वरूप के आश्रय के द्वारा ही तो संभव होता है।

धर्म और धर्म का पालन—धर्म एकस्वरूप है और धर्म की विधि भी एकस्वरूप है और धर्म का फल भी एकस्वरूप है। धर्म है सहजस्वभाव का आश्रय करना। प्रथम तो जो धर्म है वह पालन करने की चीज नहीं है, व्यवहार की बात नहीं है। परिणमन और परिवर्तन से सम्बन्ध नहीं रखता, वह है आत्मा का विशुद्ध स्वभाव। वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। वह तो सब जीवों में है। जो पालन करे उसके भी है, न पालन करे उसके भी है। उस वस्तुस्वभावरूप धर्म की दृष्टि देना यही है पालन करने का धर्म। जहाँ पालन करने की बात आए वह हो गया व्यवहार तो निश्चय धर्म है ज्ञानस्वभाव और व्यवहार धर्म है ज्ञान स्वभाव का आश्रय करना और इस ज्ञानस्वभाव के आश्रय करने के प्रोग्राम में जो स्वाध्याय गुरु संग आदिक बातें हैं, वे व्यवहार धर्म के प्रति व्यवहार धर्म है।

संसार के निरोध का मूल पुरुषार्थ—इस ज्ञानदृष्टि के पड़ने से भावकर्म का निरोध हुआ, जिसके प्रताप से द्रव्यकर्म का निरोध हुआ है और द्रव्यकर्म का निरोध होने से संसार का निरोध होता है। जैसे एक सूई से दो तरफ नहीं सिया जा सकता है कि आगे को भी सिये और पीछे को भी सिये। एक मुसाफिर पूरब को और पश्चिम को एक साथ जाय, ऐसा नहीं कर सकता है। इसी प्रकार संसार के भोग भोगना और मोक्षमार्ग में प्रगति करना–ये दो बातें एक साथ कभी नहीं हो सकती हैं। धन वैभव परिजन पोजीशन में अपने चित्त को उलझाना और उनमें ही अपना बड़प्पन मानना ये सब संसार की बातें हैं, अशांति के

कारण है।

इन्द्रजाल—जैसे किस्सों में सुनाया करते कि किसी गधे को कहीं शेर की खाल पड़ी हुई मिल गई। सो उस खाल को ओढ़कर अपने को बड़ा मान मानकर जंगली जानवरों पर हुकुमत करता है और अपने में बड़प्पन महसूस करता है, किन्तु यथार्थ जानने वाला तो उस पर हास्य करता है। कहीं लोमड़ी गिर गयी रंगरेज की रंग की हौज में सो वह नीली हो गई और कहीं से एक डंडा मिल गया और कहीं से मिल गया पुट्टा सो वह जंगली जानवरों पर सितम ढालने लगी। तुमको मालूम है कि मुझे भगवान ने इन जंगली जानवरों पर राज्य करने के लिए भेजा है। इसी तरह कुछ धन मिल जाय, परिजन मिल जायें, पुत्र स्त्री आदिक, हाँ में हाँ मिलाने वाले मित्र मिल जायें अथवा कोई लोग इज्जत रखें तो उन बातों को मानो लोमड़ी की तरह अपना बड़प्पन महसूस करते हैं। हम सीधे भगवान के भेजे हुए हैं। अरे क्या बड़प्पन करना ? वे सब विषाद की चीजें हैं। हर्ष मानने की चीज नहीं है। इन सब बातों को विषफल खाने की तरह बताया है ? जैसे विषफल देखने में बड़ा सुन्दर लगता है और खाने में जहरीला होता है, उसके खाने का फल मरण ही होगा। तो खुश हो हो करके मर सकें, मिट सकें, बरबाद हो सकें, ऐसी घटनाओं का ही तो नाम इन्द्रजाल है। सो खुश होकर पंचेन्द्रिय के विषयों में आनन्द मानकर गिर रहे हैं, बरबाद हो रहे हैं, खेद कर रहे हैं। यही तो अवसर का खो देना है।

गोरखधन्धा—एक कोई राजा का मित्र था, दुर्भाग्यवश गरीब हो गया तो उससे राजा को संकेत किया। तो राजा ने हुक्म दे दिया कि इनको ले जाओ, एक बजे से 3 बजे तक दो घंटे में खजाने से जितना जो कुछ ला सकें ले आवें। वह सेठ गया दूसरे दिन। तनिक दरवाजे के अन्दर घुसा तो वहाँ देखा कि बहुत सुहावना गोरखधंधा रखा हुआ है। सो जैसे छल्ला होते हैं एक में एक फंसे हुए, वैसे ही फंसे हुए थे। सो उन्हें वह निकालकर देखने लगा। जब वह सुलझने लगा तो और भी छल्ले कसते ही चले जायें। निकालने की वह कोशिश करे पर छल्ले फंसते जायें। ऐसे गोरखधंधे में वह पड़ गया। तो जो खजाञ्ची था वह बोला कि हमारा गोरखधंधा ठीक करो तब भीतर पैर रख सकते हो। तो ज्यों-ज्यों वह सुलझाए त्यों-त्यों छल्ले फंसते जाएं। इन गोरखधंधों में ही उसके दो घंटे बीत गए, कुछ भी वहाँ से ला न सका। यही हाल हम आप सबका है। रिटायर हो गए हैं, मरण के दिन निकट आ गए हैं, फिर भी अपना कल्याण करने का कुछ अवसर ही कभी नहीं आ पाता है।

भावी स्थिति पर धर्मपालन की आशा का स्वप्न—आज जैसी परिस्थिति है उस परिस्थिति में ही अपने हित की बात बनालो, और यह ध्यान करने लगें कि हमारा फलां काम बन जाय, थोड़ी-सी तो बात रह गयी है, लड़के समर्थ हो जाएं, मुन्ना का विवाह कर दें, फिर कोई चिंता न रहे, फिर अच्छी तरह से धर्म करेंगे। तो भाई इस तरह से धर्म करने का अवसर नहीं आता है। जब अच्छी स्थिति होती है तो धर्म करने का ख्याल ही नहीं आता और जब कठिन बीमारी पड़ जाय तो झट ख्याल आ जात है कि मैं आत्महित के लिए कुछ नहीं कर पाया। यदि मैं इस बार बच जाऊँगा तो केवल आत्महित का ही काम करूंगा और फिर कुछ नहीं करना है। बच जाय तो कुछ ही समय बाद मामला लेबिल पर पहिले जैसा ही पहुँच जायेगा।

दुःख सुख में प्रभु के स्मरण व विस्मरण की आदत—एक आदमी नारियल के पेड़ पर चढ़ गया। चढ़ने को तो चढ़ गया पर उतरते समय ज्यों ही उसने नीचे को देखा तो भयभीत हुआ। सोचा कि अब मेरे बचने की उम्मीद नहीं है। सो उसने सोचा कि यदि मैं सही सलामत उतर जाऊँ तो 100 पुरुषों को भोजन कराऊँगा। उसने हिम्मत बाँधी और तुरन्त कुछ नीचे उतर आया। सोचा कि 100 तो नहीं पर 25 को जरूर भोजन कराऊंगा और नीचे उतरा तो सोचा कि 5 को जरूर भोजन कराऊंगा, और जब बिलकुल नीचे उतर आया तो सोचा कि वाह उतरे तो हम हैं, किसी को काहे भोजन करायें ? तो जैसे-जैसे दुःख कम हो जाते हैं वैसे ही वैसे फिर वही पहिले जैसी हालत हो जाती है।

सिद्धान्त और मन्तव्य के ओर छोर—यह जीव सम्यग्ज्ञान के भाव से रहित होकर भ्रांत होता है, शुभ अशुभ नानाप्रकार के कर्मों को करता है और वह मोक्षमार्ग में नहीं लग पाता है। मोक्षमार्ग में लगने का उसे कोई अवसर ही नहीं है। जैसे सिद्धान्त में सर्व जीवों को एकस्वरूप देखने का उपदेश है उस सिद्धान्त के मानने की तो हम दुहाई देते हैं और हम धर्म के नाम पर धर्म के ही नाते सर्व धर्मीजनों को हम एक समभाव की दृष्टि से नहीं निहार सकते। तो बतलाओ कहाँ धर्म के निकट आए ? मंदिर का प्रसंग हो, जलूस का उत्सव हो, तो उन आयोजनों में भी अपने माने हुए मंत्व्यों की दीवाल अड़ जाती है। यह हमारा मन्दिर है यह उनका है, यह हमारा आयोजन है यह उनका है, यह मेरा जलूस है और यह दूसरे का है–ऐसी बात लोगों के घर कर जाती है। तो अब और आगे कैसे गाड़ी चले ? बहुत पीछे हटे हुए हैं धर्ममार्ग से। अब धर्म में बढ़ना है तो चुपचाप अपने आपमें अपनी सफाई करके बढ़ो। इसी से ही कुछ तत्त्व मिलेगा, बाकी तो सब चार दिन की चांदनी फिर अंधेरी रात।

धर्मयोग—जो जीव इन्द्रियजन्य सुख का त्याग करके अथवा कर्म सम्बन्धी सुख का त्याग करके कर्मरहित सुखसमूहरूप अमृत जल के समूह में अर्थात् आत्मतत्त्व में मग्न होते हुए होते हैं, ऐसे भव्य आत्मा इस चैतन्यमय एक अद्वितीय आत्मभाव को प्राप्त हों। धर्म की समस्या सुलझना बहुत सरल है और बड़ी विद्याओं व धर्मज्ञान की बड़ी बातें समझने में कुछ संदेह भी किया जा सकता है, विशद बोध नहीं भी हो पाता है पर धर्म की समस्या सुलझाना कुछ कठिन नहीं है।

धर्म की समस्या की प्रयोगात्मक सुलझन—पुराणों में कथन है स्वर्ग अथवा नरक की रचना है अथवा तीन लोक, तीन काल की रचना है यह सब श्रद्धा के द्वार से माना जाता है। कोई तो उनमें श्रद्धाबल से बहुत निश्चय रखते हैं। मान लो कोई न भी रख सके तो धर्म की समस्या सुलझाने में कहाँ विवाद यह तो प्रयोग वाली बात है। जैसे व्यवहार की बात प्रयोग करके हम ठीक ज्ञान कर लेते हैं। जैसे कि सबने देखा होगा कि अग्नि से रोटी पकती हैं, बड़ा दृढ़ विश्वास है, खाने-पीने से खूब सुख शांति होती है अथवा अमुक प्रकार से व्यापार करने में लाभ होता है। कितनी बातें प्रयोग करके देख लेते हैं या किसी को गाली देने से चांटे रसीद होते हैं, प्रयोग करके देख लो ना। किसी से भले शब्द बोल दो, प्रेम से मीठी वाणी कह दो तो उसके एवज में भली बात सुनने को मिलती है। जैसे प्रयोग से अनेक बातें निर्णय में आती है, इसी तरह धर्म और अधर्म के प्रयोग से सब बातें निर्णय में आ जाती है।

अधर्म से शान्ति का प्रयोगात्मक निर्णय—किसी से राग करो, मोह बढ़ाओ तो उस काल में भले ही

सुहावना लगता है, पर उत्तरकाल में कितनी चिंताओं में पड़ जाता है और अन्त में मिलता भी कुछ नहीं है। वह ही विरुद्ध हो जाए तो संक्लेश किए जाते हैं अथवा अनुकूल बने रहें तो राग कर करके बरबाद हो जाते हैं। जैसे लोक में हुक्म देने वाले भी दुखी है और हुक्म मानने वाले भी दुखी है। दोनों के दु:ख अपनी-अपनी जगह है। हुक्म मानने वाला तो जानता है कि यह हुक्म देने वाला बड़ा है, सुखी है, जो मन में आया हुक्म दे डाला, किन्तु हुक्म देने वाले को कितनी विपत्तियाँ सताती है, कितनी जिम्मेदारी उस पर है, उसको हुक्म मानने वाला नहीं पहिचान सकता। इसी तरह द्वेष में तो दु:ख है, विरोध में, लड़ाई में दु:ख है, यह सब जानते हैं, किन्तु राग करने में जो क्लेश हैं, इसे पहिचानने वाला ज्ञानी ही हो सकता है।

धर्म और अधर्म से हित अहित के निर्णय की प्रयोगसाध्यता—भैया ! रागद्वेष करने से हम आकुलता में पड़ते हैं और रागद्वेष न हो, किसी परवस्तु का लगाव न हो तो प्रयोग करके देख लो कि आकुलताएँ शांत होती हैं या नहीं। प्रयोग करके देखा कि निर्णय हो जाता है कि रागद्वेष मोह करना तो अधर्म है और रागद्वेषमोह से विमुख होकर एक जाननहार बने रहना धर्म है। अरे भैया ! हम जाननहार भी नहीं बनना चाहते, पर क्या करें, यह तो हमारा गुण है। विवश होकर जानन तो हुआ ही करेगा, सो हो, मात्र जानन से कोई क्लेश नहीं है। यह निर्णय कर लेना कठिन बात नहीं है, पर कोई मानना ही नहीं चाहते, इस ओर अपनी बुद्धि लगाना ही नहीं चाहते तो उसका क्या इलाज ?

असत्याग्रह की अकर्तव्यता—भैया ! हठ करना अच्छी बात नहीं होती है। अनुकूल उदय है, इष्ट सामग्री मिल गयी, जिसे जो इष्ट हुआ तो अब वैसा गर्विष्ट बनकर मनमाना व्यवहार बनाना आदि ऐसी हठ का फल बुरा है। इस हठ के फल में बाद में ऐसी घटनाएँ आ जाती हैं कि खुद को ही मात खाना पड़ता है। उदय कब तक अनुकूल चलेगा ? सुख और दु:ख चक्र के आरों की तरह इस लोक में घूम रहे हैं। हाँ सुख दु:ख का विनाश हो और आत्मीय आनन्द प्रकट हों तो वह बात अहित की नहीं है। यह तो संसार से परे जो शुद्ध आत्मा है उनकी कला की बात है।

ज्ञानात्मक आत्मा के ज्ञान की सहजसाध्यता—अपने ज्ञान की थाह पा लेना, मर्म जान लेना यह भी कठिन नहीं है, इसके लिए भी कोई बड़ी विद्याएँ हम जानते हों, बहुत शास्त्रों के विद्वान हों तब हम अपने आत्मा के मर्म की बात जान सकेंगे ऐसा नहीं है, वह तो जानन का अधिकारी है ही, किन्तु जो अल्पज्ञ हैं वे भी एक बात मन में आ जाय कि इस लोक में समस्त समागम जंजाल असार हैं, भिन्न हैं मेरे लिए ठीक नहीं है इस ज्ञान के बल पर अपने उपयोग को ऐसा बनाएं कि किसी भी बाह्यपदार्थ का खयाल न करें तो स्वयमेव अपने आप उस ज्ञानज्योति का अनुभव हो जायेगा। तो ये सब बातें बड़े प्रेम की है। जगत के जीवों में किसी भी प्रकार का भेद और विरोध न रखकर अपने आपकी प्रीति रीति बढ़ाकर अपने में मग्न होने का यत्न करें तो बात बन सकती है। यह बहुत बड़ा वैभव है कि हम अपनी पोजीशन को महत्त्व न देकर अपने को श्रद्धान ज्ञान और आचार विचार से भरपूर अनुभव करें।

तत्त्वज्ञपुरुष की उत्कृष्ट आसीनता—भैया ! आत्महितयोगी के प्रति यही हो सकता है कि कोई प्रशंसा न करेगा, पर उस प्रशंसा की भी परवाह नहीं है उस तत्त्वज्ञानी पुरुष को। जो जीव कर्मज सुख को छोड़कर

निष्कर्म सुख में रुचि करता है वह एक अद्वैत ज्ञायकस्वरूप को प्राप्त कर लेता है। वैभव होता है, रागद्वेष चलते हैं, इसकी कोई अधिक चिंता नहीं है। चिंता तो इसकी होनी चाहिए कि मेरा जो अपने आपका स्वरूप है वह जानन में क्यों नहीं आता ? कुछ भी स्थिति हो। अपने उपयोग में अपना सहज आत्मस्वरूप जो सर्व कर्म और विभावों से रहित है, शुद्ध आत्मा का जो केवल स्वरूप है वह अनुभव में आए क्योंकि इस ज्ञानानुभव के बिना अन्य प्रकार से इस जीव की मुक्ति नहीं है। संसारी जीव में सांसारिकता के ढंग से गुण प्रकट होता है और सिद्ध जीवों में उनका आनन्द परमगुण प्रकट हुआ है यह व्यवहार नय का विषय है।

आत्मस्वरूप की झलक—निश्चय से तो भैया ! एक निशाना भर मिलता है वह न मुक्त है, न संसारी है किन्तु एक लक्ष्यभूत चिह्न विदित हो जाता है। किसी पुरुष के बारे में पूछें कि यह कौन है ? तो कोई कहेगा कि यह बालक है, पर यह भी कोई स्थायी उत्तर नहीं है। जवान है, धनी है, अमुक का पिता है, अमुका का लड़का है। ये कुछ चिह्न इस मनुष्य में नहीं पाये जाते हैं। इस मनुष्य का तो सही वर्णन बताओ कि यह स्वयं क्या है ? तो कहना होगा कि सब प्रकार की बातें कह चुकने के बाद भी अब निष्कर्ष में सबसे रहित है और यह मनुष्य है सो समझ जायेगा। यह आत्मा न कषाय सहित है और न कषाय रहित है, किन्तु एक सहजज्ञायकस्वरूप है अंगुली को अंगुली से जकड़ दिया जाय उस स्थिति में पूछा जाय कि अंगुली का स्वरूप कैसा है ? तो यह अंगुली जकड़ी हुई है, बंधी हुई है, यह स्वरूप है। यही तो अंगुली का स्वरूप है। अरे यह तो एक परिस्थिति बतायी है। अंगुली में जो कुछ है वही अंगुली का स्वरूप है। गाय कैसी है ? अरे बंधी है। वह न बंधी है और न छूटी है। अंगुली का बंधा भी स्वरूप नहीं है और छूटा भी स्वरूप नहीं है। गाय में जो कुछ पाया जाता है वह गाय का स्वरूप है। सो संसारी जीवों में विभावपरिणमन है और मुक्त जीवों में स्वभावपरिणमन है। यह सब व्यवहारनय का वर्णन है। निश्चय से तो यह आत्मा न मुक्त है और न संसारी है। यह ज्ञानवंतों का निर्णय है। इस ही प्रकरण से उठकर कुन्दकुन्दाचार्यदेव नयविभागपूर्वक इसका निर्णय करते हैं।

गाथा 19

दव्वत्थिएण जीवो वदिरित्तो पुव्वभणिदपज्जाया।
पज्जयणयेण जीवा संजुत्ता होंति दुविहेहिं।।19।।

ज्ञान दर्शन की शाखाओं का विस्तार—द्रव्यार्थिकनय से जीव पूर्व में कही हुई पर्यायों से भिन्न है और पर्यायार्थिक नय से यह जीव दोनों प्रकार की पर्यायों से सहित है। जो शुद्ध है वह शुद्ध पर्याय से सहित है और जो अशुद्ध है वह अशुद्ध पर्याय से सहित है। जीव के सम्बन्ध में बहुत वर्णन चला है। पहिले तो उपयोग स्वरूप का वर्णन था और उसके विस्तार में स्वभावज्ञान, विभावज्ञान, कारण स्वभावज्ञान, कार्य स्वभावज्ञान, सम्यक्विभावज्ञान, केवलविभावज्ञान और दर्शन के सम्बन्ध में स्वभावदर्शन, विभावदर्शन, कारण स्वभावदर्शन, कार्यस्वभावदर्शन–ऐसे विस्तारपूर्वक गुणों और गुणपर्यायों को बताया है। और गुणपर्याय तथा व्यंजनपर्याय इन सबका माध्यमभूत जो अर्थपरिणमन है उसका वर्णन किया और व्यंजनपर्यायों का वर्णन

किया।

ज्ञानदर्शन की विस्तार विवेचना में शिक्षा—इस सब वर्णन के बाद अब शिक्षारूप में क्या ग्रहण करना है ? इस बात को इस पद्धति में बतला रहे हैं कि द्रव्यार्थिकनय से जीव पूर्वोक्त सर्व पर्यायों से भिन्न है। देखो ना कोई वकील गलती से बेहोशी से नशे में अपने ही खिलाफ बात बोल जाय, दूसरे वादी के अनुकूल बात बोल जाय, उस बात को बोलकर फिर यह कह देवे कि इतने में फिर हमारी नींद खुल गयी। विरोध-विरोध में ही सब बोले जिससे अपना मुकदमा खराब हो जाय और बोलने के बाद फिर कहे कि ऐसा देखा–इतने में नींद खुल गयी। ऐसी ही बात यहाँ हो गयी कि पर्यायों का वर्णन किया, स्वभाव को छोड़कर पर्यायों को विस्तृत किया और करने के बाद अब कह रहे हैं द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से कि ये जीव इन सब पर्यायों से भिन्न हैं।

यहाँ दोनों नयों की सफलता बतलायी जा रही है। भगवान अरहंत परमेश्वर के द्वारा भणित ये दो नय हैं–द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय ये परमेश्वर से आए हुए हैं, जैसे कहते हैं ना कि परमेश्वर के भेजे गए ये संदेश हैं। परमेश्वर से आये हुए संदेश हैं अर्थात् उनके उपदेश की परम्परा से चला आया हुआ यह निर्णय है। द्रव्यार्थिकनय कहता है कि जिसका द्रव्य ही प्रयोजन हो, द्रव्य ही देखने का मतलब हो। मतलब तो छोटी चीज है। मत का लब-मायने माने गये की छोटी-सी बात लवलेश जो मानता है, उसकी मामूली, रंच सी बात उसका नाम है मतलब और मतबल जो अपना मन होता है उसमें बल है, पुष्टि है। तो जिसका लक्ष्य एक द्रव्य देखने का हो उसे कहते हैं द्रव्यार्थिकनय और पर्याय ही जिसका प्रयोजन हो उसे कहते हैं पर्यायार्थिकनय। भगवान् का उपदेश एक नय के आधीन नहीं है। एक नय के आधीन ही हुआ उपदेश ग्रहण करने योग्य नहीं है क्योंकि इन दोनों नयों के आधीन हुई बुद्धि ग्रहण कहने के योग्य है। निरपेक्ष नय का विषय निर्णय में ठीक नहीं हो सकता।

एक नय की अग्राह्यता—एक नय के ही रखने में भले ही एक गौण रखें, एक मुख्य रखें पर दूसरे को कतई न मानना इतना जो एक सिद्धान्त है कोई नय का वह उपदेश ग्राह्य नहीं है। इस ही का तो फल है कि कोई क्षणिकवाद निकल आया, कोई अपरिणामवाद निकल आया, किन्तु हित की दृष्टि से एक नय प्रधान बनेगा, दूसरा नय गौण रहेगा। यह ठीक है पर जानकारी सब नयों की नहीं होती तो केवल एक नय की जानकारी का उपदेश ग्राह्य नहीं है।

द्रव्यार्थिकनय से जीव का स्वरूप—यहाँ बतला रहे हैं कि द्रव्यार्थिक नय से सब जीव उन समस्त पर्यायों से भिन्न हैं। द्रव्यार्थिकनय का कैसा बल है कि वह सत्ता को ग्रहण करने वाला है। द्रव्यार्थिकनय केवल द्रव्य को देखता है उस दृष्टि में पूर्वोक्त व्यंजनपर्यायों से ये समस्त जीव जिसमें मुक्त और संसारी जीवों का भेद नहीं करना है, सबको लेना है,वे सब इस दृष्टि में सर्वथा भिन्न ही है। अपेक्षा लगाकर बलपूर्वक ही बोलना चाहिए।

स्याद्वाद का चिह्न अपेक्षा और ही—जैसे किसी बालक के प्रति पूछा जाय, उसका पिता भी पास बैठ जाए और उसी से पूछ दें कि यह कौन है ? वह बतायेगा कि यह मेरा लड़का है। उस समय ऐसा ज्ञान करना चाहिये कि इसका लड़का ही है और ऐसा बोध करें कि इसका लड़का भी है। तो क्या वह और कुछ भी

है। अपेक्षा लगाकर भी बोलने में अनर्थ हो जाता है। स्याद्वाद का चिह्न भी नहीं है, स्याद्वाद का चिह्न अपेक्षा और 'ही' है। दोनों का एक साथ प्रयोग है।

द्रव्यार्थिकनय से जीव की शुद्धता—द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से समस्त जीव पर्यायों से सर्वथा भिन्न ही हैं। अपेक्षा लगाकर ही लगाने में संकोच नहीं होता है, क्योंकि शुद्धनय से समस्त जीव शुद्ध ही हैं। यहाँ शुद्ध से मतलब केवल ज्ञानादिक शुद्धपर्यायों से नहीं है, केवल ज्ञानादिक शुद्धपर्यायों का जानना अशुद्धनय से होता है और स्वभावपरिणमन हो या विभावपरिणमन हो, सबसे व्यतिरिक्त केवल द्रव्यस्वभाव को जानना ही शुद्धनय का विषय है। यहाँ शुद्ध और अशुद्ध का अर्थ तो केवल शुद्ध है और केवल को छोड़कर अन्य बातें देखना अशुद्ध है। आध्यात्मिक ग्रन्थों में शुद्ध शब्द की व्याख्या जब तक स्पष्ट न हो, तब तक स्वाध्याय करते जाइये, कुछ पकड़ में न आएगा। अब तो केवल यही जानना पड़ेगा कि सभी जीव द्रव्यार्थिकनय से शुद्ध हैं। अरे हाँ! शुद्ध हैं। ये संसारी भी शुद्ध हैं क्या ? अरे, संदेह भी करने लगा, परन्तु शुद्धनय का सबसे बड़ा प्रयोजन है खालिश एक ध्रुवस्वभाव को निरखना ही। उस निरखने में अन्य कुछ और बातें दृष्ट ही नहीं होती हैं।

द्रव्यार्थिकनय का विषय प्रियतम—भैया ! द्रव्यार्थिकनय से क्या निरखा जा रहा है ? परमशरण पारिणामिकभाव ध्रुवस्वभाव अति अभीष्टतम पीतम है, पीतम मायने प्रियतम, जो सबसे अधिक प्रिय हो। अब तो वास्तविक प्रियतम को लोग भूल गए और जिसे जो अधिक प्रिय है, उस को ही प्रियतम कहने लगे। चाहे वह लाठी ही बरसाता हो, मगर वह है हमारा प्रियतम। अरे ! तुम्हारा प्रियतम तो तुम्हारे आत्मा में बसा हुआ ध्रुवज्ञानस्वभाव है, वही प्रियतम है। जितने भी अच्छे शब्द है, उनका मर्म तो लोग भूल गए और उनका अर्थ कुछ का कुछ लगा बैठे। अब बोलते हैं साइयां। सइयां, साइयां–यह शब्द बिगड़ा है स्वामी शब्द से। अरे ! आपका स्वामी कौन है ? आपका स्वरूप स्वस्वामीसम्बन्ध भिन्न द्रव्य मैं नहीं है, आपके स्वामी आप हैं और एक शब्द बोला जाता हैं खसम। उस खसम का अर्थ है–ख मायने इन्द्रिय, सम मायने शांत हो जायें, अर्थात् जहाँ इन्द्रियाँ शांत हो जायें मायने इन्द्रियविजयी साधुजन, संतजन, ज्ञानी लोग जो हैं उनका नाम है खसम और उनको छोड़कर अपने मनमाने का नाम रखने लगे। वल्लभ, बालम, बल्लभ शब्द से बना, जो प्रिय हो। तो जितने भी प्यार के शब्द हैं वे सब आत्मस्वभाव के लिए घटित हैं पर वहाँ से दृष्टि उड़ गई तो जो कुछ समझ में आया उसी को ही ये शब्द बोले जाते हैं। सर्व जीव शुद्धनय से शुद्ध ही हैं। इस प्रकार द्रव्यार्थिकनय से जीव का वर्णन करके अब पर्यायार्थिक नय में यह जीव कैसा दृष्ट होता है इसका वर्णन चलेगा। यह गाथा इस अधिकार के उपसंहाररूप है। इसमें विभावपर्यायों का और स्वभावपर्यायों का कुछ आगे वर्णन होगा।

नयों की अपेक्षा से पर्यायों से आत्मा की संयुक्तता व विवित्तता—द्रव्यार्थिकनय से तो समस्त जीव शुद्ध हैं अर्थात् मात्रज्ञानस्वभावी है और पर्यायार्थिकनय से विभावव्यंजन पर्याय की अपेक्षा वे सब जीव संयुक्त हैं। इनमें सब जीवों में विभावव्यंजन पर्यायें अपर्यायें सिद्ध होती है, किन्तु ऐसा है नहीं। सिद्ध जीवों का तो अर्थपर्यायों के साथ परिणमन है, व्यंजन पर्यायों के साथ नहीं है। यहाँ व्यंजन पर्याय व्यक्त पर्याय को माना है। जिसमें अंजन लगे हुए की तरह पर का सम्बन्ध हो अथवा वि अंजन, विशेष अंजन हो, उसे व्यंजन

कहते हैं, इस दृष्टि से नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव व्यंजनपर्याय कहलाते हैं।

सिद्धों के व्यञ्जन पर्याय मानने या न मानने के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर—व्यञ्जन पर्यायों से सहित होना पर्यायार्थिक नय से है, ऐसा सिद्धान्त उपस्थित होने पर यह शंका होती है कि सब जीवों को दोनों पर्यायों से संयुक्त कैसे बताया गया है ? सिद्ध भगवान् तो सदा निरञ्जन हैं। न बाह्य अञ्जन है, न कर्म अञ्जन है, न विभाव अञ्जन है फिर यह बात कैसे घटित होती कि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक–इन दोनों नयों में सब जीव सदा संयुक्त हैं। प्रत्येक जीव में द्रव्यार्थिकनय की भी बात है और पर्यायार्थिक नय से भी ऐसी बात है और पर्याय को माना है व्यञ्जन पर्याय। उसके उत्तर में ऐसा जानना कि प्रथम तो व्यञ्जनपर्याय सिद्ध भी कहा जा सकताहै, शुद्ध शुद्धव्यञ्जनपर्याय। शरीरादिक सम्बन्ध से रहित आत्मप्रदेश के विस्तारात्मक शुद्धव्यञ्जन पर्याय है इसलिए पर्यायार्थिकनय से भी वह संयुक्त है और यहाँ व्यञ्जनपर्याय से मतलब चतुर्गति में शरीरों में लिया जाय तो सिद्ध भगवान् के नैगमनय की दृष्टि से व्यञ्जनपर्याय कह सकते हैं। नैगमनय का अर्थ है निर्विकल्पग्राही नय में जो विकल्प हो, संकल्प हो, आशय हो उसमें होने वाला जो परिज्ञान है वह नैगमनय है।

सिद्धों में व्यञ्जनपर्याय को सिद्ध करने वाली अपेक्षा—नैगमनय तीन प्रकार का होता है–भूतनैगम, वर्तमाननैगम और भावीनैगम नय तो भूत नैगमनय की अपेक्षा भगवान् सिद्ध में भी व्यञ्जनपर्याय और अशुद्धपना सम्भव होता है। यह जीव तो वर्तमान में अशुद्ध वही है किन्तु जो पहिले अशुद्धपर्याय थी तो भूतपर्याय की अपेक्षा व्यञ्जन पर्याय की बात कही जा सकती है, क्योंकि वह भगवान् पूर्वकाल में व्यवहारनय से संसारी था, बहुत क्या कहे, दोनों नयों को सब जीवों में बताया है और दोनों नयों के बल से सभी जीव शुभ और अशुभ हैं, विवक्षाएँ यथासम्भव लगाना चाहिए। यहाँ यह बतलाया जा रहा है कि भगवंत सर्वज्ञदेवविषयक बोध दोनों नयों के आधीन है। एक नय की बात नहीं है। जो प्रतिपक्षी नय की बात भुलाकर केवल एक नय से ही माना है उसको परिज्ञान निर्दोष नहीं होता है।

नयद्वय का गुंथन—भैया ! दोनों नय ऐसे एक साथ गुथे हैं कि उनको मना ही नहीं किया जा सकता है। जैसे आपसे पूछें कि यह क्या है ? तो आप बोलेंग कि यह घड़ी है। यह घड़ी है, इसका ही अर्थ यह है कि यह घड़ी के अलावा और कुछ नहीं है। दोनों बातें एक साथ गुंथी हुई हैं कि नहीं ज्ञान से या केवल यह ही एक बात है कि घड़ी है ? और घड़ी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ? यह बात भी है कि नहीं है ? यदि यह बात नहीं है तो इसका अर्थ है कि और कुछ भी हो गया है, चौकी आदिक हो गया है। और जब और कुछ हो गया तो यह घड़ी है ऐसा जो पहिला पक्ष है वह भी खण्डित हो गया। कुछ भी बात बोले, उसमें दोनों नय तो एक साथ लगे ही है। कुछ भी तो बोला जायेगा ना जो कहा जायेगा वह तो है और उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है–ये दोनों बातें एक साथ उसमें आयी है या नहीं ? उसी में आयीं। तो यही तो दोनों नयों की व्याप्तता हुई।

किसी भी वस्तुधर्म की साधना में सप्त भंगों की अनिवार्यता—भैया ! और भी देखो–कुछ भी एक बात हो वहाँ 7 बातें एक ही बात में हो ही जाती हैं। जैसे कहे कि यह घड़ी है, तो इसमें दूसरी बात क्या सामने आयी कि यह अघड़ी नहीं है अर्थात् घड़ी के अलावा अन्य चीज नहीं है। फिर पूछा गया कि अच्छा तुम

एक बात बताओ, हमें दो बातें न चाहियें। यह घड़ी है और अघड़ी नहीं है–इनमें तुम एक कोई बात यथार्थ बताओ। तो वह हो गया अवक्तव्य तो अब तीन बातें आ पड़ी कि नहीं। तुम एक प्रस्ताव रखो, कुछ भी अस्तित्व बताओ, जरा भी जीभ हिलाओ तो हिलाने के ही साथ तीन स्वतंत्र बातें आकर खड़ी हो ही जायेंगी। एक जो बात बतायी गयी उससे खिलाफ और एक जो बतायी गयी वह और एक अवक्तव्य। तब ये तीन भाग हो जाते हैं। तो जहाँ तीन स्वतंत्र बातें हैं उनके मिलान चार हुआ करते हैं। इसी तरह इन तीन धर्मों के मिलान भी चार हैं। यों तो तीन स्वरूप आर चार मूल हुए, ऐसे 7 धर्म हो जाते हैं।

सप्तभंग पर दृष्टान्त—तीन चीजें रख लो–आम, नमक, मेथी, इन तीनों चीजों को तुम अलग-अलग खा सकते हो, आम को केवल खाओ, नमक अलग खा लो, मेथी अलग खा लो। और दो-दो मिलाकर खाओ तो आम नमक खाओ, आममेथी खा लो और नमक मेथी खालो, तीनों बातों का मिलान करलो। तीनों का मिलान एक है तो इस तरह आप 7 स्वाद ले लेंगे। एक स्वतंत्र धर्म हो तो उसके धर्म 7 होते हैं और कदाचित् चार स्वतंत्र धर्म हों तो उसके स्वाद 15 हो गए।

भङ्ग निकालने की विधि—जितनी चीजें हों इतनी बात दो-दो रखो यदि तीन के भंग जानना है तो तीन जगह दो-दो रख दो और उनका आपस में गुणा करके एक घटा दो। दो-दूनी चार, चार दूनी आठ और एक कम कर दो तो रह गए 7। और 5 चीजें हों तो पाँच बार दो-दो रख दो–दो दूनी चार, चार दूनी 8, 8 दूनी 16 और 16 दूनी 32, ठीक है, 32 में 1 घटा दो, 31 का स्वाद आ जायेगा। तीन जब स्वतंत्र धर्म होने ही पड़ते हैं तो बात करने में जीभ हिलाने में कोई रोक नहीं सकता है तो उसके विस्तार में 7 भंग बन जाने अनिवार्य हैं। स्याद्वाद और सप्तभंगी अनिवार्य हैं, इन्हें कोई रोक नहीं सकता।

वचन में सप्रतिपक्षता का गठन—हम कौन है ? आदमी है। इसका अर्थ यही हुआ ना कि हम सिंह, हाथी, घोड़ा, बैल आदि कुछ नहीं है, सिर्फ आदमी है। दो बातें अपने आप आयीं कि नहीं आयी ? हम पुरुष है, इस का ही अर्थ हुआ कि पुरुष के अलावा पशु-पक्षी आदि कुछ नहीं है। इन दोनों को मानोगे या नहीं ? अच्छा, एक बात कुछ न मानकर बताओ। हम आदमी है, यह बात मानने लायक है कि नहीं है या झूठ कह रहे हैं ? मान लायक है और हम हाथी, शेर, घोड़ा, बैल कुछ नहीं है। यह मानने लायक बात है कि नहीं ? इन तीनों में से यदि एक कुछ नहीं माना गया, क्या नहीं माना गया ? यह आदमी है–ऐसा नहीं माना गया, तो आदमी ही नहीं रहा। आदमी के अलावा अन्य कुछ नहीं है–ऐसा नहीं माना गया। यदि यह सिंह, हाथी आदि बन जाएगा तो अभी यहीं आफत मच जाएगी। वचन में सप्रतिपक्षता की ऐसी गठित व्यवस्था है कि यदि उनमें स्याद्वाद का गठन नहीं है तो सब छितरा है, कुछ न रहेगा।

स्याद्वाद या निर्विकल्पता—भैया ! या तो अन्तर्बहि पूर्ण चुप बैठो और बोलो तो स्याद्वाद मानों या निर्विकल्प बन जाओ। कोई जरूरत नहीं है स्याद्वाद की पकड़ करने की। करो ज्ञानानुभव, पर दूसरों के लिए समझाने चले या अपने को भी समझाने चले व स्याद्वाद न माना तो काम न चलेगा। दोनों नयों का विरोध मिटा देने वाला यह स्याद्वादचिह्नित जिनेन्द्रवचन है। जीव नित्य है या अनित्य है ? सदा रहता है या क्षण-क्षण में मिटता जाता है ? द्रव्यार्थिक दृष्टि में सदा रहता है, यह विदित है और पर्यायार्थिक में क्षण-क्षण में होता है–ये दोनों बातें कितने विरोध की कही जा रही है, पर कोई विरोध नहीं है। नित्य की बात अनित्य

की बात माने बिना नहीं बनती और अनित्य की बात नित्य की बात माने बिना नहीं बनती–ऐसा वस्तुस्वभाव है।

दृष्टान्तपूर्वक नयद्वय की अनिवार्य सहयोगिता—जैसे कोई पुरुष ऐसा ढूंढो कि जिसके पीठ हाथ हों, और पेट न हो। क्या है कोई ऐसा ? कोई मिले तो लाओ। कोई ऐसा नटखटी लड़का हो तो उसे पकड़कर लाओ। कोई न मिलेगा। अगर पेट नहीं है तो पीठ नहीं है और अगर पीठ नहीं है तो पेट नहीं है। तो जैसे पीठ और पेट दोनों का ऐसा अनिवार्य सम्बन्ध है कि हटाया नहीं जा सकता, इसी तरह पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक दोनों नयों का ऐसा अनिवार्य सम्बन्ध है कि वस्तु में दोनों ही बातें गुण्ठित हैं। दोनों नयों की बातें पायी जाती है। दोनों नयों का विरोध मिटा देने वाला स्याद्वादचिह्नित जिनवचनों में जो पुरुष निर्मोह होकर रमण करता है, वह शीघ्र इस समयसार को प्राप्त करता है। कोई नई बात नहीं है, जिसे प्राप्त की जा रही हो, किन्तु वही पुरानी बात है, जो अनादि से है। उसकी प्राप्ति की बात कहते हैं, जो कुनयपक्ष से अखण्डित है अथवा नयपक्ष से भी अखण्डित है–ऐसे कारणसमयसार को वह पुरुष देख ही लेता है।

दिये के तले व ऊपर भी अन्धेरा—भैया ! जगत में अन्य समस्त वैभवों का मिलना सुगम है, किन्तु एक निज का यथार्थ परिज्ञान होना बहुत दुर्लभ बात है। खुद ज्ञानमय हैं और खुद को अपनी ज्ञानमयता का पता न पड़े, यह कितने अन्धेर की बात है ? इसे कहो दिया तले अन्धेरा। आजकल तो दिया के ऊपर अन्धेरा रहता है। यह जो बल्ब जल रहा है, यह तो वही दिया है, जिसके ऊपर अन्धेरा रहता है। आजकल के दिये उल्टे हो गए, अब उनके ऊपर अन्धेरा है और जो पहिले दिये जलते थे, उनके नीचे अन्धेरा था। अब ऐसा जमाना मिश्रण का हो गया कि ऊपर भी अन्धेरा और नीचे भी अन्धेरा। तो यों समझ लो कि ज्ञान के मार्ग में मोही जीवों के लिए ऊपर भी अन्धेरा व नीचे भी अन्धेरा है। सो ऐसा मोह हो रहा है कि यह स्वयं तो ज्ञानज्योतिर्मय है और स्वयं को ही यह जान नहीं पाता है।

आत्महित के प्रयोजन की धुनि—ज्ञान के मार्ग में दोनों नयों के आधीन उपदेश को ग्रहण करना चाहिए। अपने प्रयोजन की धुन रखो और सब नयों की बातों में हाँ कहो। जब आप अपने जीवन में धुनि तो अपनी ही रखते हो, मगर सुन सबकी लेते हो–हलो ! हलो ! ठीक है, यह भी ठीक है और धुनि अपनी रखते हो तो यहाँ भी अपनी धुनि रखो स्वभावदृष्टि की। जो कोई हित के लिए उपदेश करता हो, हाँ बिल्कुल ठीक है। वह भी स्वरूप है, हाँ यह भी स्वरूप है, पर धुनि रखो कारणसमयसार के आलम्बन की। जैसे बहुत गप्पों में लगकर भी अपने प्रयोजन की बात आप नहीं भूला करते हैं, इसी तरह सर्वप्रकार के कांडों में लगकर भी ज्ञानी प्रयोजन की बात नहीं भूलते हैं ज्ञान में। जो दो नयों के सम्बन्ध में नीति का उल्लंघन नहीं करता और इस प्रकार की परिणति से परमतत्त्व का परिज्ञान करके फिर नयपक्ष से अतीत होकर परमभाव में मग्न होता है–ऐसा ही सत्पुरुष उस समयसार को शीघ्र प्राप्त कर लेता है।

जैनसिद्धान्त में समग्रवस्तुदर्शन—जितने भी जो कुछ दर्शन हैं, वे सब जैन आगम में लिखित हैं। बौद्ध वेदांती, नैयायिक, मीमांसक सबका दर्शन जैन आगम में अन्तर्निहित है, परखने वाला चाहिए। जहाँ स्याद्वाद की विवक्षा छोड़ दी गई है, वहाँ यह एकांतरूप से प्रकट होकर दुनिया में निराला प्रसिद्ध हो गया

है, किन्तु कोई दर्शन निराला अलग नहीं है, सब वस्तुस्वरूप से सम्बन्ध रखता है। एक हिंसाकांडों की बात छोड़कर अर्थात् जो वस्तु की ही बात है, वे सब बातें जैनआगम में पायी जाती है। द्रव्यार्थिकनय ही तो वेदांत सांख्य आदि सिद्धान्तों को बताता है और पर्यायार्थिकनय ही तो बौद्ध व अन्य क्षणिकवाद सिद्धान्त को बताता है। निराली चीज हैं कहाँ अलग ? पर दोनों नयों के आधीन उपदेश को ग्रहण करें तो उन सबको निचोड़ पा सकते हैं और फिर सबको छोड़कर निर्विकल्प समाधि जग सकती है।

स्याद्वाद बिना व्यवहार की असंभवता—स्याद्वाद के बिना तो व्यवहार में, घर गृहस्थ में भी काम नहीं चलता है। नातेदारी, रिश्तेदारी–ये सब स्याद्वाद के ही तो आधीन है। नातेदारी तो आधीन नहीं है, पर रिश्तेदारी आधीन है। रिश्तेदारी और नातेदारी में अन्तर है। रिश्तेदारी तो वह कहलाती है कि यह मेरा कुछ है और नातेदारी का अर्थ है–न मायने नहीं, ते मायने तुम्हारा, तुम्हारा नहीं है–ऐसी बात को नातेदारी कहते हैं। अब जगत् की रीति तो देखो–मुख से तो कहते जाते हैं कि ये मेरे नातेदार हैं अर्थात् ये हमारे कुछ नहीं है और उन्हें ही अपना मानते जाते हैं। यह पिता है, पुत्र है, भतीजा है, एक ही पुरुष सब कुछ बन जाता है तो अपेक्षा ही तो जुदा-जुदा है।

स्याद्वाद का एक दृष्टान्त—चार अंधे बोले कि चलो हाथी की खोज करें कि कैसा होता है ? टटोलते-टटोलते एक हाथी मिला तथा एक के हाथ में सूंड पड़ गयी तो वह कहता है कि हाथी तो मूसल जैसा होता है। एक के हाथ में पेट लग गया तो वह कहता है कि हाथी तो ढोल जैसा होता है। एक के हाथ में कान पड़ गया तो वह कहता है कि हाथी तो सूप जैसा होता हैं। एक के हाथ में पैर आ गए तो कहता है कि हाथी तो खम्भा जैसा होता है। यह चार अन्धों की बात कह रहे हैं। अब वे चारों आपस में लड़ने लगे। एक कहता है कि हाथी सूप जैसा होता है, दूसरा कहता है कि तू झूठ बोलता है, वह तो ढोल जैसा होता है। इस तरह से चारों परस्पर में झगड़ने लगे। कुछ समय बाद एक घुड़सवार निकला। पूछा कि क्या मामला है। चारों ने अपनी-अपनी बात रखी। सभी कहें कि अजी ! ये तीनों झूठ बोलते हैं, हाथी तो ऐसा होता है। उसने समझाया कि भाई ! लड़ो नहीं। इसने कान पकड़ा तो सूप जैसा लगा, इसने पेट पकड़ा तो ढोल जैसा लगा, इसने पैर पकड़ा तो खम्भा जैसा लगा और इसने सूंड पकड़ी तो मूसल जैसी लगी। मूसल जानते हो किसे कहते हैं ? मूसल में कोई भी कला नहीं है, उठे और गिरे, इतना ही करना जानता है। अब उसने चारों अन्धों को ढंग से समझाया। तो उन चारों का यह झगड़ा स्याद्वाद ने मिटा दिया।

भैया ! लोग एक दूसरे के आशय का तो आदर नहीं करते, उनकी दृष्टि नहीं परखते और मन के मुताबिक अर्थ लगाते हैं तो इसी से व्यक्तियों में परस्पर में झगड़ा होने लगता है। अन्य जगह, अन्य दर्शन, अन्य खोजों से क्या करना है ? एक स्याद्वादचिह्नित जैन आगम में वस्तुस्वरूप के सम्बन्ध में सभी दर्शन है, सो वस्तुस्वरूप के परिज्ञान का अभ्यास करो। उन दोनों नयों की विवक्षा अनुसार प्रयोग करो और वस्तुस्वरूप को सही पहिचानो। अच्छा, यह तो पहिले बताओ कि सिद्धभगवान् मुक्त हैं या नहीं। सिद्धभगवान् मुक्त होंगे ना। ये मुक्त हैं भी और नहीं भी। अरे ! मुक्त कर्मों से ही तो हैं कि ज्ञान से भी मुक्त हो गए क्या ? ज्ञान से मुक्त नहीं है। जब हम मुक्त जैसी बात को भी स्याद्वाद से सप्रतिपक्ष जान लेते हैं तो फिर अन्य बातों का विवाद क्या है ? सब जाना जा सकता है और कोई स्वयं बाह्य बातें बोले तो यों जान लो कि आशय

से तो ऐसा ही है। इसलिए वस्तुस्वरूप को दोनों नयों से भी परखिये और परखकर फिर जो एक वस्तुगत शाश्वत सहजस्वरूप दीखा, उसमें रत हो जाइये, यही उपदेश की सार ग्रहण करने की पद्धति है।

नियमसार प्रवचन प्रथम भाग समाप्त